जैन एवं बौद्ध योग

एक तुलनात्मक अध्ययन

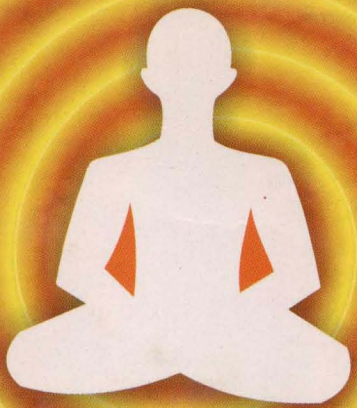

सम्पादक
डॉ० विजय कुमार

लेखिका
डॉ० सुधा जैन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला-128

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

जैन एवं बौद्ध योग
एक तुलनात्मक अध्ययन

लेखिका

डॉ० सुधा जैन

एम. एस-सी.(जीवन विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान), पी-एच. डी.
प्रवक्ता
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

सम्पादक

डॉ० विजय कुमार

एम. ए.(दर्शनशास्त्र), पी-एच.डी.
प्रवक्ता
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
2001

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक साधर्मिक भाई एवं डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा, वाराणसी के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित ।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला- 128

पुस्तक : **जैन एवं बौद्ध योग : एक तुलनात्मक अध्ययन**
लेखिका : डॉ० सुधा जैन
सम्पादक : डॉ० विजय कुमार
प्रकाशक : **पार्श्वनाथ विद्यापीठ,**
आई० टी० आई० रोड, करौंदी,
वाराणसी- २२१००५
दूरभाष : ०५४२ - ३१६५२१, ३१८०४६
फैक्स : ०५४२ - ३१८०४६
प्रथम संस्करण : २००१ ई०
मूल्य : ३००.०० रूपये मात्र
अक्षर सज्जा : राजेश कम्प्यूटर्स, जयप्रकाश नगर, शिवपुरवा,
वाराणसी । दूरभाष : (०५४२) २२०५९९
मुद्रक : वर्द्धमान मुद्रणालय, भेलूपुर, वाराणसी ।
© : **पार्श्वनाथ विद्यापीठ**
ISBN : ८१-८६७१५-५२-५

Pārśwanātha Vidyāpīṭha Series : 128

Book : **Jaina evam Bauddha Yoga: Ek Tulnatmak Adhayayan**
Author : Dr. Sudha Jain
Editor : Dr. Vijaya Kumar
Publisher : **Pārśwanātha Vidyāpīṭha**
I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi- 221005
Phone : 0542 - 316521, 318046
Fax : 0542 - 318046
First Edition : 2001
Price : 300.00 Rs. Only
Type Setting : Rajesh Computer's, Jai Prakash Nagar, Shivpurwa, Varanasi. Phone : 0542-220599
Printed at : Vardhamana Mudranalaya, Bhelupur, Varanasi.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्पण

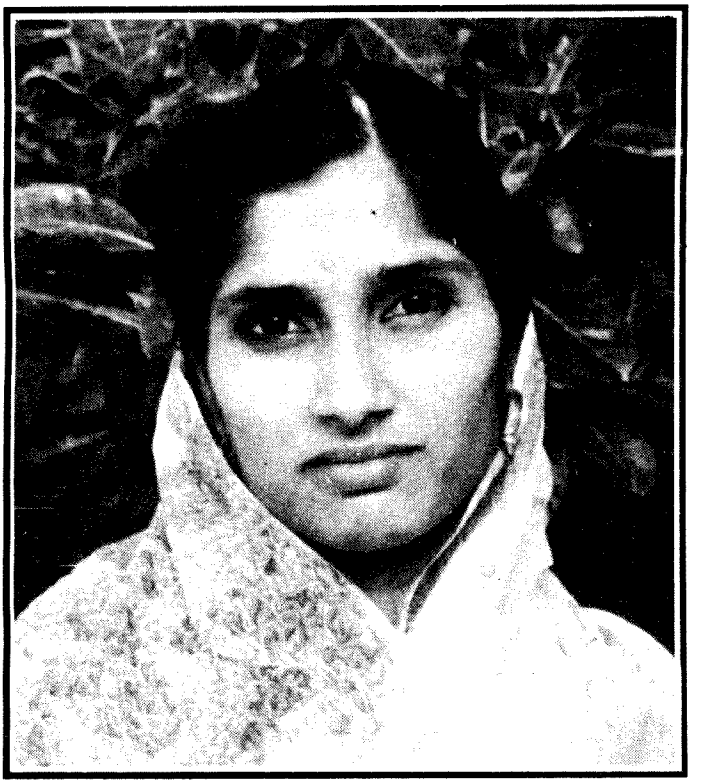

मातृ वात्सल्यस्वरूपा पूज्या सासू माँ

स्व० श्रीमती शान्ति सिन्हा की

स्मृति में सादर

सुधा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

भारतीय अध्यात्मवादी परम्परा में योग-साधना का अस्तित्व अति प्राचीनकाल से ही रहा है। यहाँ तक की अति प्राचीन नगर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में जो सीलें आदि उपलब्ध हुई हैं उनमें ध्यानमुद्रा में योगियों के अंकन पाये जाते हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक अध्ययन के जो भी प्राचीनतम स्रोत हमें उपलब्ध हैं, वे सभी भारत में योग-साधना की परम्परा के अति प्राचीनकाल से प्रचलित होने की पुष्टि करते हैं। उनसे यह भी सिद्ध होता है कि भारत में यज्ञ-मार्ग की अपेक्षा साधना-मार्ग की परम्परा प्राचीन है और उसे सदैव आदरपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है ।

औपनिषदिक ऋषिगण और श्रमण-साधक अपनी वैदिक जीवनचर्या में योग-साधना को स्थान देते रहे हैं- यह निर्विवाद तथ्य है। बुद्ध और महावीर को ज्ञान का जो प्रकाश उपलब्ध हुआ वह उनकी योग-ध्यान-साधना का परिणाम ही था, इसमें आज किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है। किन्तु हमारा यह दुर्भाग्य है कि प्राचीन साहित्य में भी ध्यान-साधना की इन पद्धतियों के विस्तृत विवरण आज उपलब्ध नहीं हैं, मात्र यत्र-तत्र विकृति निर्देश ही हमें मिलते हैं। फिर भी जो सूचनायें उपलब्ध होती हैं उनके आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि औपनिषदिक ऋषिगण और श्रमण-साधक अपने आध्यात्मिक विकास के लिए योग-साधना की विभिन्न पद्धतियों का अनुसरण करते थे। उनकी साधना पद्धतियों के कुछ अवशेष आज भी हमें मिल जाते हैं। प्रेक्षाध्यान और विपश्यना जैन एवं बौद्ध परम्पराओं की उन्हीं पद्धतियों के आधुनिक रूप हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखिका ने न केवल जैन एवं बौद्ध योग-साधना की परम्परा का विवरण दिया है, बल्कि एक दृष्टि से सम्पूर्ण जैन एवं बौद्ध साधना-पद्धति का तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया है । योग जैसे गंभीर विषय के सुन्दर प्रस्तुतिकरण हेतु लेखिका को मेरा साधुवाद । इसका कुशल सम्पादन संस्थान के प्रवक्ता डॉ० विजय कुमार ने किया है, अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं।

सुन्दर अक्षर-सज्जा के लिए राजेश कम्प्यूटर्स और सत्वर मुद्रण हेतु वर्द्धमान मुद्रणालय को धन्यवाद देता हूँ ।

दिनांक : ५.७.२००१

प्रो० सागरमल जैन
सचिव
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वतः

भारतीय साधना–पद्धति की मुख्य दो धाराएँ हैं– श्रमण और ब्राह्मण । श्रमण परम्परा में जैन एवं बौद्ध परम्परायें आती हैं। ब्राह्मण परम्परा में– वेद, ईश्वरादि में विश्वास करनेवाले आते हैं। ब्राह्मण परम्परा के विचार भी अध्यात्म की अभिमुखता लिए हुए है, फिर भी पद्धतियों की अपनी स्वतन्त्रता तो होती ही है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में चारित्र को प्रधानता दी गयी है। बिना चारित्र के केवल दर्शन का उतना महत्त्व नहीं होता है, जितना कि होना चाहिए। आचरण सम्यक् होता है तो दर्शन भी सम्यक् होता है और दर्शन सम्यक् होता है तो आचरण को भी सम्यक् होने की प्रेरणा मिलती है। जैन दर्शन ने जिस विचार और साधना-पद्धति का निरूपण किया, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की त्रिपुटी है।यही कारण है कि जैन साधना-पद्धति 'मोक्षमार्ग' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसी प्रकार बौद्ध साधना-पद्धति को विशुद्ध-मार्ग के रूप में निरूपित किया गया। किन्तु कोई भी साधना-पद्धति, चाहे वह किसी भी नाम से पहचानी गई हो, उसका मूल ध्येय चित्त की विशुद्धि, कषाय पर विजय और आत्मा के परम स्वरूप को प्राप्त करना है।

अष्टाङ्गयोग का जो व्यवस्थित रूप बना उसमें महर्षि पतञ्जलि की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ब्राह्मणिक योग का विकास महर्षि पतञ्जलि से आरम्भ होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि महर्षि पतञ्जलि योग के प्रवर्तक हैं, बल्कि उन्होंने योगमार्ग को व्यवस्थित कर अपने ग्रन्थ में उसकी विस्तृत व्याख्या की है। योग का पक्ष महर्षि पतञ्जलि से पूर्व भी था,तभी तो उन्होंने प्रथम सूत्र में 'अथ योगानुशासनम्' से उसकी व्यवस्था की चर्चा की है और यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को विभाजित कर साधना का विकास-क्रम बताया है। यम से धारणा तक का सारा उपक्रम ध्यान की उपलब्धि के लिए है। धारणा की सघनता ध्यान और ध्यान की सघनता ही समाधि बनती है। ध्यान अथवा समाधि की साधना सभी परम्पराओं में समान रूप से प्रतिष्ठित है।

वस्तुत: देखा जाये तो जिस चीज की उपयोगिता बढ़ जाती है उसकी संख्या में भी वृद्धि हो जाती है। लक्ष्य एक होने पर भी मार्ग अलग–अलग बन जाते हैं और उनके अलग-अलग निर्माता-संस्कर्ता हो जाते हैं। इसी प्रकार प्राचीनकाल से अब तक ध्यान भी बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। जिस दिन से मनुष्य ने ध्यान करना सीखा, उसे कुछ मिला। उसे महसूस हुआ कि ध्यान भी उपयोगी है, मूल्यवान् है। जब मूल्य होता है तो उसके साथ उसकी अर्थवत्ता भी बढ़ जाती है। जब कभी भी ध्यान प्रचलन में आया होगा तो उसकी एक ही शाखा रही होगी। किन्तु समय परिवर्तन के साथ-साथ उसकी अनेक शाखाएँ बनती जा रही हैं। फलत: आज सैकड़ों साधना-पद्धतियाँ चल रही हैं। सही अर्थों में देखा जाये तो सभी साधना-पद्धतियाँ चाहे वह वैदिक साधना-पद्धत्ति हो या जैन साधना-पद्धत्ति या फिर बौद्ध साधना-पद्धत्ति हो, सभी इसी साध्य को पोषित करती हैं कि साधक अपनी संसाराभिमुख चित्त-वृत्तियों को रोककर अपनी साधना को साध्य-सिद्धि के योग्य बनाये ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारी भारतीय परम्परा में अनेक ज्ञानी–ध्यानी हुए जिन्होंने अपनी शक्ति और अनुभूति के द्वारा विश्व को बहुत कुछ दिया। जैसे– महर्षि पतंजलि, वेदव्यास, गोरखनाथ, हरिभद्र, नागार्जुन, सरहप्पा, कण्हप्पा, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र, योगीन्दु, आनन्दघन आदि के नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिये जाते हैं। इन महापुरुषों के द्वारा रचित साहित्य भारतीय वाङ्मय की अमूल्य निधि है, जिसमें इन आचार्यों की अनुभूतियाँ समाहित हैं। जिस प्रकार साहित्य अपने आप में असाम्प्रदायिक होता है उसी तरह योग भी असाम्प्रदायिक है। आज भी योग साम्प्रदायिक संकीर्णता से अछूता है। यद्यपि हम उसे वैदिक योग, जैन योग, बौद्ध योग आदि नामों से सम्बोधित कर साम्प्रदायिकता की डोरी में बाँध देते हैं, किन्तु योग असाम्प्रदायिक है। साम्प्रदायिक इस संदर्भ में दृष्टिगोचर होता है कि सबकी अपनी-अपनी साधना-पद्धत्ति है जिसके विधिक्रम में विविधता हो सकती है, किन्तु साम्प्रदायिकता नहीं। विधिक्रम की विविधता ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार नगर के विभिन्न मार्ग नगर मुख्यालय की ओर जाते हैं। इसी प्रकार योग-विधियाँ अलग-अलग है, किन्तु सबका लक्ष्य एक ही है– मोक्ष।

योग एक ओर जहाँ पारलौकिक सुखों की उपलब्धि कराता है वहीं वह मानव को लौकिक उपलब्धियाँ प्रदान करने में भी सहायक का कार्य करता है। चित्त की वृत्तियों को संतुलित करना ही इसका प्रधान कार्य है। आज का मानव जीवन असंतुलित–सा हो गया है। इस भौतिकवादी युग में मानव की मानसिक अशान्तियाँ बढ़ती जा रही हैं। इसका प्रमुख कारण है– जीवन में एकाग्रता, स्थिरता एवं तन्मयता का अभाव, जिसके फलस्वरूप वह अपने लक्ष्य से विमुख हो जाता है। ऐसी स्थिति में मन, वचन और कर्म में एकरूपता, एकाग्रता, तन्मयता और स्थिरता लाना अत्यावश्यक है, जो एक मात्र योग–साधना के द्वारा ही सम्भव है। यही कारण है कि योग आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि प्राचीनकाल में था। इसीलिए योग का अध्ययन आज भी समीचीन है। योग-साधना में शारीरिक विकृतियों और मानसिक तनावों को समाप्त करने की जो शक्ति छिपी हुई है, जिससे भोगवादी और मानसिक तनावों से संत्रस्त लोग चैतसिक शान्ति का अनुभव करते हैं, उसी शक्ति के कारण आज लोगों में योग–साधना के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है।

जैन एवं बौद्ध योग पर अनेक पुस्तकों का प्रणयन हुआ है। पण्डित सुखलाल जी की 'समदर्शी हरिभद्र', विलियम जेम्स की 'जैन योग', आचार्य महाप्रज्ञ की 'जैन योग', 'चेतना का उर्ध्वारोहण', 'आभामण्डल', पद्मनाभ जैनी की 'जैन पॉथ ऑफ प्यूरिफिकेशन', अर्हत्दास बंडोवा दिगे की 'जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन' आदि कृत्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। बौद्ध धर्म-दर्शन में डॉ० भरत सिंह उपाध्याय की 'ध्यान-सम्प्र५ाय', डॉ० डोडमगोड रेवत थेरो की 'थेरवाद बौद्ध धर्म में योग और साधना', विज्ञानभिक्षु की 'प्रज्ञा के प्रकाश में सम्यक्-दृष्टि', भिक्षु सुगमतानन्द की 'विपश्यना-पद्धति' आदि महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कृति भी योग साहित्य परम्परा में एक कड़ी है, जो जैन एवं बौद्ध योग-साधना के तुलनात्मक स्वरूप को स्पष्ट कर सकेगी–ऐसा मेरा विश्वास है। जैन एवं बौद्ध योग पर अब तक स्वतंत्र रूप से शोध कार्य हुए हैं तथा पुस्तकों का प्रणयन भी हुआ है, किन्तु दोनों परम्पराओं का अब तक तुलनात्मक अध्ययन नहीं हुआ था, इसी तथ्य को ध्यान में रख कर मैंने जैन एवं बौद्ध योग के तुलनात्मक अध्ययन का असफल प्रयास किया है। अपनी अल्पज्ञ बुद्धि से योग सम्बन्धी गम्भीर विषय को प्रस्तुत करने का प्रयास तभी सार्थक होगा जब यह पुस्तक सुधी पाठकों व जिज्ञासुओं की पिपासा को शान्त कर सकेगी।

प्रस्तुत पुस्तक आठ अध्यायों में विभक्त है—

प्रथम अध्याय के रूप में प्राचीन 'भारतीय योग परम्परा–एक अवलोकन' को लिया गया है। द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत 'योग की अवधारणा : जैन एवं बौद्ध' धर्म-दर्शन के विशेष परिप्रेक्ष्य में विषय पर प्रकाश डाला गया है । तृतीय अध्याय में 'जैन एवं बौद्ध योग के प्रमुख साहित्य' की चर्चा की गयी है। चतुर्थ अध्याय 'जैन एंवं बौद्ध योग का तत्त्वमीमांसीय आधार' के रूप में विश्लेषित किया गया है। पंचम अध्याय में 'योग–साधना के आचार पक्ष' को निरूपित किया गया है। षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत 'जैन एवं बौद्ध ध्यान -पद्धति' को समाहित किया गया है। सप्तम अध्याय के प्रतिपाद्य विषय के रूप में 'आध्यात्मिक विकास की भूमियाँ' ली गयी है। अष्टम अध्याय में 'बन्धन और मोक्ष' को विषय बनाया गया है। अन्त में उपसंहार प्रस्तुत किया गया है ।

अपने इस कार्य की सम्पूर्णता के लिए सर्वप्रथम मैं तेरापंथ धर्मसंघ के गणाधिपति श्री तुलसी जी, आचार्यश्री महाप्रज्ञजी, युवाचार्य महाश्रमण जी एवं महाश्रमणी साध्वी प्रमुखा कनकप्रभाजी के श्रीचरणों में अपनी भावभीनी वन्दना अर्ज करती हूँ, जिनके आशीर्वचनों से मैं अपने कार्य के प्रति सदा प्रेरित होती रही हूँ। तपागच्छाचार्य पूज्य आचार्यश्री राजयशसूरीश्वर जी म०सा० व पूज्या बेन म०सा० के श्रीचरणों में वन्दना अर्ज करती हूँ जिनकी विशेष कृपा मुझे प्राप्त है। अपने बाबोसा महाराज मुनिश्री हंसराजजी, काकोसा महाराज मुनिश्री गुलाबचन्द जी निर्मोही, मुनिश्री मधुकरजी, मुनिश्री महेन्द्र कुमार जी, मुनिश्री किशनलाल जी, साध्वीश्री कल्पलता जी आदि समस्त साधु–साध्वी वृंद, समणी कुसुमप्रज्ञा जी एवं शुभप्रज्ञा जी के प्रति मैं कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ जिनलोगों से किसी न किसी रूप में अपने लेखन कार्य में मुझे सहायता मिलती रही है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में जिन विद्वानों व महानुभावों का सहयोग रहा है, उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ । इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम जैनविद्या के मनीषी श्रद्धेय प्रो० सागरमल जी जैन (पूर्व निदेशक एवं वर्तमान सचिव, पार्श्वनाथ विद्यापीठ) जिनके निर्देशन में मैं विगत पाँच वर्षों से कार्य कर रही हूँ, की सदा ऋणी रहूँगी, जिन्होंने प्रस्तुत कृति को देखा और इसके प्रकाशन की स्वीकृति दी । प्रो० भागचन्द्र जैन (पूर्व निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ) के प्रति भी अपना आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने सदा मुझे अध्ययन एवं लेखन कार्य के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, डॉ० रज्जन कुमार जिनके कुशल निर्देशन में यह कार्य पूर्ण हुआ और जिन्होंने सदा हमें पठन-पाठन के लिए प्रोत्साहित किया है, की मैं आभारी हूँ ।

आदरणीय श्री श्रीचन्द रामपुरिया (कुलाधिपति, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं), प्रो० रामजी सिंह (पूर्व कुलपति, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं), श्री मोहन सिंह भंडारी (पूर्व कुलपति, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं), प्रो० वाचस्पति उपाध्याय (कुलपति, लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली) प्रो० रेवतीरमण पाण्डेय (पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, का०हि० वि०वि०), प्रो० मृत्युंजय नारायण सिन्हा (अध्यक्ष, दर्शन विभाग, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर), प्रो० कमलाकर मिश्र (दर्शन विभाग, का०हि०वि०वि०),डॉ० जगतराम भट्टाचार्य (कुलसचिव,जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं),डॉ० जे०पी०एन०मिश्र (जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं) की अभारी हूँ जिन लोगों की प्रेरणा ने मुझे पुस्तक पूर्ण करने का मार्ग प्रशस्त किया है। इन गुरुजनों का आशीष मुझे हमेशा प्राप्त है।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में मेरे वरिष्ठ सहयोगी आदरणीय डॉ० अशोक कुमार सिंह, डॉ० शिवप्रसाद जी, डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय एवं कनिष्ठ सहयोगी श्री ओमप्रकाश सिंह व श्री राकेश सिंह के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ जिनलोगों से हमेशा अकादमीय सहयोग मिलता रहता है। विशेषकर अपने पति डॉ० विजय कुमार, जो पार्श्वनाथ विद्यापीठ में मेरे अकादमीय सहयोगी भी हैं को कैसे विस्मृत कर सकती हूँ । प्रत्येक स्तर पर उनके सहयोग के कारण ही प्रस्तुत पुस्तक अपनी मूर्तता को प्राप्त कर सकी है। उनके सम्मानीय सहयोग की अनुपम अनुभूति सर्वदा मेरे साथ रहती है।

पूज्य माता-पिता श्रीमती किरण देवी एवं श्री धनराजजी खटेड़, काकोसा श्री बाबूलाल जी खटेड़ एवं काकीसा श्रीमती पुखराज खटेड़, मामोसा श्री विजयसिंह सेठिया एवं मामीसा श्रीमती सरला सेठिया, आदरणीय भैया श्री पदमचन्द जैन, श्री राजेन्द्र खटेड़, भाभी श्रीमती मीठू जैन, श्रीमती बबीता खटेड़ तथा दीदी श्रीमती सरोज फूलफगर एवं छोटी बहन श्रीमती सरिता भंसाली की मैं सर्वदा ऋणी हूँ जिनके लाड़-प्यार एवं स्नेह ने मुझे इस योग्य बनाया । अपने परिवार के पूज्य माँ-बाबूजी स्व० श्रीमती शान्ति सिन्हा एवं डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा, छोटी माँ एवं छोटे बाबूजी श्रीमती सरोज सिंह एवं श्री रविन्द्रनाथ सिंह व आदरणीय ज्येष्ठ डॉ० संजय कुमार, डॉ० अजय कुमार व देवर श्री धनंजय कुमार की मैं ऋणी हूँ जिनलोगों के प्यार और आशीर्वाद के साथ-साथ पठन-पाठन में उचित मार्ग दर्शन प्राप्त होते रहे हैं ।

अन्त में मैं उन सभी विद्वत्जनों एवं महानुभावों का हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ जिनका प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ है। साथ ही पुस्तक में यदि कोई त्रुटि रह गयी हो तो उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ, जो नि:सन्देह मेरी है।

दिनांक : ५.७.२००१ ***सुधा जैन***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रमणिका

१.	भारतीय योग-परम्परा : एक अवलोकन	१-१८
२.	योग की अवधारणा : जैन एवं बौद्ध	१९-८७
३.	जैन एवं बौद्ध योग-साहित्य	८८-१०५
४.	जैन एवं बौद्ध योग का तत्त्वमीमांसीय आधार	१०६-१४२
५.	योग-साधना का आचार पक्ष	१४३-१८१
६.	ध्यान	१८२-२३८
७.	आध्यात्मिक विकास की भूमियाँ	२३९-२७८
८.	बन्धन एवं मोक्ष	२७९-३१४
९.	उपसंहार	३१५-३१९
१०.	सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची	३२०-३२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम अध्याय

भारतीय योग-परम्परा : एक अवलोकन

योग-विद्या भारतवर्ष की अमूल्य निधि है, जो सुदूर अतीत काल से अविच्छिन्न रूप में गुरु-परम्परापूर्वक चली आ रही है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद-विवाद को कहीं स्थान नहीं मिला है। यही वह एक कला है जिसकी साधना से अनेक लोग अजर-अमर होकर देह रहते ही सिद्ध-पदवी को पा गये हैं। युग-युगों से चला आ रहा यह योग वस्तुत: भारतीय ऋषि-मुनियों तथा यति-योगियों के अध्यवसाय एवं साधनालब्ध अन्तर्जगत का महत्त्वपूर्ण अन्तर्विज्ञान है। इसी योग-समाधि के द्वारा वैदिक काल में कितने ही ब्रह्मोपासक मन्त्र-द्रष्टा ऋषि बन गये, जिनका साक्ष्य वेद की ऋचाएँ हैं।

ऋग्वेद जो भारतवर्ष का ही नहीं, अपितु विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है, में सर्वप्रथम योग का संकेत मिलता है, विद्वानों की ऐसी मान्यता है। परन्तु योग का प्रारम्भ वेद से ही हुआ इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि योग सिन्धुकालीन सभ्यता की देन है। इस सम्बन्ध में सर जॉन मार्शल ने लिखा है कि मोहनजोदड़ो में जिस नरदेवता की मूर्त्ति मिली है, वह त्रिमुखी है। वह देवता एक कम उँचे पीठासन पर योगमुद्रा में बैठा है। उसके दोनों पैर इस प्रकार मुड़े हुए हैं कि एड़ी से एड़ी मिल रही है, अंगूठे नीचे की ओर मुड़े हुए हैं एवं हाथ घुटने के ऊपर आगे की ओर फैले हुए हैं।[१] इतना ही नहीं मोहनजोदड़ो में प्राप्त एक मुद्रा पर अंकित चित्र में त्रिरत्न, मुकुट विन्यास, नग्नता, कायोत्सर्गमुद्रा, नासाग्रदृष्टि, योगचर्या, बैल आदि के चिह्न हैं, जिससे यह प्रमाणित होता है कि मूर्ति योगी के अतिरिक्त और किसी की नहीं हो सकती है।[२] अत: यह बताना कि योग-साधना-काल मोहनजोदड़ो की खुदाई के बाद प्रारम्भ होता है उचित नहीं जान पड़ता है। मोहनजोदड़ो की सभ्यता का काल अनुमानत: ई० पू०3250-2750 माना जाता है, जो योग-साधना का काल ही है।[३] अत: सिन्धु सभ्यता, वैदिक सभ्यता की समकालिक योग-मूलक सभ्यता है। यह सभ्यता मिश्रित संस्कृति से युक्त थी, जो परम्परागत रूप से आज भी भारतीय संस्कृति की एक प्रबल विशेषता है। हाँ! स्थान एवं संस्कृति में भिन्नता अवश्य रही होगी जिसके आधार पर ही विद्वानों ने उसे आर्य और अनार्य के रूप में विभाजित किया है, जिसकी पुष्टि महर्षि अरविन्द के कथनों से होती है। महर्षि अरविन्द ने कहा है आर्यों-अनार्यों के बीच का भेद जिस पर इतना सब कुछ निर्भर है, अनेक प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि कोई जातीय भेद नहीं, अपितु सांस्कृतिक भेद था।[४] स्वामी शंकरानन्द ने भी कहा है कि मोहनजोदड़ो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं हड़प्पा की सभ्यता वैदिक सभ्यता से नितान्त भिन्न नहीं थी, अपितु ये सभ्यतायें वैदिक सभ्यता की ही अंग थीं,[५] जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि योग का प्रारम्भ वैदिक काल में ही हुआ था।

परन्तु 'योग' एक व्यावहारिक एवं ध्यानपरक सिद्धान्त है जिसे किसी काल की सीमा में बाँधना उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि योग का ज्ञान मनुष्य की अन्तरात्मा से सम्बन्धित होता है। अत: यह कहना उचित होगा कि योग-विद्या का प्रचलन सृष्टि के आरम्भ काल से ही हो गया था। जैसा कि *महाभारत* में कहा गया है कि *हिरण्यगर्भ* ही योग का वक्ता है, उससे पुरातन अन्य कोई नहीं है।[६] यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित जान पड़ता है कि वेदों में 'योग' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। *ऋग्वेद* में योग शब्द का अर्थ केवल जोड़ना है।[७] ई० पू० ७००- ८०० तक के निर्मित वैदिक साहित्य में इसका अर्थ इन्द्रियों को प्रवृत्त करना तथा उसके बाद के लगभग ई० पू० ५००-६०० में लिखित साहित्य में इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना भी निर्देशित किया गया है।[८] जिससे यह ज्ञात होता है कि योग का सर्वप्रथम उल्लेख वेद में ही हुआ है। वेद के बाद जैसे-जैसे साहित्य का विकास होता गया है वैसे-वैसे योग-साधना का उपनिषद्, दर्शन, पुराण, स्मृति आदि ग्रन्थों में पुष्पक रूप में वर्णन मिलता है।

वेदों में योग

वेदों में मंत्रों के द्वारा योग के रहस्यात्मक तथ्य को प्रस्तुत किया गया है। मंत्रों द्वारा देवताओं की स्तुति करते हुए विभिन्न तथ्यों का रहस्योद्घाटन किया गया है, यथा- ज्ञानी पुरुष का भी कोई यज्ञ-कर्म बिना योग के सफल नहीं होता, अत: इन्द्राग्नि आदि देव में उन्हें अपनी बुद्धि व कर्मों को अनन्य रूप से एकाग्र करना चाहिए।[९] इसी प्रकार योग के प्रधान लक्षण को प्रतिपादित करते हुए *यजुर्वेद* के ११ वें अध्याय के प्रथम पाँच मंत्रों में अत्यन्त ही स्पष्ट एवं सरल शब्दों में कहा गया है - "सबको उत्पन्न करनेवाले पहले हमारे मन और बुद्धि की वृत्तियों को तत्त्व की प्राप्ति के लिए अपने दिव्य स्वरूप में लगायें और अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओं को, जो विषयों को प्रकाशित करने में संलग्न हैं, दृष्टि में रखते हुए बाह्य विषयों से लौटाकर हमारी इन्द्रियों में स्थिरतापूर्वक स्थापित कर दें, जिससे हमारी इन्द्रियों का प्रकाश बाहर न जाकर बुद्धि और मन की स्थिरता में सहायक हो।[१०] प्रार्थना के ही क्रम में *ऋग्वेद* में कहा गया है कि हम साधक लोग हर योग में, मुसीबत में परम ऐश्वर्यवान इन्द्र का आह्वान करें। *दीर्घतमा* ऋषि के इस कथन से भी योग की सार्थकता एवं महनीयता लक्षित होती है-"मैंने प्राण का साक्षात्कार किया है, वह भिन्न-भिन्न नाड़ियों के द्वारा अन्दर बाहर जाता है तथा वह अध्यात्म रूप में वायु तथा आदिदेव रूप में सूर्य है।[११] इनके अतिरिक्त अभयज्योति[१२] तथा परमव्योमन्[१३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की प्राप्ति के सन्दर्भ में भी प्रकारान्तर से योग का ही वर्णन हुआ है। *यजुर्वेद* में कहा गया है सबको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर, मन और इन्द्रियों के अधिष्ठाता, देवताओं को जो स्वर्ग आदि लोकों में, आकाश में विचरन करानेवाले तथा भारी प्रकाश फैलानेवाले हैं, हमारे मन और बुद्धि से संयुक्त होकर हमें प्रकाश प्रदान करने के लिए प्रेरित करें, ताकि हम उन परमेश्वर का साक्षात् करने के लिए ध्यान करने में समर्थ हों।[१४] इसी में आगे कहा गया है- हे मनुष्यों! अविद्या रूपी निद्रा से उठकर चैतन्यतापूर्वक ईश्वर की स्तुति करनेवाले एवं बुद्धिमान लोग सर्वत्र व्यापक मोक्षदायी जिस परमपद को सम्यक् रूप से प्रकाशित करते हैं, उसी को तुम भी प्रकाशित करो।[१५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में मंत्रो के द्वारा प्राकृतिक वस्तुओं तथा विभिन्न आधारों के माध्यम से स्तुति कर योग के स्वरूप को वर्णित किया गया है। योग का परम उद्देश्य आत्मा का परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित करना है, जिसका स्पष्ट वर्णन *ऋग्वेद* में मिलता है। कहा गया है- हे अग्निदेव! यदि मैं तू अर्थात् सर्वसमृद्धि सम्पन्न हो जाऊँ या तू मैं हो जाऊँ तो मेरे लिए तेरे सभी आशीर्वाद सत्य हो जायें।[१६]

उपनिषदों में योग

वेदों का जब विस्तार हुआ और उनके आधार पर विभिन्न वैचारिक शाखाएँ बनीं तब उन शाखाओं से सम्बन्धित अलग-अलग उपनिषदों का प्रतिपादन हुआ। यह सच भी है कि वेदों में अंकुरित योग के बीज का विकास एवं पल्लवन उपनिषद् काल में पर्याप्त हुआ है। उपनिषदों में योग शब्द का प्रयोग दर्शन विशेष तथा क्रियात्मक योग दोनों अर्थों में हुआ है, जिसे *कठ, मुण्डक, छान्दोग्योपनिषद्* आदि में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। *श्वेताश्वतरोपनिषद्* के द्वितीय अध्याय में क्रियात्मक योग का स्पष्ट एवं विस्तार से वर्णन मिलता है। इसमें षडंग योग का वर्णन करते हुए कहा गया है कि शरीर को गिरुन्नत अर्थात् छाती, गर्दन और सिर उन्नत व सम करके मनसहित इन्द्रियों को हृदय में समावेश करके ब्रह्मरूप नौका से विद्वान् लोग सभी भयानक प्रवाहों को तर जायें। इस शरीर में प्राणों को अच्छी तरह निरोध करके युक्तचेष्टा हों और प्राण के क्षीण होने पर नासिकाद्वार से श्वास छोड़ें और इन दुष्ट घोड़ो की लगाम रूपी मन को विद्वान् अप्रमत्त होकर धारण करें[१७] तथा ध्यान रूप मंथन से अत्यन्त गूढ़ आत्मा का दर्शन करें।[१८] इस प्रकार उपनिषदों में प्रयुक्त 'योग' शब्द आध्यात्मिक अर्थ को प्रकाशित करने के साथ-साथ ध्यान, तप, समाधि आदि के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[१९]

योग से साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। आत्मज्ञान का फल बताते हुए *कठोपनिषद्* में कहा गया है कि कठिनता से दिख पड़नेवाले गूढ़ स्थानों में अनुप्रविष्ट,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धि में स्थित, गहन स्थान में रहनेवाले पुरातनदेव को अध्यात्म-योग की प्राप्ति द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष-शोक को त्याग देता है।[२०] फलतः साधक, जो नित्यों में नित्य है, चेतनों में चेतन है और अकेला ही बहुतों को भोग प्रदान करनेवाला है, सांख्य-योग द्वारा ज्ञातव्य उस सर्वकारण देव को जानकर समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[२१] जो उस ज्ञानातीत प्रकाशस्वरूप महान् पुरुष को जानता है, वह इस संसार-सागर रूपी बन्धन (मृत्यु) को पार कर जाता है। इसके सिवा परमपद प्राप्ति का कोई और मार्ग नहीं है।[२२] योगसिद्धि का प्रभाव बताते हुए *श्वेताश्वतरोपनिषद्* में कहा गया है कि जिस प्रकार मृत्तिका से मलिन हुआ बिम्ब (सोने या चाँदी का टुकड़ा) शोधन किये जाने पर तेजोमय होकर चमकने लगता है, उसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर अद्वितीय, कृतकृत्य और शोकरहित हो जाता है।[२३] परन्तु जब वह आत्मभाव से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है उस समय उस अजन्मा, निश्चल और समस्त तत्त्वों से विशुद्ध देव को जानकर वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[२४] फलतः साधक वाणी और मन से निवृत्त हो जाता है तथा निर्भीक होकर ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है[२५] तथा जन्म-मरण के बन्धन से वह सर्वथा मुक्त हो जाता है।[२६]

विभिन्न उपनिषदों में ब्रह्मपद-प्राप्ति के लिए श्रद्धा, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, दान, दया आदि की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है।[२७] लेकिन इस पद की प्राप्ति के लिए ज्ञान एवं योग अर्थात् आचार और विचार दोनों की आवश्यकता होती है।

उपनिषदों में योग के प्रकारों में भेद पाया जाता है। किसी में योग के दो प्रकार (कर्मयोग और ज्ञानयोग)[२८] तो किसी में चार प्रकार (मंत्रयोग, राजयोग, लययोग, हठयोग)[२९] बताये गये हैं। इनके अतिरिक्त उपनिषदों में प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, तर्क और समाधि आदि के वर्णन तो मिलते हैं[३०], लेकिन आसन आदि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं होता है।

कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर, वृहदारण्यक तथा *छान्दोग्योपनिषद्* आदि के अतिरिक्त भी ऐसे बहुत से उपनिषद् हैं, जिनमें योग की पर्याप्त चर्चा की गयी है, जिसे *"योगोपनिषद् संग्रह"* के नाम से जाना जाता है। इन उपनिषदों की संख्या २० (बीस) है। इनके अतिरिक्त *योगराजोपनिषद्* को भी योग का आर्ष ग्रन्थ माना गया है।[३१] इन उपनिषदों के नाम इस प्रकार हैं[३२]-

अद्वयतारकोपनिषद्, अमृतानादोपनिषद्, अमृतबिन्दूपनिषद्, क्षुरिकोपनिषद्, तेजोबिन्दूपनिषद्, त्रिशिख ब्रह्मणोपनिषद्, दर्शनोपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, नादबिन्दूपनिषद्, ब्रह्मविद्योपनिषद्, मण्डलब्रह्मणोपनिषद्, महावाक्योपनिषद्, योगकुण्डल्युपनिषद्,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगचूड़ामण्युपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, वराहोपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद्, हंसोपनिषद्, योगराजोपनिषद् ।

उपर्युक्त उपनिषदों के अतिरिक्त अड्यार लाईब्रेरी से १७ उपनिषदों का एक अन्य संग्रह प्रकाशित हुआ है, जो योग से सम्बन्धित है। १७ उपनिषदें इस प्रकार हैं-

१. अवधूतोपनिषद्, २. आरण्योपनिषद्, ३. कठरुद्रोपनिषद्, ४. कुण्डिकोपनिषद् ५. जाबालोपनिषद्, ६. तुरीयातीतावधूतोपनिषद्, ७. नारदपरिव्राजकोपनिषद्, ८. निर्वाणोपनिषद् ९. परिव्रह्मोपनिषद्, १०. परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्, ११. परमहंसोपनिषद् , १२. ब्रह्मोपनिषद् १३. भिक्षुकोपनिषद्, १४. मैत्रेय्युपनिषद्, १५. याज्ञवल्क्योपनिषद्, १६. शाट्यायनीयोपनिषद्, १७. संन्यासोपनिषद्

इस प्रकार योग-साधना की प्रत्येक विधाओं का उपनिषदों में विशद् वर्णन किया गया है जिसके फलस्वरूप ही आज नवीन-नवीन योग धाराओं का प्रस्फुटन हो रहा है। परन्तु यह भी सत्य है कि उपनिषदों में वर्णित योग आध्यात्मिक अर्थ को ही विशेषत: प्रस्तुत करता है।

महाभारत में योग

महाभारत भारतीय संस्कृति का एक अनुपम ग्रन्थ है, जो अट्ठारह भागों में विभक्त है। इसके अनुशासन-पर्व, शान्तिपर्व तथा भीष्मपर्व में महर्षि *वेदव्यास* ने यौगिक प्रक्रियाओं का विस्तार से वर्णन किया है। जीवन की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को मोड़कर अन्तर्मुखी कर देना ही यौगिक प्रक्रिया है। सर्वप्रथम महर्षि *वेदव्यास* ने साधक के मन को सुदृढ़ करने, इन्द्रियों की ओर से मन को समेटने तथा मन:पूर्वक योगाभ्यास करने का आदेश दिया है,[३३] क्योंकि मन अतिचंचल होता है, इसलिए अतिचंचल इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है। जब साधक अपने मन को स्थिर एवं वश में कर ले तब उसे हृदय के रागादि दोषों को नष्ट करके योग में सहायता पहुँचानेवाले देश, कर्म, अनुराग, अर्थ, उपाय, अपाय, निश्चय, चक्षुष, आहार, संहार, मन और दर्शन इन बारह योगांगों के आश्रय से ध्यान-योग का अभ्यास करना चाहिए।[३४] एकान्त, निर्जन या गुफा आदि स्थान जो ध्यान के लिए उपयोगी हो, में आसन लगाने को देशयोग कहा जाता है। आहार-विहार, चेष्टा, सोना-जागना आदि नियमानुकूल क्रिया कर्मयोग कहलाता है। परमात्मा एवं उसकी प्राप्ति के साधनों में तीव्र अनुराग रखना अनुरागयोग और केवल आवश्यक सामग्री को ही रखना अर्थयोग कहलाता है। ध्यानोपयोगी आसनों में बैठना उपाययोग है। संसार के विषयों और सगे-सम्बन्धियों से आसक्ति तथा ममता हटा लेने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को अपाययोग कहते हैं। गुरु और वेदशास्त्र के वचनों पर विश्वास रखने का नाम निश्चययोग है। चक्षु को नासिका के अग्र भाग पर स्थिर करना चक्षुयोग है। शुद्ध और सात्विक भोजन का नाम आहारयोग है। विषयों की ओर होनेवाले मन तथा इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोकना संहारयोग कहलाता है। जन्म, मृत्यु, जरा, रोग आदि होने पर महान् दु:ख और दोषों का वैराग्यपूर्वक दर्शन करना दर्शनयोग है। जिसे योग के द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी हो उसे इन बारह योगों का आलम्बन करना चाहिए। परन्तु पूर्णयोग के लिए साधक के मन में समता एवं शान्ति का होना आवश्यक है, अत: उसे अहिंसादि का भी पालन करना चाहिए।

योगाभ्यास के प्रथम चरण में साधक के समक्ष मोह-भ्रम और आवर्त आदि अनेकों विघ्न आते रहते हैं। फिर सुगन्ध आती है और दिव्य शब्दों के श्रवण एवं दिव्य रूपों का साक्षात्कार भी होता है। नाना प्रकार के अद्भुत रस और स्पर्श का अनुभव होने लगता है। इच्छानुकूल सर्दी-गर्मी भी प्राप्त होने लगती है। वायु-स्वरूप होकर आकाश मण्डल में चलने-फिरने की क्षमता भी आ जाती है तथा दिव्य भोग अपने आप उपस्थित होने लगते हैं। अत: साधक को चाहिए कि वह योग बल से प्राप्त इन सिद्धियों की ओर से, जो यौगिक विघ्न है, अपना ध्यान मोड़कर परमात्मा की ओर लगाये।[३५] इसी प्रकार का वर्णन *श्वेताश्वतरोपनिषद्* में भी देखने को मिलता है।[३६] अत: साधक को चाहिए कि वह विषय भोगों से इन्द्रिय, मन और बुद्धि को मोड़कर सर्वव्यापी परमात्मा के साथ एकता स्थापित करने का प्रयास करे। इस तरह साधक सभी दोषों को ध्यान के द्वारा नष्ट कर परमात्मा के स्वरूप में स्थित होने के योग्य बनता है, जहाँ से वह वापस नहीं लौटता।[३७] परमात्म-प्राप्ति की बात को *वेदव्यास* ने निम्न रूप में प्रस्तुत किया है - जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, वही योगी निश्चल मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा जिसकी उपलब्धि होती है उस अजन्मा, पुरातन, अजर-अमर, सनातन, नित्ययुक्त, अणु से भी अणु और महान से भी महान परमात्मा का आत्मा से अनुभव करता है।[३८]

इस तरह *महाभारत* में यौगिक प्रक्रियाओं का विभिन्न रूपों में वर्णन मिलता है।

गीता में योग

गीता, जो *महाभारत* का ही अंग है, में योग का सांगोपांग वर्णन किया गया है। इसमें 'योग' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कभी वह ज्ञान के साथ जुड़कर ज्ञानयोग के नाम से जाना गया है तो कभी कर्म के साथ जुड़कर कर्मयोग और कभी भक्ति के साथ जुड़कर भक्तियोग के नाम से। *शंकराचार्य* ने अपने भाष्य में लिखा है कि गीता ज्ञानयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रतिपादन करती है।[३९] तिलक के अनुसार *गीता* कर्मयोग का प्रतिपादन करती है, क्योंकि यह प्रमाणित है कि *गीता* में योग शब्द प्रवृत्तिमार्ग अर्थात् कर्मयोग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[४०] अत: *गीता* को कर्मयोगशास्त्र कहना कोई अनुचित नहीं है। इसी प्रकार *रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य* और श्री *बल्लभाचार्य* के अनुसार *गीता* का मुख्य विषय भक्तियोग है।[४१] इन सबको एक जगह संयोजित करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् ने कहा है कि *गीता* में प्रतिपादित ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग तीनों एक-दूसरे के पूरक हैं।[४२] परन्तु सही माने में देखा जाये तो *गीता* में योग शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है- प्रथम *"योग: कर्मसु कौशलम्"* अर्थात् विशेष प्रकार के कर्म करने की कुशलता, युक्ति अथवा चतुराई योग है।[४३] दूसरा *"समत्वं योग उच्यते"* अर्थात् समत्व ही योग है। इन दोनों में एक व्यावहारिक योग है तो दूसरा आध्यात्मिक। एक साधन योग है तो दूसरा साध्य योग। हमारे भौतिक जीवन में जहाँ चेतना और भौतिक जगत् अर्थात् व्यक्ति और वातावरण के मध्य समायोजन की आवश्यकता होती है वहाँ योग शब्द *"योग: कर्मसु कौशलम्"* के अर्थ में प्रयुक्त होता है, क्योंकि योग कर्म का एक साधन है जो उसकी कुशलता में निहित है। और, जब चेतना में चल रहे शुभ-अशुभ रूपी मानसिक द्वन्द्व को पूर्ण मानसिक समत्व की आवश्यकता होती है, तब वहाँ योग शब्द- *'समत्वं योग उच्यते'* के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अत: ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोग तीनों साधन-योग के अन्तर्गत आते हैं तथा समत्वयोग साध्य-योग के अन्तर्गत। समत्व का अर्थ ही होता है- समभाव से देखना। *शंकराचार्य* ने समत्व का अर्थ आत्मवतदृष्टि किया है।[४४] *गीता* के छठे अध्याय में कहा गया है कि जो व्यक्ति समभाव में स्थित होकर राग-द्वेषादि से शून्य होकर पूरे विश्व में अपनी आत्मा के समान ही सबके सुख-दु:ख की भावना करता है, किसी के भी प्रति प्रतिकूल आचरण नहीं करता है, वही सर्वश्रेष्ठ सिद्धयोगी है।[४५] द्वितीय अध्याय में अर्जुन को समझाते हुए *श्री कृष्ण* कहते हैं कि हे अर्जुन! जो सुख-दु:ख में समभाव रखता है उस धीर व्यक्ति को इन्द्रियाँ, सुख-दु:ख आदि विषय व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष या अमृततत्त्व का अधिकारी होता है।[४६] अत: जो अपनी इन्द्रियों के समूह को भली-भाँति संयमित करके सर्वत्र समत्वबुद्धि से सभी प्राणियों के कल्याण में निरत रहता है, वह परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।[४७] ज्ञान, भक्ति और कर्म सभी समत्व को ही प्राप्त करने के लिए हैं। समत्व के अभाव में ज्ञान चाहे कितना भी विशाल एवं प्रामाणिक क्यों न हो यथार्थ ज्ञान नहीं होता, क्योंकि समत्व-दर्शन यथार्थ ज्ञान का अनिवार्य अंग है। *गीता* में समदर्शी को ही सच्चा ज्ञानी माना गया है।[४८] ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य समत्व-दर्शन ही है।[४९] इसी प्रकार जो समदर्शी होता है, वह परम भक्ति को भी प्राप्त करता है। *गीता* में *श्रीकृष्ण* ने कहा है कि जो समत्वभाव में स्थित होता है, वह मेरी परमभक्ति को प्राप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है[५०] और समत्वभाव होने पर ही व्यक्ति का कर्म अकर्म बनता है। समत्वभाव से किया गया कोई भी कर्म बन्धनकारी नहीं होता है।[५१]

इस प्रकार समत्वभाव के कारण ही ज्ञान यथार्थ ज्ञान बन जाता है, भक्ति परमभक्ति बन जाती है और कर्म अकर्म बन जाता है तथा व्यक्ति परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

ऐसे तो *गीता* के अट्ठारहों अध्याय में किसी न किसी योग का वर्णन किया गया है, क्योंकि उसके प्रत्येक अध्याय के अन्त में *ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे---योगो नाम-----अध्यायः* आदि शब्दों का वर्णन आया है। संक्षिप्त रूप में यह कहा जा सकता है कि *गीता* में योग का वास्तविक और स्वरूपभूत लक्षण वर्णित है, जिसमें प्रत्येक स्थिति में आत्मसंयम, कामनात्याग, प्राणिमात्र से प्रेम, अहंकारशून्यता, निर्भयता, शीतोष्णता, सुख-दुःख एवं निन्दास्तुति में समताभाव आदि गुणों की अपेक्षा की गयी है।

स्मृति ग्रन्थों में योग

हमारी भारतीय परम्परा में स्मृतियों के आधार पर भी व्यवहार आदि कार्यों का निर्णय होता है। *मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, वशिष्ठ, गौतम, पराशर, आपस्तम्ब, दक्ष, हरीत, शाण्डिल्य, भारद्वाज तथा विश्वामित्र* आदि महान् वेदवेत्ता, धर्मपरायण, अध्यात्मतत्त्व में पारंगत और योगज्ञान सम्पन्न ऋषियों के द्वारा श्रुतियों के आधार पर यह निर्मित है। *स्मृतियों* में प्रमुखतः सम्पूर्ण मानव-जाति के प्रातःकाल के उत्थान से लेकर शयन, स्वप्न और पुनः जागरण तक तथा प्राणी के गर्भ में प्रवेश या गर्भाधानकाल से अन्त्येष्टि पर्यन्त और परलोक से लेकर पुनर्जन्म तक के विधान दिये गये हैं। परन्तु दक्षस्मृति, *बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, मनुस्मृति, पराशरस्मृति* आदि में योग विषयक सामग्रियाँ उपलब्ध होती हैं। महर्षि *दक्ष* ने योग का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा है कि योग से मनुष्य सम्पूर्ण लोक को वश में कर सकता है और बिना योग शक्ति के वह किसी को भी पूर्ण वश में नहीं कर सकता है। बिना योग के व्यवहार-ज्ञान भी नहीं होता। योग ही एकमात्र ऐसा साधन है जिससे मनुष्य स्वयं को भी वश में कर सकता है। इन्द्रियों को निवृत्त करने की क्षमता भी योग में ही है, अन्यथा प्रमादी स्वभाववाली इन्द्रियाँ किसी भी उपाय से वश में नहीं हो सकती हैं।[५२] *याज्ञवल्क्यस्मृति* में महर्षि ने योगी द्वारा यज्ञ, दान, स्वाध्याय, सदाचार, अहिंसा आदि सभी धर्मों का आचरण किये जाने पर बल दिया है। परन्तु ग्रन्थ के आरम्भ में ही महर्षि ने योग-साधना के द्वारा परिपूर्ण रूप से परमात्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साक्षात्कार को ही मुख्य लक्ष्य कहा है। तात्पर्य है कि आचार, दान, अहिंसा आदि धर्मों का समादर करते हुए योग के आश्रयण से परमात्मतत्त्व का दर्शन करना चाहिए, यही परम धर्म है।[५३] साथ ही महर्षि *याज्ञवल्क्य* ने योग-साधना के शारीरिक अर्थात् व्यावहारिक प्रकार का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार किसी एकान्त एवं पवित्र स्थान में कुश, मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्र बिछाकर बद्ध पद्मासन लगाकर बैठना चाहिए। ठुड्डी को कण्ठकूप में स्थिरकर, जिह्वा को उलटकर तालु में स्थित कर ओठों को इस प्रकार बन्द करना चाहिए कि दाँतों का परस्पर एक-दूसरे से स्पर्श न हो सके। इसी प्रकार निश्चल बैठकर पैंतालीस बार चुटकी लगाने तक साधक को पूरक, कुम्भक एवं रेचक प्राणायामों का अभ्यास करना चाहिए। सम्पूर्ण इन्द्रियों को उनके विषयों से सर्वथा मुक्त कर अपने चित्त को शुद्ध आत्मा में स्थित कर हृदय में दीपशिखा के तुल्य स्थित भगवान् का निश्चल रूप से ध्यान करना चाहिए।[५४] *मनुस्मृति* के छठे अध्याय में वानप्रस्थ एवं संन्यास धर्मप्रकरण में योग की मुख्य रूप से चर्चा की गयी है। कहा गया है कि सूक्ष्म दृष्टि प्राप्तकर योग द्वारा आत्मा को ही देखने का प्रयत्न करना चाहिए,[५५] साथ ही साधक को प्राणायामों के द्वारा शारीरिक दोषों को नष्टकर, धारणा के द्वारा पूर्व-जन्मार्जित तथा वर्तमान तक के सारे पापों को दूर कर, प्रत्याहार के द्वारा संयोग या संसर्ग प्राप्त होने पर भी उनसे दूर रहकर नवीन दोष या किल्विष उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। इस प्रकार अधिक देर तक धारणा ध्यान सम्पन्न हो जाने पर योगी को (अन्तःकरण के सर्वथा शुद्ध हो जाने पर जो जीव के शेष बचे दुर्गुण होते हैं, वे सब नष्ट होकर) ऐश्वर्य अर्थात् ईश्वर के सभी गुण प्राप्त हो जाते हैं।[५६]

इस प्रकार स्मृतियों में भी परिवार, वर्ण, आश्रम, व्यापार, व्यवहार, राज्य संचालन आदि के साथ-साथ योग का भी वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

पुराणों में योग

विभिन्न *पुराणों- शिव, वायु, ब्रह्माण्ड, स्कन्द* आदि में यौगिक क्रियाओं का उल्लेख मिलता है, जिन्हें कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इनमें *भागवत् पुराण* का स्थान सर्वोच्च है। *भागवतपुराण* के तीन भागों (स्कन्धों) में यौगिक क्रियाओं की चर्चा देखने को मिलती है। इसके द्वितीय भाग के प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में, तृतीय भाग के पच्चीसवें तथा अट्ठाईसवें अध्याय में तथा ग्यारहवें भाग के तेरहवें एवं चौदहवें अध्याय में ध्यान-योग की विस्तृत विवेचना हुई है। *विष्णुपुराण* में यम-नियम का निरूपण करते हुए कहा गया है कि योगी को अपने मन को समर्थ बनाते हुए निष्काम भाव से ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का सेवन करना चाहिए[५७] तथा मन का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निग्रह करने के साथ-साथ स्वाध्याय, शौच, सन्तोष तथा तप करके परब्रह्म में मन को आसक्त कर देना चाहिए।[५८] इस तरह नियमों के साथ-साथ यम भी पाँच की संख्या में निरूपित किये गये हैं। सकाम भाव से इनका पालन करने पर ये विशेष फल देते हैं, किन्तु निष्काम भाव से पालन करने पर विमुक्ति प्रदान करते हैं।[५९] *विष्णुपुराण* में जहाँ यम-नियम के पाँच-पाँच भेद बताये गये हैं वहीं *भागवतपुराण* में दोनों के बारह-बारह भेदों के निरूपण किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं-

यम के बारह भेद[६०]

१- अहिंसा	२- सत्य	३- अस्तेय	४- असंग
५- ह्री	६- असंचय	७- आस्तिक्य	८- ब्रह्मचर्य
९- मौन	१०- स्थैर्य	११- क्षमा	१२- अभय

नियम के बारह भेद[६१]

१- बाह्य शौच	२- आभ्यन्तर शौच	३- जप	४- तप
५- होम	६- श्रद्धा	७- आतिथ्य	८- भगवद् दर्शन
९- तीर्थाटन	१०- परार्थ चेष्टा	११- संतोष	१२- आचार्य सेवन।

भागवतपुराण के तीसरे स्कन्ध में ही आसन का निरूपण करते हुए कहा गया है कि घर से निकले हुए पुरुष को पुण्य तीर्थ के जल में स्नान कर शुद्ध एकान्त स्थल में बिछाए हुए आसन पर आसीन हो योग का अभ्यास करना चाहिए।[६२] इसी प्रकार कुम्भक, पूरक एवं रेचक के द्वारा प्राणमार्ग को शुद्ध करना चाहिए। *विष्णुपुराण* एवं *शिवपुराण* में प्राणायाम के दो भेदों का वर्णन आया है- सगर्भ और अगर्भ।[६३] जप और ध्यान के बिना किया जानेवाला प्राणायाम अगर्भ तथा जप और ध्यान से संयुक्त किया जानेवाला प्राणायाम सगर्भ प्राणायाम कहलाता है। अगर्भ प्राणायाम से सगर्भ प्राणायाम सौ गुना अधिक प्रभावशाली होता है, ऐसा *शिवपुराण* में कहा गया है। अत: योगी को सगर्भ विधि से प्राण का संयमन करना चाहिए।[६४]

इसी प्रकार ध्यान के विषय में कहा गया है कि हृदय में रहनेवाले भगवान् *विष्णु* के उस ध्यानस्वरूप हास्य का, जिस हास्य के नीचे होठों की लालिमा के भीतर कुन्दकली-सी दन्तपंक्ति अरुण आभा प्रदान कर रही है, अर्पितमन होकर सरस भक्ति से ध्यान करना चाहिए।[६५] कहा भी गया है कि योग का उद्देश्य केवल कायाकल्प या शरीर को सुदृढ़ बनाना ही नहीं है, बल्कि उसका मुख्य उद्देश्य है भगवान् में चित्त को लगाना।[६६] भगवान् में चित्त को लगाना ही भक्तियोग है। *भागवतपुराण* में वर्णन भी आया है कि

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

भगवान् में की गयी भक्ति के समान शिव, कल्याणकारी पन्थ योगियों के लिए दूसरा कोई नहीं है।[६७] इन सबके अतिरिक्त विभिन्न कथाओं के माध्यम से भी यौगिक क्रियाओं का विवेचन किया गया है, यथा— समाधि द्वारा *कपिल* की माता का देहत्याग,[६८] *ध्रुव* का ध्यानस्थ होना आदि।[६९]

योगवासिष्ठ में योग

आध्यात्मिक ग्रन्थों में *योगवासिष्ठ* का उच्च स्थान है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत ऋषि *वसिष्ठ* द्वारा *राम* को दिये हुए आध्यात्मिक उपदेश का बहुत ही सरस एवं सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इन्हीं उपदेशों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में योग का भी निरूपण हुआ है। योग का शाब्दिक अर्थ बताते हुए कहा गया है कि संसार-सागर को पार होने की युक्ति ही योग है।[७०] योग के तीन प्रभेद हैं-

१. एक तत्त्व की दृढ़ भावना

२. मन की शान्ति और

३. प्राणों के स्पन्दन का निरोध।

एक तत्त्व की दृढ़ भावना द्वारा मन शान्त होता है और आत्मा में विलीन हो जाता है।[७१] इसका अभ्यास तीन प्रकार से किये जाने का विधान है।

ब्रह्म भावना— इसमें यह निश्चय हो जाता है कि संसार भर में केवल एक ही अनन्त आत्मतत्त्व है और सब पदार्थ उसी तत्त्व के नाना नामरूप हैं।

अभाव भावना— पदार्थों को अत्यन्त असत् समझकर उनके पारमार्थिक अभाव की दृढ़ भावना करना।

केवली भाव— वह अवस्था जिसमें योगी स्वयं द्रष्टा होने को भी असत् समझकर अपने उस आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है जिसमें द्वैत का कोई भान ही नहीं होता।

मन के शांत हो जाने पर परमशान्ति आ जाती है और संसार का अनुभव क्षीण हो जाता है। *योगवासिष्ठ* में अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, इन्द्रिय, देह, पदार्थ आदि को मन का ही रूप माना गया है।[७२] कहा गया है कि मन के शान्त हो जाने पर ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है और प्राणों का स्पन्दन रुक जाता है।[७३] मन ही संसार रूपी माया चक्र का केन्द्रबिन्दु है। मन को जीत लेने पर व्यक्ति सब कुछ जीत लेता है। मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को शान्त करने के विभिन्न उपाय हैं, यथा- ज्ञानयुक्ति[७४], संकल्पत्याग, भोगों से विरक्ति,[७५] वासना-त्याग[७६], अहंभाव का नाश,[७७] असंग का नाश[७८], कर्तृत्वभाव का त्याग, सर्वत्याग,[७९] समाधि का अभ्यास,[८०] लयक्रिया[८१] आदि।

योग का तीसरा प्रकार है- प्राण-निरोध। प्राण-निरोध से अभिप्राय है प्राणों के स्पन्दन का रुकना। जिस प्रकार पंखे का हिलना बन्द होते ही हवा का चलना बन्द हो जाता है, उसी प्रकार प्राणों की गति रुक जाने पर मन भी शान्त हो जाता है और मन के शान्त हो जाने पर संसार का लय हो जाता है।[८२] मन शान्त करने के विभिन्न उपाय हैं, यथा-परमार्थ ज्ञान, शास्त्र, सज्जनों का संग, सांसारिक प्रवृत्तियों से मन को हटाना, इच्छित वस्तु का ध्यान, एक तत्त्व का अभ्यास, प्राणायाम, ऊर्ध्वरन्ध्र में प्राण को ले जाना आदि।

उपर्युक्त तीनों प्रकारों में से किसी एक पर चलने से ही तीनों की सिद्धि हो जाती है। इन तीनों में मन को शान्त कर लेना अत्यन्त ही सरल है। जैसा कि निर्वाण-प्रकरण में कहा गया है- प्राणों के निरोध की अपेक्षा मन को शान्त करना अथवा तत्त्व का दृढ़ अभ्यास करना अधिक सरल है।[८३] अतः मन को जीत लेने से सब कुछ जीता जा सकता है। मन ही स्थूल होकर परिमित जीव का रूप धारण कर लेता है। फलतः वह दुःख का भागी बनता है। जिन कारणों से मन स्थूलता को प्राप्त कर दुःख भोगता है वह है- अविद्या। अविद्या को ही सभी दुःखों का कारण माना गया है तथा इसका विनाश सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से होता है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बाद मन स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ता है और ब्रह्मत्व की प्राप्ति करता है।

इस प्रकार *योगवासिष्ठ* के अनुसार ज्ञान या योग दोनों से ब्रह्म प्राप्ति अभीष्ट है। तात्पर्य यह है कि मानव योग द्वारा अपने स्वरूप की अनुभूति करता है तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कर परमात्मा में अवस्थित हो जाता है।

पातंजल-योग

वैदिक परम्परा में योग को यदि सम्यक् स्वरूप प्रदान करने का श्रेय किसी को जाता है तो वे हैं- महर्षि *पतंजलि*। महर्षि *पतंजलि* ने ही वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों में वर्णित यौगिक प्रक्रियाओं को परिमार्जित कर योग को नया स्वरूप प्रदान किया। योग से सम्बन्धित उनकी प्रमुख कृति है- *योगसूत्र*। ऐसे तो योगसूत्र पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं, किन्तु सबसे प्रामाणिक एवं प्रसिद्ध *व्यासभाष्य* माना जाता है। *योगसूत्र* चार पादों में विभक्त है। जिसके प्रथम पाद में योग के लक्षण, स्वरूप तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसकी प्राप्ति, द्वितीय पाद में दु:खों के कारणों का विवेचन, तृतीय पाद में धारणा, ध्यान, समाधि एवं सिद्धियों का तथा चतुर्थ पाद जो कैवल्यपाद के नाम से जाना जाता है, में चित्त के स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है।

परम तत्त्वबोध के लिए योग एक उत्तम साधन है। योग को परिभाषित करते हुए महर्षि *पतंजलि* ने कहा है- चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है।[८४] चित्त की वृत्तियाँ पाँच हैं- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इन पाँचों वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर ही द्रष्टा वृत्तिसारूप्य से विनिर्मुक्त होकर स्वरूप स्थिति का लाभ करता है। पातंजल योगदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है- अष्टाङ्ग योग। अष्टाङ्ग योग का निरूपण मन की शुद्धि करके क्रमश: आत्मस्वरूप में स्थित होने के लिए किया गया है। योग के आठ अंग निम्न हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि[८५]।

इस प्रकार तप, स्वाध्याय, ईश्वर- प्रणिधान आदि क्रियायोग तथा समाधियोग के अभ्यास से योग की सिद्धि होती है। अत: कल्याण चाहनेवाले पुरुषों को अपने इष्ट देव परमात्मा के स्वरूप में ही समाधि लगानी चाहिए। योग के उपर्युक्त आठो अंगों के भलीभाँति अनुष्ठान से मल और आवरणादि दोषों के क्षय होने पर विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञान की दीप्ति होती है।[८६] फलत: विवेकख्याति से अविद्या का नाश होता है और कैवल्यपद की प्राप्ति होती है।

अद्वैतवेदान्त में योग

अद्वैतवेदान्त में योग की प्रधानता है। जैसा कि *शंकराचार्य* ने कहा है *"ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या।"* अर्थात्, एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है और यह जगत मिथ्या है, असत्य है। इस मिथ्या जगत में माया के कारण ही जीव नाना योनियों में भटकता रहता है। अत: आत्मदर्शन में मग्न रहकर तथा योगारुढ़ होकर ही इस संसार-सागर को पार किया जा सकता है।[८७] माया रूपी अविद्या के कारण ही चित्त स्वयं को नहीं पहचान पाता है। इस माया रूपी अविद्या के आवरण को हटाने के लिए *विवेकचूड़ामणि* में साधन चतुष्टय का विधान किया गया है। वे चार साधन निम्न हैं[८८]- नित्यानित्य वस्तु वैराग्य, षट् सम्पत्तियाँ तथा मुमुक्षुत्व।

नित्यानित्य वस्तु विवेक - साधक को सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि क्या नित्य है और क्या अनित्य? जो हमेशा एक ही तरह से रहता है और सदा उपस्थित रहता है, उसे नित्य कहते हैं तथा नित्य के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनित्य है।

वैराग्य - साधक को लौकिक तथा पारलौकिक भोगों से विरक्त होना चाहिए। आत्म-प्रेम के लिए अन्य वस्तुओं के प्रेम को त्याग देना चाहिए।

षट् सम्पत्तियाँ - शम, दम, उपरिति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान इन षट् सम्पत्तियों का पालन करना चाहिए।

मुमुक्षुत्व - साधक को मोक्ष प्राप्ति के लिए अपने संकल्प को दृढ़ बनाना चाहिए ।

इस प्रकार बराबर साधनारत रहने से जीव के विभिन्न कर्मों के संस्कार नष्ट हो जाते हैं और उसकी निष्ठा ब्रह्म में बलवती हो जाती है। साथ ही ब्रह्म और जीव एक हो जाते हैं। जब जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं, तब जीव के समस्त अहंकारादि दोष नष्ट हो जाते हैं। माया के कारण जीव आत्मस्वभाव को भूला रहता है। ज्ञान की प्राप्ति होते ही उसे आत्मस्वभाव की प्राप्ति हो जाती है और ब्रह्म के साथ उसका तादात्म्य हो जाता है। यही मोक्ष है। *विवेकचूड़ामणि* में कहा भी गया है कि श्रद्धा, ध्यान और योग मुक्ति के कारण हैं और इनसे ही देहबन्धन को परित्राण मिलता है।[८९]

जैन एवं बौद्ध परम्परा में योग - इन दोनों परम्पराओं में मान्य योग-साधना का विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया जायेगा।

सन्दर्भ

१. Mohan-Jodaro and the Indus Civilization, p. 52-53.
२. Ibid-p.53
३. History of Ancient India, R.S. Tripathi, p.25.
४. The distinction between Aryan and Un Aryan or which so much has been built, seems on the mass of the evidence in indicate a cultural rather than racid diggerence. On the Veda- p. 24
५. Pre-historic Regvedic Culture of the pre-historic Indus, P.38
६. हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः । महाभारत, १२/३४९/६५
७. स धा नो योग आ भुवत्। ऋग्वेद, १/५/३
स धीनां योगमिन्वति। - वही, १/१८/७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कदा योगो वाजिनो रासभस्य - वही, १/३४/९
वाजयन्निव नू रथान् योगां अग्नेरूप स्तुहि। वही, २/८/१
योगक्षेम व आदायाऽहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम्।। वही, १०/१६६/५

८. Philosophical Essays, S.N. Das Gupta, University of Calcutta, 1941 p. 179

९. यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चित्तश्चन्।
स धीनां योगमिन्वति।। ऋग्वेद, १/१८/१७

१०. युञ्जान: प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धिय:।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या ऽअध्याभरत्।। यजुर्वेद, ११/१

११. अपश्यं गोपामनिंपद्यमान मा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीची: स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्त:।।
ऋग्वेद, १/१६४/३१, १०/१७७/३

१२. अदिते मित्र वरुणोत मृळ यद् वो वयं चकृमा कच्चिदागः।
उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्रा:।। वही, २/२७/१४

१३. वही, १/१४३/३

१४. युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
वृहज्जोति: करिष्यत: सविता प्र सुवाति तान्।। यजुर्वेद, ११/२

१५. तद्विप्रासो विपन्वयो जागृवांस: समिन्धते।
विष्णोर्यत्परमं पदम।। वही, ३१/१५

१६. यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिष:।। ऋग्वेद, ८/४४/२३

१७. त्रिरून्नतँ स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि।।
प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्ट: क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ् वसीत।।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत:।। श्वेताश्वतरोपनिषद्, २/८-९

१८. ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्। वही, १/१४

१९. छान्दोग्योपनिषद्, ७/६/१

२०. तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति।। कठोपनिषद्, १/२/१२

२१. नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै:।
श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६/१३

२२. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमस: परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय।। वही, ३/८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३. यथैव बिम्बं सृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः। वही, २/१४

२४. यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।। वही, २/१५

२५. यतो वाचो निवर्तन्ते ।।अप्राप्य मनसा सह।।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।। तैत्तिरीयोपनिषद्, ३/१९

२६. तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः।
बृहदारण्यकोपनिषद्, ६/२/१५

२७. अथोत्तरेण तपसा ब्रहाचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते ।
प्रश्नोपनिषद्-१/१०
सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। मुण्डकोपनिषद, ३/१/६
तदेतत् त्रयं शिक्षेददमं दानं दयामिति। बृहदारण्यकोपनिषद्, ६/२/१६

२८. कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु।
बन्धनं मनसो नित्यमं कर्मयोगः स उच्यते।
यतचित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम्।
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः।
यस्योक्तलक्षणे योगे द्विविधेऽप्यव्ययं मनः। त्रिखिखिबह्मणोपनिषद्, २५-२७

२९. योगो हि बहुधा ब्रह्मन्मिद्यते व्यवहारतः।
मंत्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः।। योगतत्त्वोपनिषद्, -१९

३०. प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते।। अमृतानादोपनिषद्, ६

३१. कल्याण (योगतत्त्वाङ्क) अपैल १९९१

३२. कल्याण (योगतत्त्वाङ्क), अप्रैल ९१ के आधार पर दिया गया है।

३३. अनुशासन पर्व (महा०) -१४५/१२००, शान्तिपर्व (महा०)- १९५/११

३४. छित्रदोषो मुनियोंगान् युक्तो युञ्जीत द्वादश।
देशकर्मानुरागार्थानुपायापायनिश्चयैः।।
चक्षुराहारसंहारैर्मनसा दर्शनेन च। वही, २३६/३-४

३५. वही, २४०/२३-२४

३६. नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविधुत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिण्यक्तिकराणि योगे।।श्वेताश्वतरोपनिषद्, २/११

३७. नावर्तन्ते पुनः पार्थ मुक्ता संसारदोषतः जन्मदोष परिक्षीणाः स्वभावे पर्यवस्थिताः।
- शान्तिपर्व (महा०), १९५/३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३८. अजं पुराणमजरं सनातनं यदिन्द्रियैरूपलभेत निश्चलैः।
अपोरणीयो महतो महत्तरं तदात्मना पश्यति मुक्तमात्मवान्।।
शान्तिपर्व (महा०), २४०/३५

३९. गीता (शांकर भाष्य), २/११ ४०. गीता रहस्य, पृ० ६०

४१. गीता (रामानुजाचार्य), १/१

४२. भगवद्गीता (राधाकृष्णन्), पृ० ८२ ४३. गीता, २/५०

४४. गीता (शांकर भाष्य), ६/३२

४५. आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः। गीता, ६/३२

४६. यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरूषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोडमृतत्वाय कल्पते ।। वही, २/१५

४७. वही, १२/३-४ ४८. वही, ५/१८

४९. वही, १३/२७-२८ ५०. वही, १८/५४

५१. वही, २/३८

५२. लोको वशीकृतो येन येन चात्मा वशीकृतः।
इन्द्रियार्थो जितो येन तं योगं प्रब्रवीम्यहम्।। दक्षस्मृति, ७/१

५३. इज्याचारदमाहिंसादानं स्वाध्यायकर्म्म च ।
अयं तु परमो धर्म्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।। याज्ञवल्क्यस्मृति, १/८

५४. कल्याण (योग तत्त्वाङ्क) अप्रैल, १९९२, पृ० २५

५५. सूक्ष्मतां चान्वेक्षेत योगेन परमात्मनः। मनुस्मृति, ६/१५

५६. वही, ६/७२

५७. ब्रह्मचर्यमहिसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वमनोनयन्।। विष्णुपुराण, ६/७/३६

५८. वही, ६/७/३७ ५९. वही, ६/७/३८

६०. अहिंसा सत्यमस्तेयमसंगो हीरसंचयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम्।। भागवतपुराण, ११/१९/३३

६१. वही, ११/१९/३४ ६२. वही, २/१/६

६३. विष्णुपुराण, ६/७/४०
अगर्भश्च गर्भसंयुक्त प्राणायामः शमाधिकः।
तस्माद्गर्भ कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम्।।
अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः।
जपध्यानविनागर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात्।।शिवपुराण (वायवीय संहिता), ३७/३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६४. वही, ३७/३४ ६५. भागवतपुराण, ३/२८/३३
६६. योगं निषवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्रध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः।। वही, ११/२८/४३
६७. वही, ३/२५/१९ ६८. वही, ३/३३/२७
६९. वही, ४/८/७७ ७०. योगवासिष्ठ (निर्वाण-प्रकरण), १३/३
७१. वही, ६८/४८
७२. योगवासिष्ठ, ६/११४/१७, ६/७/११, ६/१३९/१, ३/११०/४६
७३. वही, ५/८६/९ ७४. वही (निर्वाण-प्रकरण), १११/३१
७५. वही, ५/२४/३७-३८
७६. वही, ३/२२/८ ७७. वही (स्थिति-प्रकरण), ३३/४८
७८. वही (उप० प्रकरण), ६८/४ ७९. वही, ५/५८/४४
८०. वही, ५/६२/८
८१. वही (निर्वाण-प्रकरण), १२८/२१-२५
८२. योगवासिष्ठ, ५/७८/११५-१६
८३. वही (निर्वाण-प्रकरण), १३/७-८
८४. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योग दर्शन, १/२
८५. यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
योगदर्शन, २/२९
८६. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते। वही, २/२८
८७. उद्धरेदात्मनात्मानं मग्नं संसारवारिधौ।
योगरूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया।। विवेकचूड़ामणि, ९
८८. आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते।
इहामुत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम्।
शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम्।। विवेकचूड़ामणि, १९८०
८९. श्रद्धाभक्तिध्यानयोगान्मुमुक्षोर्मुक्तेर्हेतून्वक्ति साक्षाच्छ्रुतेर्गीः।
यो वा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य मोक्षोऽविद्याकल्पितादेहबन्धात्। वही , ४८ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय अध्याय

योग की अवधारणा : जैन एवं बौद्ध

भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा में योग-साधना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्पूर्ण भारतीय धर्म-दर्शन में योग-साधना को एक स्वर में स्वीकार किया गया है- चाहे वह वैदिक धर्म-दर्शन हो या जैन एवं बौद्ध धर्म-दर्शन। किन्तु कुछ सन्दर्भों में साम्य होते हुए भी तीनों अपने अन्दर कुछ विशिष्टता को संजोये हुए हैं जिनसे इनकी अपनी सांस्कृतिक झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। योग ही मानव जीवन के सर्वोपरि लक्ष्य का साधन है। सभी धर्म एवं दर्शनों में जीवन-मुक्ति को मानव-जीवन का परम ध्येय माना गया है। जीवन-मुक्ति बिना आत्म-विकास के संभव नहीं है और आत्म-विकास बिना योग-साधना के। अतः भारतीय परम्परा के समस्त विचारकों, तत्त्व-चिन्तकों एवं मननशील ऋषि-मुनियों ने योग की महत्ता को एक स्वर से स्वीकार किया है।

अन्तर सिर्फ इतना ही है कि किसी ने योग का प्रयोग अध्यात्म की उन्नत भूमिका के लिए किया है तो किसी ने व्यवहार की उन्नत भूमिका के लिए और किसी-किसी ने अध्यात्म एवं व्यवहार दोनों पक्षों को समुन्नत करने के लिए योग का प्रयोग किया है। *उपनिषदों* में योग को ब्रह्म के साथ साक्षात्कार करानेवाली क्रिया कहा गया है तो गीता में उसी को कर्म करने की कुशलता के रूप में विवेचित किया गया है। योगदर्शन में चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है तो बौद्ध दर्शन में बोधिसत्व की प्राप्ति करानेवाली क्रिया योग है। इसी प्रकार जैन योग में आत्मा की शुद्धि करानेवाली क्रियाओं को योग कहा गया है।

इस प्रकार योग को एक विशिष्ट क्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के ध्यान तथा तप का समावेश होता है। परन्तु इन सबका एकमात्र लक्ष्य आत्मा का विकास ही होता है।

योग के सभी पहलुओं पर गहराई से विचार करने के लिए उसके सभी पक्षों को देखना आवश्यक है, यथा-योग का शाब्दिक अर्थ क्या है? योग की परिभाषा क्या है? योग के कितने प्रकार हैं? महत्त्व क्या है? आदि ..... आदि .....।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग का शाब्दिक अर्थ

संयोग, सम्पर्क, युक्ति, उपाय, नियम, विधान, सूत्र, उपयुक्तता, वशीकरण, ध्यान, चित्तवृति निरोध, निर्वाण, अवधान, समाधि आदि शब्द योग के ही पर्याय हैं। सामान्यतया 'योग' शब्द का अर्थ संयोग, मिलन या मेल से लिया जाता है। या, यह कहा जा सकता है कि दो अथवा दो से अधिक का मिलकर एक हो जाना योग है। गणित-शास्त्र में भी योग का अर्थ जोड़ना या मिलाना ही किया जाता है, किन्तु यहाँ पर योग पद से जोड़ना अर्थ लेने पर योग के वाक्यमाण लक्षण से विरोध होगा। व्याकरण की दृष्टि से देखें तो 'योग' शब्द *'युज्'* धातु से बना है। *'युज्'* धातु भी दो प्रकार के हैं जिनमें एक का अर्थ जोड़ना या संयोजित करना है तो दूसरे का अर्थ समाधि, मनः स्थिरता आदि है। प्राचीन जैन एवं बौद्ध साहित्य में योग शब्द (प्राकृत का जोग) का प्रयोग एक विशेष अर्थ में हुआ है। *पाणिनीय व्याकरण* में *'युज् समाधौ'* (दिवादिगणीय, युज्यते)[१], *'युजिर् योगे'* (रूधादिगणीय, युनक्ति, युक्ड़ते)[२] तथा *'युज् संयमने'* ये तीन धातुएँ उपलब्ध होती हैं। योग शब्द जब *'युज् समाधौ'* धातु में *'धञ्'* प्रत्यय लगने से निष्पन्न होता है तब उसका अर्थ समाधि होता है और जब *'युजिर योगे'* या *'युजपी योगे'*[३] धातु से निष्पन्न होता है तब उसका अर्थ जोड़ना या संशोधित करना होता है।

वैदिक परम्परा में योग शब्द कहीं-कहीं *'युग'* शब्द के रूप में भी देखने को मिलता है, जिसका अर्थ होता है 'जोतना'। यहाँ पर *'युग'* शब्द प्राचीन आर्य शब्द का प्रतिनिधित्व करता है। योग शब्द की व्याख्या करते हुए डॉ सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता लिखते हैं- "योग शब्द तीन धातुओं से निकला है। यथा- *'युजिर् योगे'* जो एक साथ मिलने या युक्त होने के अर्थ में लिया जाता है; *'युज् समाधौ'* जो एकाग्रता के अर्थ को निष्पन्न करता है और *'युज संयमने'* जो नियन्त्रित अथवा निरुद्ध होने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[४] जैन एवं बौद्ध साहित्य में प्रयुक्त 'योग' शब्द का सम्बन्ध *'युजिर योगे'* से है, ऐसा प्रतीत होता है। प्राकृत 'जोग' शब्द का सामान्य अर्थ क्रिया है, जो प्रशस्त एवं अप्रशस्त या शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार की हो सकती है।[५] आचार्य *हरिभद्र* ने योग का निरुक्तिपरक अर्थ *'युजिर योगे'* स्वीकार किया है। कहा है- जो आत्मा को केवलज्ञान आदि परम सात्त्विक तथा ज्ञान चेतना के साथ जोड़ता है, वह योग है।[६] बौद्ध साहित्य में योग शब्द का प्रयोग बन्धन या संयोजन के अर्थ में हुआ है, जो प्रमुखतः चार प्रकार के हैं - कामयोग, भवयोग, दृष्टियोग, अविद्यायोग। इसके समानान्तर अपर शब्द आस्रव, ओघ एवं उपादान भी है।[७] इस प्रकार *'युज्'* शब्द जोड़ने के अर्थ में प्रयुक्त होने के साथ ही साथ समाधि एवं क्रिया के रूप में भी व्यवहृत हुआ है।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

योग की परिभाषा

वस्तुत: योग शब्द संस्कृत का शब्द है जिसका भाव यह है कि जो अपने आप को समझते हैं उससे आप सर्वथा भिन्न हैं। तत्त्वत: जो आप हैं उससे संयुक्त करनेवाली साधना ही योग है। योग को सभी परम्पराओं में परिभाषित किया गया है, परन्तु उसको व्यवस्थित और सम्यक् रूप प्रदान करने का श्रेय महर्षि *पतंजलि* को जाता है। "चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।"[८] कुछ विचारक योग की इस परिभाषा पर आपत्ति उठाते हुए कहते हैं कि चित्तवृत्तियों को दुर्बल एवं क्षीण तो किया जा सकता है, परन्तु उनका पूर्ण निरोध असम्भव है, क्योंकि वृत्तियों के प्रवाह का नाम ही चित्त है। अत: चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं हो सकता। कारण कि चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध यदि होता है तो चित्त के अस्तित्व का ही नाश हो जायेगा। फलत: निरुद्धावस्था में न तो कोई कर्म बन सकता है और न ही कोई संस्कार, साथ ही स्मृतियाँ भी नहीं बन पायेंगी जो समाधि से उठने के बाद कर्म करने में सहायक हों।[९]

योग की उपर्युक्त परिभाषा एकान्तत: निषेधपरक अर्थ को ही अभिव्यक्त नहीं करती है, बल्कि विधेयात्मक भाव की भी सूचक है। रोकने के साथ करने का भी सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। अत: 'चित्त-वृत्ति निरोध' का वास्तविक अर्थ है कि साधक अपनी संसाराभिमुख चित्तवृत्तियों को रोककर अपनी साधना को साध्य सिद्धि या मोक्ष के अनुकूल बनाये। अपनी मनोवृत्तियों को सांसारिक प्रपंचों एवं विषय-वासनाओं से हटाकर मोक्षाभिमुख बनाये। चित्तवृत्ति निरोध से यही अर्थ ध्वनित होता है। मानसिक वृत्तियों का नियन्त्रण एवं एकाग्रता दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि मानसिक वृत्तियों के नियन्त्रण के अभाव में एकाग्रता सम्भव नहीं है और एकाग्रता के बिना ब्रह्म-साक्षात्कार का होना असम्भव है।

जैन परम्परा में योग का स्वरूप

जैन विचारक मोक्ष प्राप्त करनेवाली क्रिया को योग कहते हैं। जैनागमों में संवर शब्द का प्रयोग हुआ है, जो एक विशेष पारिभाषिक शब्द है। आस्रव- निरोध का नाम संवर है।[१०] *समवायांग* में पाँच आस्रव बताये गये हैं- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।[११] जिनमें मिथ्यात्व, कषाय और योग को प्रमुख माना गया है। यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि योग दर्शन में जिसे चित्तवृत्ति कहा गया है, उसी को जैन परम्परा में आस्रव रूपी योग के नाम से विभूषित किया गया है। अत: *पतंजलि* का 'योग' शब्द 'संवर' शब्द का ही समानार्थक है। योग को परिभाषित करते हुए *स्थानांग* में कहा गया है - मन, वचन और शरीर की क्रियाओं से उत्पन्न आत्म-प्रदेशों का कम्पन जिससे कर्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमाणुओं का बन्ध होता है, योग है।[१२] आचार्य *कुन्दकुन्द* के अनुसार सभी प्रकार के विपरीत अभिनिवेशों को त्यागकर जिनेन्द्रदेव कथित तत्त्वों से स्वयं को भावित करते हुए निज-स्वभाव में स्थित होना योग है।[१३]

आचार्य *पूज्यपाद* ने *समाधितंत्र* में कहा है - मैं जिस रूप को देखता हूँ, वह सर्व प्रकार से अज्ञ है, जो ज्ञाता है वह अदृश्य है; अत: मैं किससे बोलूँ। इस प्रकार बाह्य वचनवृत्ति को त्यागकर अन्तर्वृत्ति का भी सम्पूर्ण रूप से त्याग करना चाहिए। यह संक्षेप में परमात्मा को प्रकाशित करनेवाला योग है।[१४] आचार्य *हरिभद्र* जिन्हें जैन परम्परा में योग विषयक अवधारणा को परिमार्जित करने का श्रेय जाता है, के अनुसार -'मोक्ष-तत्त्व के साथ संयोग करानेवाला धर्म-व्यापार योग कहलाता है।'[१५] *योगबिन्दु* में उन्होंने कहा है - धार्मिक क्रिया-कलाप, आध्यात्मिक भावना, समता का विकास, मनोविकारों का क्षय, मन, वचन, काय को सम्पादित करनेवाले धार्मिक क्रिया-कलाप ही श्रेष्ठ योग हैं।[१६] सामान्य तौर पर कहा जा सकता है कि आचार्य ने आत्मा की विशुद्धि के सभी साधनों को योग कहा है। इसी प्रकार आचार्य *हेमचन्द्र* ने योग को मोक्ष का कारण मानते हुए उसे ज्ञान, दर्शन और चारित्रात्मक कहा है।[१७]

इस प्रकार जैन परम्परा में योग का अर्थ चित्त की वृत्तियों का निरोध एवं मोक्षप्रापक धर्म-व्यापार है। यहाँ वही धर्म-व्यापार मान्य है जो मोक्ष के लिए अनुकूल मार्ग निर्धारित करता है। अत: कहा जा सकता है कि योग समस्त स्वाभाविक आत्मशक्तियों की पूर्ण विकास-क्रिया अर्थात् आत्मोन्मुखी एक चेष्टा है।

योग के प्रकार

जैन साहित्य में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र को मोक्षमार्ग के रूप में स्वीकार किया गया है।[१८] यह त्रिविध योग के नाम से जाना जाता है। परन्तु प्राचीन आगम *उत्तराध्ययन*[१९] और *दर्शनपाहुड*[२०] में चतुर्विध मार्ग का भी वर्णन मिलता है। योग-साधना के उस चौथे मार्ग का नाम है- सम्यक्-तप। लेकिन प्राचीन काल से जैन परम्परा में सम्यक्-तप का स्वतंत्र अस्तित्व रहा है। अत: यहाँ उसका स्वतंत्र रूप में ही वर्णन करना उचित है।

सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन सामान्यत: सात तत्त्वों का या विशेष रूप से आत्म-अनात्म का यथार्थ बोध है। या,कह सकते हैं कि सात तत्त्वों[२१] के प्रति श्रद्धा का होना सम्यग्दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। सम्यग्दर्शन जैन आचार-व्यवस्था की आधारशिला है। सम्यग्दृष्टि, तत्त्वरुचि, तत्त्वश्रद्धा, विश्वास, प्रतीति, रुचि आदि इसके अनेक पर्याय हैं। बिना यथार्थ दृष्टिकोण के साधना नहीं हो सकती। साधक को वस्तुतत्त्व के प्रति दृष्टिकोण की यथार्थता जिन माध्यमों से प्राप्त होती है, वे दो प्रकार की हैं- (१) व्यक्ति या तो स्वयं तत्त्व साक्षात्कार करे या (२) उन ऋषियों के कथनों पर श्रद्धा करे जिन्होंने तत्त्व साक्षात्कार किया है। तत्त्वश्रद्धा तो एक विकल्प के रूप में जानी जाती है, क्योंकि वह तत्त्व साक्षात्कार का एक सोपान है।

पंडित सुखलाल संघवी के शब्दों में- "तत्त्वश्रद्धा ही सम्यग्दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अन्तिम नहीं है, अन्तिम अर्थ तो तत्त्व साक्षात्कार है। तत्त्वश्रद्धा तो तत्त्व साक्षात्कार का एक सोपान मात्र है, वह सोपान दृढ़ हो तभी यथोचित पुरुषार्थ से तत्त्व साक्षात्कार होता है।"[२२] *उत्तराध्ययन* में कहा गया है कि बिना सम्यग्दर्शन के सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के अभाव में सदाचार नहीं आता और सदाचार के अभाव में कर्मावरण से मुक्ति सम्भव नहीं होती तथा कर्मावरण से जकड़े हुए प्राणी का निर्वाण नहीं होता।[२३] सदाचरण और असदाचरण का निर्धारण कर्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। भले ही व्यक्ति विद्वान् है, भाग्यवान है, पराक्रमी भी है, लेकिन यदि उसका दृष्टिकोण असम्यक् है तो उसका दान, तप आदि समस्त पुरुषार्थ फलाकांक्षा होने से अशुद्ध ही होगा। वह उसे मुक्ति की ओर न अग्रसर करके बन्धन की ओर प्रेरित करेगा, क्योंकि असम्यग्दर्शी होने के कारण उसका दृष्टिकोण सराग होगा और आसक्ति या फलाशा से निष्पन्न होने के कारण उसके सभी कार्य सलाभ होंगे और सलाभ होने से उसके सभी कार्य बन्धन के कारण होंगे। अत: असम्यक्-दृष्टि का सारा पुरुषार्थ अशुद्ध हो जायेगा, क्योंकि वह उसकी मुक्ति में बाधक होगा। लेकिन इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि या वीतरागदृष्टि सम्पन्न व्यक्ति के सभी कार्य फलाशा से रहित होने से शुद्ध होंगे।[२४] यहाँ सम्यक्त्व का विश्लेषण अनेक अपेक्षाओं से किया गया है ताकि उसके विविध पहलुओं पर प्रकाश पड़े।

सम्यक्त्व के भेद

त्रिविध भेद- अपेक्षा भेद से सम्यक्त्व के तीन भेद किये गये हैं- कारक, रोचक और दीपक।[२५]

कारक सम्यक्त्व- जिस सम्यक् दृष्टिकोण के होने पर व्यक्ति सदाचरण या सम्यक्-चारित्र की साधना में अग्रसर होता है वह कारक सम्यक्त्व कहलाता है। यदि नैतिक रूप से कहें तो कारक सम्यक्त्व शुभाशुभ विवेक की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति जिस शुभ का निश्चय करता है, उसका आचरण भी करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रोचक सम्यक्त्व- सत्य-असत्य का विवेक होने पर भी सत्य का आचरण नहीं कर पाना रोचक सम्यक्त्व कहलाता है। यह सत्यबोध की ऐसी अवस्था है, जिसमें व्यक्ति शुभ को शुभ और अशुभ को अशुभ के रूप में जानता है और शुभ प्राप्ति की इच्छा भी करता है, लेकिन उसके लिए प्रयास नहीं करता।

दीपक सम्यक्त्व- दीपक सम्यक्त्व वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति अपने उपदेश से दूसरों में तत्त्वजिज्ञासा उत्पन्न कर देता है और परिणामस्वरूप होनेवाले यथार्थ बोध का कारण बनता है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि दीपक सम्यक्त्ववाला व्यक्ति वह है जो दूसरों को सन्मार्ग पर लगा देने का कारण बन जाता है, लेकिन स्वयं कुमार्ग का राही बना रहता है।

द्विविध भेद- *स्थानांग* में निसर्गज सम्यक्त्व और अधिगमज सम्यक्त्व[२६] के रूप में सम्यक्त्व का द्विविध विभाजन किया गया है-

निसर्गज सम्यक्त्व- निसर्गज अर्थात् जिसकी प्राप्ति स्वत: अनुभूति के द्वारा हो या यूँ कहें कि बिना किसी गुरु के उपदेश के स्वाभाविक रूप में स्वत: उत्पन्न होने वाला सत्य बोध निसर्गज सम्यक्त्व कहलाता है।

अधिगमज सम्यक्त्व- गुरु आदि के उपदेश रूप निमित्त से होनेवाला सत्य बोध अधिगमज सम्यक्त्व के नाम से जाना जाता है।

प्रवचनसारोद्धार में द्रव्य एवं भाव तथा निश्चय एवं व्यवहार रूप में भी सम्यक्त्व के द्विविध भेद किये गये हैं। जो निम्न प्रकार से हैं[२७]-

द्रव्य सम्यक्त्व-विशुद्ध रूप से परिणत किए हुए मिथ्यात्व के कर्म-परमाणु द्रव्य सम्यक्त्व है।

भाव सम्यक्त्व- विशुद्ध पुद्गल वर्गणा के निमित्त से होनेवाली तत्त्वश्रद्धा भाव-सम्यक्त्व है।

निश्चय सम्यक्त्व- मैं स्वयं ही अपना आदर्श हूँ, देव, गुरु और धर्म मेरी आत्मा हैं। ऐसी दृढ़ श्रद्धा का होना ही निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है। राग-द्वेष और मोह का अत्यल्प हो जाना, पर-पदार्थों से भेदज्ञान एवं स्व-स्वरूप में रमण, देह में रहते हुए देहाध्यास का छूट जाना आदि निश्चय सम्यक्त्व के लक्षण हैं।

व्यवहार सम्यक्त्व- वीतराग में देवबुद्धि, पाँच महाव्रतों का पालन करनेवाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनियों में गुरुबुद्धि और जिनप्रणीत धर्म में सिद्धान्तबुद्धि रखना व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है।

सम्यक्त्व के पाँच अंग

सम्यक्त्व की साधना के लिए जैन ग्रंथों में सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा तथा आस्तिक्य इन पाँच अंगों का विधान किया गया है।[२८] ये हमारे व्यावहारिक जीवन में भी इन्हीं रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। जब तक साधक इन पाँच अंगों को नहीं अंगीकार कर लेता तब तक वह यथार्थ या सत्य की आराधना में समर्थ नहीं हो सकता है।

सम- 'सम' शब्द के दो अर्थ देखे जाते हैं- (१) समानुभूति या तुल्यता बोध यानी सभी प्राणियों को अपने समान समझना। (२) चित्तवृत्ति का समभाव यानी सुख-दुःख, हानि-लाभ एवं अनुकूल-प्रतिकूल दोनों स्थितियों में चित्त को समभाव रखना। यदि सामान्य भाषा में कहें तो क्रोधादि कषायों को शान्त करना ही सम सम्यक्त्व है।

संवेग- संवेग अर्थात् सम्यक्-गति। संवेग का प्रतिफल बताते हुए *उत्तराध्ययन* में कहा गया है- संवेग से मिथ्यात्व की विशुद्धि होकर यथार्थ दर्शन की उपलब्धि (आराधना) होती है।[२९] डॉ० सागरमल जैन के शब्दों में सामान्य अर्थ में संवेग शब्द अनुभूति के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ इसका तात्पर्य होगा स्वानुभूति, आत्मानुभूति अथवा आत्मा के आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति।[३०] यह मोक्ष-प्राप्ति की कामना को जन्म देता है।

निर्वेद- सांसारिक क्रियाओं के प्रति उदासीन भाव रखना निर्वेद है। इसके अभाव में साधना के मार्ग पर चलना असंभव है। यह विषय भोगों के प्रति अनासक्ति पैदा करता है।

अनुकम्पा- दूसरे व्यक्ति के दुःख से पीड़ित होने पर तदनुकूल अनुभूति का उत्पन्न होना अनुकम्पा है। इसे हम दूसरी भाषा में यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझना अर्थात् मैत्री भावना रखना ही अनुकम्पा है।

आस्तिक्य- जैन विचारणा के अनुसार पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना सम्यक् आस्तिक्य है।

सम्यक्त्व प्राप्ति के बाधक तत्त्व[३१]

सम्यक्त्व प्राप्ति में तीन बाधक तत्त्व माने गये हैं जिन्हें तीन दूषण या अतिचार भी कहते हैं। दूषण या अतिचार वह दोष है जिससे व्रत भंग तो नहीं होता, परन्तु सत्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या यथार्थता का विशुद्ध स्वरूप उससे प्रभावित होता है। वे तीन दोष निम्न हैं-

(१) चल- चल दोष से तात्पर्य साधक के हृदय से है, जो सम्यक्त्व के प्रति दृढ़ रहता है; परन्तु कभी-कभी क्षणिक रूप से वह बाह्य आवेगों से प्रभावित हो जाता है।

(२) मल- मल वे दोष हैं जिनसे यथार्थ दृष्टिकोण की निर्मलता प्रभावित होती हैं। ये पाँच हैं- (क) शंका- वीतराग या अर्हत् के कथनों पर शंका करना, उसकी यथार्थता के प्रति संदेहात्मक दृष्टिकोण रखना शंका है। (ख) आकांक्षा- नैतिक एवं धार्मिक आचरण के फल की कामना करना आकांक्षा है। (ग) विचिकित्सा- सदाचरण का प्रतिफल मिलेगा या नहीं ऐसा संशय करना विचिकित्सा है। जैन मतानुसार नैतिक कर्मों की फलाकांक्षा एवं फल-संशय दोनों को ही अनुचित माना गया है।[३२] (घ) मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा- जिन लोगों की दृष्टियाँ सम्यक् नहीं हैं उनकी प्रशंसा करना। (ङ) मिथ्यादृष्टियों का अति परिचय- साधना एवं नैतिक जीवन के प्रति जिनका दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है, ऐसे व्यक्तियों से घनिष्ठता रखना उचित नहीं, क्योंकि संगति का असर व्यक्ति के जीवन पर बहुत अधिक पड़ता है।

(३) अगाढ़- अगाढ़ दोष वह है जिसमें अस्थिरता रहती है। जिस प्रकार हिलते हुए दर्पण में रूप अस्थिर रहता है, उसी प्रकार अस्थिर चित्त में सत्य प्रकट होने पर सत्य भी अस्थिर रहता है।

सम्यक्त्व का दशविध वर्गीकरण

उत्तराध्ययन में[३३] सम्यक्त्व की उत्पत्ति के आधार पर दस भेद किए गये हैं-

(१) निसर्ग (स्वभाव) रुचि- जो यथार्थ (सम्यक्) दृष्टिकोण व्यक्ति में स्वत: ही उत्पन्न हो जाता है वह निसर्ग रुचि सम्यक्त्व कहलाता है। (२) उपदेश रुचि- वीतरागी उपदेश को सुनकर जो यथार्थ दृष्टिकोण या श्रद्धान् उत्पन्न होता है वह उपदेश रुचि सम्यक्त्व कहलाता है। (३) आज्ञा रुचि- वीतराग के नैतिक आदेशों को मानकर जो यथार्थ दृष्टिकोण उत्पन्न होता है उसे आज्ञा रुचि कहते हैं। (४) सूत्र रुचि- अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य ग्रंथों के अध्ययन के आधार पर जो यथार्थ दृष्टिकोण उत्पन्न होता है उसे सूत्र रुचि कहते हैं। (५) बीज रुचि- यथार्थता के स्वल्प बोध को स्वचिन्तन से विकसित करना बीज रुचि सम्यक्त्व है। (६) अभिगम रुचि- अंग साहित्य एवं अन्य ग्रंथों का अर्थ एवं व्याख्या सहित अध्ययन करने से जो तत्त्वबोध एवं तत्त्वश्रद्धा उत्पन्न होती है वह अभिगम रुचि सम्यक्त्व है। (७) विस्तार रुचि- वस्तुतत्त्व (षट्द्रव्यों) के अनेक पक्षों का विभिन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपेक्षाओं (दृष्टिकोणों) एवं प्रमाणों से अवबोध कर उनकी यथार्थता पर श्रद्धा करना विस्तार रुचि सम्यक्त्व है। (८) क्रिया रुचि- प्रारम्भिक रूप में साधक जीवन की विभिन्न क्रियाओं के आचरण में रुचि का होना और उस साधनात्मक अनुष्ठान के फलस्वरूप यथार्थता का बोध होना क्रिया रुचि सम्यक्त्व है। (९) संक्षेप रुचि- जो वस्तुतत्त्व का यथार्थ स्वरूप नहीं जानता है और जो अर्हत् प्रवचन (ज्ञान) में प्रवीण नहीं है, लेकिन जिसने अयथार्थ (मिथ्यादृष्टि) को स्वीकार नहीं किया हैं, जिसमें यथार्थज्ञान की अल्पता है तथापि उसमें मिथ्याधारणा नहीं हैं वह संक्षेप रुचि सम्यक्त्व है। (१०) धर्म रुचि- तीर्थंकर प्रणीत सत् के स्वरूप, आगम साहित्य एवं नैतिक नियमों पर आस्तिक्य भाव या श्रद्धा रखना उन्हें यथार्थ मानना धर्म रुचि सम्यक्त्व है।[३४]

सम्यग्दर्शन की साधना के आठ आचार

दर्शन-विशुद्धि एवं उसके संवर्द्धन और संरक्षण के लिए आठ आचारों का पालन आवश्यक है। जैन ग्रन्थों में जिन आठ अंगों के वर्णन हैं वे इस प्रकार हैं-

(१) निश्शंकता- साधना के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु साध्य, साधक और साधना-पथ— इन तीनों पर अविचल श्रद्धा होनी चाहिए, क्योंकि साधक में जिस क्षण भी इन तीनों में से एक के प्रति भी संदेह उत्पन्न हुआ नहीं कि साधक साधना से च्युत हो जाता है। संभवत: यही कारण है कि जैन साधना निश्शंकता को आवश्यक मानती है। निश्शंकता का अर्थ ही होता है- संशयशीलता का अभाव। जिनप्रणीत तत्त्वदर्शन में शंका नहीं करना, उसे यथार्थ एवं सत्य मानना ही निश्शंकता है।[३५]

(२) निष्कांक्षता- सामान्यतया निष्कांक्षा का अर्थ होता है- निष्कामभाव। आचार्य *अमृतचन्द्र* ने निष्कांक्षता का अर्थ किया है- 'ऐकान्तिक मान्यताओं से दूर रहना।'[३६] *रत्नकरण्डकश्रावकाचार* में कहा गया है कि साधनात्मक जीवन में भौतिक वैभव, ऐहिक तथा पारलौकिक सुख को लक्ष्य बनाना कांक्षा है।[३७] साधना का लक्ष्य तभी पूरा होता है,जब साधक भौतिक सुखों व उपलब्धियों से दूर रहता है। इसलिए साधक को साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट होने के लिए निष्कांक्षित अथवा निष्कामभाव से युक्त होना आवश्यक है।

(३) निर्विचिकित्सा- इसके दो अर्थ होते हैं- (क) धर्म-क्रिया या साधना का फल मिलेगा या नहीं, मेरी साधना व्यर्थ तो नहीं जायेगी, ऐसी आशंका ही विचिकित्सा है और इस प्रकार की क्रिया के फल के प्रति सन्देह का न होना निर्विचिकित्सा कहलाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) तपस्वियों एवं मुनियों के दुर्बल जर्जर शरीर अथवा मलिन वेशभूषा को देखकर मन में ग्लानि का होना विचिकित्सा है। अत: साधक को इन सब बाह्य रूपों पर ध्यान न देकर अपने साधनात्मक गुणों पर विचार करना चाहिए। आचार्य *समन्तभद्र* ने कहा है कि शरीर तो स्वभाव से ही अपवित्र है। उसकी पवित्रता तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र रूप रत्नत्रय के सदाचरण से ही है। अतएव गुणीजनों द्वारा शरीर से घृणा न कर उसके गुणों से प्रेम करना निर्विचिकित्सा है।[३८]

(४) अमूढ़ दृष्टि- सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए अमूढ़ दृष्टियों से बचना चाहिए। मूढ़ता का अर्थ ही होता है- अज्ञान। जब व्यक्ति हेय और उपादेय, योग्य और अयोग्य के मध्य निर्णय करने में सक्षम नहीं हो पाता है, तब वह मूढ़ व्यक्ति कहलाता है, अर्थात् निर्णायक क्षमता का अभाव ही मूढ़ता है। मूढ़ता तीन प्रकार की कही गयी हैं- देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और समयमूढ़ता।

(क) देवमूढ़ता- जब व्यक्ति उपास्य के चयन में अज्ञानता प्रदर्शित करता है, तब वह देवमूढ़ कहलाता है। कहने का अभिप्राय है साधना का आदर्श कौन है? उपास्य बनने की क्षमता किसमें है? आदि निर्णायक ज्ञान का अभाव देवमूढ़ता कहलाता है।

(ख) लोकमूढ़ता- लोक-प्रवाह और रूढ़ियों का अन्धानुकरण ही लोकमूढ़ता है, यथा-नदियों में स्नान करने से पुण्य मिलता है, पीपल के वृक्ष में जल चढ़ाने से मुक्ति मिलती है, पत्थरों को ढ़ेर कर पूजना और उससे मुक्ति समझना या पर्वत से गिरकर या अग्नि में जलकर प्राण विसर्जित करना आदि लोकमूढ़ताएं है।[३९]

(ग) समयमूढ़ता- शास्त्रीय ज्ञान का अभाव समयमूढ़ता कहलाता है।

इन तीन अन्धविश्वासों से बचने पर ही साधक में सम्यक्त्व की योग्यता आती है।

(५) उपबृहण - वृद्धि या पोषण करना। अपनें आध्यात्मिक गुणों का विकास करना उपबृहण है।[४०]

(६) स्थिरीकरण - भौतिक प्रलोभनों एवं कठिनाईयों में साधना से च्युत न होना ही स्थिरीकरण है। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि साधक भौतिक प्रलोभनों एवं साधना सम्बन्धी कठिनाईयों के कारण अपनी साधना से च्युत हो जाता है। अत: ऐसे समय में स्वयं को पथ-च्युत होने से बचाना और पथ-च्युत साधकों को धर्म-मार्ग में स्थिर करना स्थिरीकरण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(७) वात्सल्य - वात्सल्य का अर्थ होता है- 'प्रेम'। *रत्नकरण्डकश्रावकाचार* में आचार्य *समन्तभद्र* ने कहा है- स्वधर्मियों एवं गुणियों के प्रति निष्कपट भाव से प्रीति रखना और उनकी यथोचित सेवा-शुश्रुषा करना वात्सल्य है।[४१]

(८) प्रभावना - साधना, सदाचरण और ज्ञान की सुरभि द्वारा जगत के अन्य प्राणियों को धर्म-मार्ग की ओर आकर्षित करना प्रभावना है।[४२] प्रभावना के आठ प्रकार बताये गये हैं- (क) प्रवचन, (ख) धर्म-कथा, (ग) वाद, (घ) नैमित्तिक, (ङ) तप, (च) विद्या, (छ) प्रसिद्ध व्रत ग्रहण करना, (ज) कवित्व शक्ति।

सम्यग्दर्शन की साधना के षट्स्थान

जैन साधना में षट्-स्थानकों पर दृढ़ प्रतीति सम्यग्दर्शन की साधना के आवश्यक अंग माने गये हैं। जिस प्रकार बौद्ध साधना के अनुसार दु:ख है, दु:ख का कारण है, दु:ख-निवृत्ति हो सकती है और दु:ख-निवृत्ति के मार्ग हैं— इन चार आर्य-सत्यों की स्वीकृति सम्यग्दृष्टि है। उसी प्रकार जैन साधना में षट्-स्थानकों की स्वीकृति सम्यक्- दृष्टि है[४३]- (क) आत्मा है। (ख) आत्मा नित्य है। (ग) आत्मा अपने कर्मों का कर्ता है। (घ) आत्मा कृत कर्मों के फल का भोक्ता है। (ङ) आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है और (च) मुक्ति के उपाय हैं।

सम्यग्ज्ञान

जैन योग-साधना में सम्यग्ज्ञान को साधनात्रय में स्थान दिया गया है। साधना मार्ग पर चलनेवाले योगी के लिए जैनाचार्यों का प्रथम संदेश है— प्रथम ज्ञान और तत्पश्चात् अहिंसा का आचरण । संयमी साधक की साधना का यही क्रम है-ऐसा कहा गया है।[४४] जैन साधना में प्रविष्ट होने की पहली शर्त यही है कि व्यक्ति अपने अज्ञान का निराकरण कर सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करे। सम्यग्ज्ञान उस ज्ञान को कहते हैं जिसमें जीव, अजीव आदि मूल तत्त्वों का सविशेष ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान जीव में सदा विद्यमान रहता है और जब उस ज्ञान में सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है तब वह सम्यक्-ज्ञान कहलाता है।[४५] सम्यग्ज्ञान का अर्थ प्रमाणादि द्वारा यथार्थ ज्ञान से नहीं होता, बल्कि मिथ्यादृष्टि के निवारण से है। मिथ्यादृष्टि का निवारण ही मोक्ष में सहायक होता है। साथ ही सम्यग्ज्ञान असंदिग्ध तथा दोषरहित होता है।[४६] परन्तु प्रश्न उठता है कि कौन-सा ज्ञान साधना के लिए आवश्यक है? इसके उत्तरस्वरूप आचार्य *यशोविजयजी ज्ञानसार* में लिखते हैं कि मोक्ष के हेतुभूत एक पद का ज्ञान भी श्रेष्ठ है, जबकि मोक्ष-साधना में अनुपयोगी विस्तृत ज्ञान भी व्यर्थ है।[४७] साधक के लिए स्व-पर स्वरूप का भान, हेय और उपादेय का ज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और शुभाशुभ का विवेक साधना के राजमार्ग पर बढ़ने के लिए आवश्यक है। ज्ञान की साधनात्मक जीवन में क्या आवश्यकता है? इस पर प्रकाश डालते हुए *दशवैकालिक* में कहा गया है- जो आत्मा और अनात्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है, ऐसा ज्ञानराज साधक साधना (संयम) के स्वरूप को भली-भाँति जान लेता है, क्योंकि जो आत्मस्वरूप और जड़स्वरूप को यथार्थ रूप से जानता है, वह इस परिभ्रमण के कारणरूप पुण्य, पाप, बन्धन तथा मोक्ष के स्वरूप को भी जान लेता है। फलत: साधक भोगों की निस्सारता को समझ लेता है और उनसे विरक्त हो जाता है। भोगों से विरक्त होने पर वह बाह्य और आन्तरिक सांसारिक संयोगों को छोड़कर मुनिचर्या धारण कर लेता है। तत्पश्चात् उत्कृष्ट संवर अर्थात् वासनाओं के नियन्त्रण से अनुत्तर धर्म का आस्वादन करता है, जिससे वह अज्ञान कालिमा-जन्य कर्म-मल को झाड़ देता है तथा केवलज्ञान और केवल-दर्शन को प्राप्त कर मुक्ति-लाभ करता है।[४८] इसी प्रकार *उत्तराध्ययन* में कहा गया है कि ज्ञान अज्ञान एवं मोहजन्य अन्धकार को नष्टकर सर्वतथ्यों की यथार्थता को प्रकाशित करता है।[४९] आचार्य *कुन्दकुन्द* के अनुसार ज्ञान ही मानव जीवन का सार है।[५०]

इस प्रकार तत्त्व के स्वरूप को समझने का एक ही मार्ग है और वह है- ज्ञान। जैन नैतिकता यह बताती है कि जिस ज्ञान से स्वरूप का बोध नहीं होता, वह ज्ञान साधना में उपयोगी नहीं है। अल्पतम सम्यग्ज्ञान भी साधना के लिए श्रेष्ठ है। जैन मान्यता के अनुसार ज्ञान दो प्रकार के होते हैं- (१) यथार्थ ज्ञान (सम्यक्-ज्ञान) तथा (२) अयथार्थ ज्ञान (असम्यक्-ज्ञान)। परन्तु ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता का आधार क्या है? व्यक्ति यह कैसे निर्धारित करे कि कौन-सा ज्ञान यथार्थ है तथा कौन-सा ज्ञान अयथार्थ है। जैनाचार्यों ने ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता का आधार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि तीर्थंकरों के उपदेशरूप गणधर प्रणीत जैनागम यथार्थज्ञान है और शेष मिथ्याज्ञान।[५१] किन्तु बाद में जैनाचार्यों की दृष्टि परिवर्तित हुई और उनलोगों ने कहा कि व्यक्ति का दृष्टिकोण यदि शुद्ध है, सत्यान्वेषी है तो उसको जो भी ज्ञान प्राप्त होगा, वह सम्यग्ज्ञान होगा। ठीक इसके विपरीत यदि उसका दृष्टिकोण दुराग्रह से युक्त होगा तो उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान होगा। *अभिधानराजेन्द्र कोश* में कहा गया है - आगम या ग्रन्थ जो शब्दों के संयोग से निर्मित हुए हैं, वे अपने आप में न तो सम्यक् हैं और न मिथ्या, उनका सम्यक् या मिथ्या होना तो अध्येता के दृष्टिकोण पर निर्भर है। एक यथार्थ दृष्टिकोणवाले के लिए मिथ्याश्रुत (जैनेतर परम्परा के ग्रंथ) भी सम्यक्-श्रुत है, जबकि एक मिथ्यादृष्टि के लिए सम्यक्-श्रुत भी मिथ्याश्रुत है।[५२] अत: यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान की सम्यक्तया की कसौटी आप्तवचन है, चाहे वह किसी भी परम्परा का हो। आप्तपुरुष वह है जो राग-द्वेष से रहित वीतराग या अर्हतत्व को प्राप्त कर चुका है।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

ज्ञान के स्तर

जैन मान्यतानुसार ज्ञान के पाँच स्तर हैं- मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय और केवल।[५३] किन्तु आचार्य *हरिभद्र* ने ज्ञान के तीन स्तर बताये हैं - इन्द्रियजन्य ज्ञान, बौद्धिक ज्ञान एवं अप्रमतत्ता अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान।[५४] साथ ही उन्होंने इन्द्रियजन्य ज्ञान की अपेक्षा, बौद्धिक ज्ञान तथा बौद्धिक ज्ञान की अपेक्षा आध्यात्मिक ज्ञान का स्तर क्रमशः एक-दूसरे से ऊँचा माना है। यही बात पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा के दर्शन में भी देखने को मिलती है। स्पिनोजा ने भी ज्ञान के तीन स्तर स्वीकार किये हैं- इन्द्रियजन्य ज्ञान, तार्किक ज्ञान और अन्तर्बोधात्मक ज्ञान। साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि इन्द्रिय ज्ञान की अपेक्षा तार्किक ज्ञान और तार्किक ज्ञान की अपेक्षा अन्तर्बोधात्मक ज्ञान श्रेष्ठ एवं प्रमाणिक है।[५५]

(क) इन्द्रियजन्य ज्ञान- ज्ञान का पहला स्तर है- इन्द्रियजन्य ज्ञान। ज्ञान के इस स्तर पर व्यक्ति को न तो 'स्व' या 'आत्मा' का साक्षात्कार सम्भव है और न नैतिक जीवन ही सम्भव है। क्योंकि ज्ञान का यह स्तर नैतिक जीवन की दृष्टि से इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इस स्तर पर आत्मा पूरी तरह पराश्रित होती है। वह जो कुछ भी करती है, पराश्रित होकर करती है। कारण कि इन्द्रियाँ बहिर्द्रष्टा होती हैं, इसलिए वे आन्तरिक 'स्व' को नहीं जान पाती हैं।

(ख) बौद्धिक ज्ञान- यह ज्ञान का दूसरा स्तर है जिसे आगम ज्ञान भी कहते हैं। इसमें ज्ञान की आत्म-साक्षात्कार या स्वबोध की अवस्था तो नहीं होती, मात्र परोक्ष रूप में आत्मा इस स्तर पर यह जान पाती है कि वह क्या नहीं है? ज्ञायक आत्मा स्व-केन्द्रित न होकर परकेन्द्रित होती है, लेकिन जब तक पर-केन्द्रित है तब तक सच्ची अप्रमतता का उदय नहीं होता और जब तक अप्रमतता नहीं आती आत्म-साक्षात्कार या परमार्थ का बोध नहीं होता है। आगम ज्ञान भी प्रत्यक्ष रूप से तत्त्व या आत्मा का बोध नहीं कराता, फिर भी जिस प्रकार चित्र मूलवस्तु से भिन्न होते हुए भी उसका संकेत करता है, वैसे ही बौद्धिक ज्ञान (आगम) भी मात्र संकेत करता है।

(ग) आध्यात्मिक ज्ञान- यह ज्ञान का तीसरा स्तर है। इस स्तर पर साधक को आत्मबोध या स्व-बोध होता है तथा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी मिट जाती है अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों मिलकर एक हो जाते हैं। ज्ञान की यह निर्विचार, निर्विकल्प, निराश्रित अवस्था ही ज्ञानात्मक साधना की पूर्णता है। आचार्य *कुन्दकुन्द* के अनुसार आत्मा की यही अवस्था केवलज्ञान या केवलदर्शन है।[५६] *समयसार* के टीकाकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य *अमृतचन्द्रजी* ने अपनी टीका में लिखा है कि - विचार की विधाओं से रहित, निर्विकल्प, स्व-स्वभाग में स्थित ऐसा जो आत्मा का सारतत्त्व है, जो अप्रमत्त पुरुषों के द्वारा अनुभूत है, वही विज्ञान है, वही पवित्र-पुराण पुरुष है। उसे ज्ञान कहा जाय या दर्शन (आत्मानुभूति) कहा जाय या किसी नाम से सम्बोधित कहा जाए, वह एक ही है और अनेक नामों से जाना जाता है।[५७]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा के सच्चे स्वरूप की प्रतीति होना नितांत आवश्यक है, यही सम्यग्ज्ञान है। वस्तुत: आत्मज्ञान स्व-स्वरूप का ही ज्ञान है। जो अपने आपको जान लेता है वह सब कुछ का ज्ञाता हो जाता है। *आचारांग* में वर्णन आया है- एक (आत्मा) को जानने पर सब जाना जाता है।[५८] परन्तु क्या आत्मा को स्व के द्वारा जाना जा सकता है? 'स्व' के द्वारा जब भी ज्ञान होगा, पर का होगा। ज्ञान तो ज्ञेय का होता है फिर ज्ञाता का ज्ञान कैसे होगा? क्योंकि ज्ञान की प्रत्येक अवस्था में ज्ञाता ज्ञान के पूर्व उपस्थित होगा और इस प्रकार ज्ञान के हर प्रयास में वह अज्ञेय ही बना रहेगा। *उत्तराध्ययन* में कहा भी गया है कि आत्मा इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, क्योंकि वह तो अमूर्त है।[५९] वैदिक परम्परा की भाँति यहाँ जैनाचार्यों ने निषेधात्मक विधि का प्रयोग किया है। यह निषेधात्मक विधि ही परमार्थ बोध की एकमात्र पद्धति है, जिसके द्वारा सामान्य साधक परमार्थ बोध की दिशा में आगे बढ़ सकता है। निषेधात्मक विधि को जैन परम्परा में भेद-विज्ञान कहा गया है, जिसमें आत्म और अनात्म का भेद किया जाता है। आचार्य *कुन्दकुन्द* ने कहा है-आत्मा न कारक है, न तिर्यञ्च है, न मनुष्य है, न देव है, न बालक है, न वृद्ध है, न तरुण है, न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है और न इस सबका कारण है और न कर्ता ही है।[६०] इस तरह अनात्म-धर्मों (गुणों) के चिन्तन के द्वारा आत्म को अनात्म कारकों से पृथक किया जाता है। आत्म-अनात्म में किया हुआ यही विभेद भेद-विज्ञान के नाम से जाना जाता है। अत: भेद-विज्ञान द्वारा अनात्म के स्वरूप को जानकर उसमें आत्मबुद्धि का परित्याग करना, सम्यग्ज्ञान की साधना है।

सम्यक्-चारित्र

सम्यग्ज्ञानपूर्वक काषायिक भाव अर्थात् राग-द्वेष और योग यानी मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया की निवृत्ति से होनेवाला स्वरूपरमण सम्यक्-चारित्र कहलाता है।[६१] दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिंसादि दोषों का त्याग और अहिंसा आदि महाव्रतों का पालन सम्यक्-चारित्र है। सम्यक्-चारित्र का अर्थ ही होता है चित्त अथवा आत्मा की वासनाओं की मलिनता और अस्थिरता को समाप्त करना। चित्त या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा में यह मलिनता या अस्थिरता स्वाभाविक नहीं, वरन् वैभाविक है, जो बाह्य भौतिक एवं तज्जनित आन्तरिक कारणों से होता है। जैन दर्शन में इस मलिनता के कारण को कर्ममल कहा गया है। जिस प्रकार नीचे की ओर बहनेवाला पानी दबाव के कारण ऊपर चढ़ने लगता है, उसी प्रकार चित्त या आत्मा शुद्ध होते हुए भी कर्मों या बाह्यमलों से अशुद्ध हो जाती है। परन्तु जैसे ही बाह्य संयोगों से अलग होती है, अपने शुद्ध एवं स्वाभाविक रूप में आ जाती है। आत्मा अपने स्वाभाविक रूप में तात्त्विक दृष्टि से शुद्ध है।[६२] दरअसल सम्यक्-चारित्र का कार्य ही है चित्त या आत्मा को इन संयोगों से अलग कर स्वाभाविक समत्व की दिशा में ले जाना। आचार्य कुन्दकुन्द के इस कथन से इसका समर्थन होता है कि वास्तव में चारित्र ही धर्म है, जो धर्म है वह समत्व है और मोह एवं क्षोभ से रहित आत्मा की शुद्ध दशा को प्राप्त करना समत्व है।[६३]

अत: आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के लिए श्रद्धा और ज्ञान के साथ-साथ चारित्र का होना भी आवश्यक है, क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सम्यक्-चारित्र के बिना पूर्णता को प्राप्त नहीं होते हैं। सम्यग्दर्शन परिकल्पना है, सम्यग्ज्ञान प्रयोग विधि है तथा चारित्र प्रयोग। इन तीनों के संयोग से ही सत्य का साक्षात्कार होता है। जैनागम में कहा भी गया है कि ज्ञान का सार आचार है और आचार का सार निर्वाण या परमार्थ की उपलब्धि है।[६४]

चारित्र के प्रकार

जैन मान्यता के अनुसार चारित्र दो प्रकार के हैं- (१) व्यवहार चारित्र और (२) निश्चय चारित्र। आचरण का बाह्य पक्ष व्यवहार चारित्र तथा भव पक्ष या अन्तरात्मा पक्ष निश्चय चारित्र है।

चारित्र का निश्चय पक्ष

निश्चय चारित्र ही मुक्ति का सोपान है। जब साधक वासनाओं, कषायों तथा राग-द्वेष से रहित हो विवेकपूर्ण आचरण करता है तब उसका वह आचरण निश्चय चारित्र कहलाता है। यह अप्रमत्त चेतना की अवस्था है जिसमें राग-द्वेष, कषाय, विषयवासना, आलस्य और निद्रा आदि का अभाव होता है। अप्रमत्त चेतना में होनेवाले सभी कार्य शुद्ध माने गये हैं।

चारित्र का व्यवहार पक्ष

चारित्र के व्यवहार पक्ष का सम्बन्ध हमारे मन, वचन और कर्म की शुद्धि तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस शुद्धि के कारणभूत नियमों से है। वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत षट् द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय, इनका श्रद्धान्, इनके स्वरूप का ज्ञान और व्रतादि अनुष्ठानरूप आचरण व्यवहार मोक्षमार्ग है।[६५] गृहस्थ और श्रमणधर्म की अपेक्षा से व्यवहारचारित्र का देशव्रती-चारित्र और सर्वव्रती-चारित्र दो रूपों में विभाजन किया गया है। देशव्रती-चारित्र का सम्बन्ध गृहस्थाचार से है जिसके अन्तर्गत अष्टमूलगुण, षटकर्म, बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाओं का पालन किया जाता है। श्वेताम्बर मान्यता में अष्टमूल गुणों के स्थान पर सप्तव्यसन त्याग एवं ३५ (पैतीस) मार्गानुसारी गुणों का विधान मिलता है। श्रमण आचार (सर्वव्रती चारित्र) के अन्तर्गत पंच महाव्रत, रात्रिभोजन का त्याग, पंच समिति, तीन गुप्ति, दश यतिधर्म, बारह अनुप्रेक्षाएँ, बाईस परीषह, अट्ठाईस मूलगुण, बावन अनाचार आदि का विवेचन देखने को मिलता है।

जैन ग्रन्थों में चारित्र का वर्गीकरण गृहस्थ एवं श्रमण धर्म के अतिरिक्त अन्य अपेक्षाओं से भी किया गया है-

चारित्र के चार प्रकार

स्थानांग[६६] में घट के प्रकारों को बताते हुए आचरण की अपेक्षा से चारित्र के चार प्रकार किये गये हैं। घट के चार प्रकार निम्न हैं- (१) भिन्न अर्थात् फूटा हुआ (२) जर्जरित, (३) परिस्रावी और (४) अपरिस्रावी।

फूटे घट के समान- जब साधक धारण किये हुए महाव्रतों को सर्वथा भंग कर देता है तो उसका चारित्र फूटे हुए घड़े के समान हो जाता है, नैतिकता की दृष्टि से उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता ।

जर्जरित घट के समान- जब कोई साधक ऐसा कोई अपराध करता है जिसके कारण उसकी दीक्षा-पर्याय का छेद किया जाता है, तो उस साधक का चारित्र जर्जरित घट के समान कहलाता है।

परिस्रावी- जिस साधक के चारित्र में सूक्ष्म दोष होता है वह चारित्र परिस्रावी कहलाता है।

अपरिस्रावी- जिस साधक का चारित्र निर्दोष एवं निरतिचार होता है वह अपरिस्रावी कहलाता है।

चारित्र के पाँच प्रकार

तत्त्वार्थसूत्र में चारित्र के पाँच प्रकार बताये गये हैं- (१) सामायिक चारित्र, (२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छेदोपस्थापनीय चारित्र (३) परिहारविशुद्धि चारित्र (४) सूक्ष्मसम्पराय चारित्र और (५) यथाख्यात चारित्र।[६७]

सामायिक चारित्र- समभाव में स्थित रहने के लिए समस्त अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग करना सामायिक चारित्र है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि वासनाओं, कषायों एवं राग-द्वेष की वृत्तियों से निवृत्ति तथा समभाव की प्राप्ति सामायिक चारित्र है। इसके भी दो प्रकार हैं - (क) इत्वरिक- जो थोड़े समय के लिए दीक्षा ग्रहण करता है और (ख) यावत्कथित- जो सम्पूर्ण जीवन के लिए दीक्षा ग्रहण करता है।

छेदोपस्थापनीय चारित्र- प्रथम दीक्षा के बाद विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर लेने पर विशेष शुद्धि के लिए जीवनपर्यन्त पुन: जो दीक्षा ली जाती है अर्थात् प्रथम दीक्षा में दोषापत्ति आने से उसका छेद करके फिर नये सिरे से जो दीक्षा का आरोपण किया जाता है, उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं।[६८]

परिहारविशुद्धि चारित्र- जिसमें विशिष्ट प्रकार के तप-प्रधान आचार का पालन किया जाता है उसे परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि जिस आचरण से कर्मों का अथवा दोषों का परिहार होकर निर्जरा के द्वारा विशुद्धि हो वह परिहारविशुद्धि चारित्र है।

सूक्ष्मसम्पराय चारित्र- जिस अवस्था में क्रोध आदि कषायों का उदय नहीं होता, केवल लोभ का अंश अति सूक्ष्मता में रह जाता है उस अवस्था को सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहते हैं।[६९]

यथाख्यात चारित्र- जिस अवस्था में किसी भी कषाय का बिल्कुल उदय नहीं होता, उस अवस्था को यथाख्यात् अर्थात् वीतराग चारित्र कहते हैं।

चारित्र के उपर्युक्त सभी प्रकार के भेद-विभेद आदि आत्मशोधन की प्रक्रियाएं हैं। जो प्रक्रिया जितनी ही अधिक मात्रा में आत्मा को राग, द्वेष और मोह से निर्मल बनाती है, वह उतनी ही अधिक मात्रा में चारित्र के उज्ज्वलतम पक्ष को प्रस्तुत करती है।

सम्यग्तप

जैन परम्परा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र के साथ सम्यग्तप का भी उल्लेख आया है, जिसका आगे चलकर सम्यक्-चारित्र में अन्तर्भाव हो गया है। लेकिन प्राचीन युग में जैन परम्परा में सम्यग्तप का स्वतंत्र स्थान रहा है। भारतीय धर्मों में ही नहीं, अपितु विश्व के प्रत्येक धर्म में, यहाँ तक कि धर्म को नहीं माननेवाले विद्वानों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व विचारकों के शब्दों में, उनकी भावनाओं में भी यह धारणा गूँजती रही है। तप सिर्फ हमारी अध्यात्म साधना का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण जीव-जगत का प्राणतत्त्व है। तप नैतिकता की शक्ति है, तप-शून्य नैतिकता खोखली है, तप नैतिकता की आत्मा है। भरत सिंह उपाध्याय के शब्दों में - "भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उद्दात्त एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, वह सब तपस्या से ही सम्भूत है, तपस्या से ही इस राष्ट्र का बल या ओज उत्पन्न हुआ है।

....तपस्या भारतीय दर्शन की ही नहीं, बल्कि उसके समस्त इतिहास की प्रस्तावना है... प्रत्येक चिन्तनशील प्रणाली चाहे वह आध्यात्मिक हो चाहे आधिभौतिक, सभी तपस्या की भावना से अनुप्राणित हैं... उसके वेद, वेदांग, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र आदि सभी विद्या के क्षेत्र जीवन की साधना रूप तपस्या के एकनिष्ठ उपासक हैं"।[७०] तप भारतीय साधना का प्राण है। जिस प्रकार शरीर में उष्मा जीवन के अस्तित्व का द्योतक है, उसी प्रकार साधना में तप भी उसके दिव्य अस्तित्व का बोध कराती है। भारतीय नैतिक जीवन या आचार-दर्शन में तप के महत्त्व को अधिक स्पष्ट करते हुए काका कालेलकर ने लिखा है - "बुद्धकालीन भिक्षुओं की तपश्चर्या के परिणामस्वरूप ही अशोक के साम्राज्य का और मौर्यकालीन संस्कृति का विस्तार हो पाया। *शंकराचार्य* की तपस्या से हिन्दू धर्म का संस्करण हुआ। *महावीर* की तपस्या से अहिंसा धर्म का प्रचार हुआ।..... बंगाल के *चैतन्य महाप्रभु* जो मुखशुद्धि के लिए एक हर्रे भी नहीं रखते थे, उन्हीं से बंगाल की वैष्णव संस्कृति विकसित हुई।[७१]

यह तो सत्य है कि भारतीय नैतिक विचारधाराओं व आचार दर्शनों का जन्म 'तपस्या' के गर्भ से हुआ, सभी उसी की गोद में पले और विकसित हुए हैं। भारतीय जीवन की हर साँस साधना का रूप होती है। यही कारण है कि भारत का चाहे व्यक्तिगत जीवन हो या पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन हो या धार्मिक जीवन, सर्वत्र जीवनधारा में साधना की उर्मियाँ लहराती है, साधना का स्वर मुखरित होता रहता है। डॉ० सागरमल जैन के शब्दों में -"जैन साधना समत्वयोग की साधना है और यही समत्वयोग आचरण के व्यावहारिक क्षेत्र में अहिंसा बन जाता है, यही अहिंसा निषेधात्मक साधना-क्षेत्र में संयम कही जाती है और संयम ही क्रियात्मक रूप में तप है।[७२] इसे दूसरे शब्दों में इस तरह कहा जा सकता है कि तप योग की एक ऐसी कड़ी है, जिससे साधक समस्त कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ होता है। तप द्वारा ही कर्म-पाशों से साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र को प्राप्त करता है। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि तप भारतीय दर्शन-परम्परा की ही नहीं बल्कि उसके सम्पूर्ण इतिहास की प्रस्तावना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप की परिभाषा

तप की आराधना गृहस्थ एवं साधु दोनों के लिए आवश्यक है। अन्तर इतना है कि गृहस्थ तपस्वी की भाँति तप की कठोर आराधना नहीं कर सकता, क्योंकि व्यावहारिक कर्तव्यों का सम्पूर्ण उच्छेद कर देना उसके लिए सम्भव नहीं है। तप का अर्थ ही होता है कर्मफल या संचित कर्म को जलाना या नष्ट करना तथा ऐसी साधना के लिए सर्वांशत: तपस्वी अथवा साधक ही उचित ठहरते हैं। जैन योग-साधना में जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है और इसके लिए तप को विशेष साधन के रूप में माना गया है। यही कारण है कि तप का विशेष वर्णन जैनागमों में मिलता है। तप को परिभाषित करते हुए कहा गया है जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता है, उसे भस्मसात कर डालने में समर्थ हो उसे तप कहते हैं।[७३]

जैनागमों के प्रसिद्ध चूर्णिकार *जिनदासगणी महत्तर* ने भी तप की व्युत्पत्तिजन्य परिभाषा बताते हुए कहा है - जिस साधना आराधना से, उपासना से पाप कर्म तप्त हो जाते हैं, उसे तप कहते हैं।[७४] आचार्य *अभयदेव सूरि* ने तप का निरुक्त (शाब्दिक) अर्थ करते हुए *स्थानांगवृत्ति* में कहा है - जिस साधना के द्वारा शरीर के रस, रक्त, मांस, हड्डियाँ, मज्जा, शुक्र आदि तप जाते हैं, सूख जाते हैं, वह तप है तथा जिसके द्वारा अशुभ कर्म जल जाते हैं वह तप है।[७५] तप की भावप्रधान परिभाषा करते हुए *उत्तराध्ययन* में कहा गया है- त्याग करने से इच्छाओं का निरोध हो जाता है।[७६] त्याग से इच्छा, आशा, तृष्णा शान्त हो जाती है। वास्तव में तप की यह भावात्मक और व्यापक परिभाषा है। इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि तप मात्र देह-दमन तक सीमित नहीं है बल्कि उसका अकुंश इच्छा और वासना पर भी रहता है जिससे आत्मा परिशुद्ध होती है।[७७] अत: तप वह विधि है जिससे जीव बद्ध कर्मों का क्षय करके व्यवदान अर्थात् विशुद्धि को प्राप्त होता है।[७८] इतना ही नहीं तप का सम्बन्ध संयम से भी है। शास्त्रों में जहाँ-जहाँ संयम का वर्णन आया है, वहाँ-वहाँ तप का वर्णन भी अवश्य देखने को मिलता है। जिस प्रकार हवा के बिना अग्नि प्रज्वलित नहीं हो सकती है, उसी प्रकार संयम के बिना तप की साधना भी नहीं चल सकती है। व्यवहार में संयम और तप कहने को तो दो शब्द हैं, परन्तु दोनों के भाव एक ही हैं-इन्द्रिय संयम, मन संयम, वचन संयम आदि। आचार्य *सोमदेव सूरि* ने कहा है- पाँच इन्द्रिय और मन को वश में करना, इन पर संयम रखना, इच्छाओं पर अंकुश लगाना आदि का नाम तप है।[७९]

तप के प्रकार

तप की विधियाँ एवं प्रक्रियाएं अलग-अलग होने के कारण इसके अलग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलग भेद एवं प्रभेद बताये गये हैं, किन्तु मूलत: आगमों में दो प्रकार के ही तप मिलते हैं- बाह्य तप एवं आभ्यन्तर तप।[८०] बाह्य तप का अर्थ है बाहर से दिखलाई देनेवाला तप, यथा-उपवास। उपवास का स्पष्ट प्रभाव शरीर पर दृष्टिगोचर होता है। कायक्लेश, अभिग्रह, भिक्षावृत्ति ये सब ऐसी विधियाँ है जो बाहर में स्पष्ट झलकती हैं। आभ्यन्तर तप का अर्थ है- अन्दर में चलनेवाली शुद्धि प्रक्रिया। इस तप का सम्बन्ध मन से अधिक रहता है। मन को परिमार्जित करना, सरल बनाना, एकाग्र करना, शुभ चिन्तन में लगाना आदि आभ्यन्तर तप की विधियाँ हैं, यथा-ध्यान, स्वाध्याय, विनय आदि। प्राय: ऐसा सुनने में आता है कि बाह्य तप साधारण है तथा आभ्यन्तर तप बड़ा है। परन्तु शास्त्रों में जो महत्त्व आभ्यन्तर तप का है वही महत्त्व बाह्य तप का भी है। जिस प्रकार एक ही पुस्तक के दो अध्याय होते हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं उसी प्रकार बाह्य एवं आभ्यन्तर तप भी तप के दो पहलू हैं। ऐसा नहीं है कि जैनधर्म केवल बाह्य तप का ही आग्रह करता है। यदि आभ्यन्तर तप न हो तो बाह्य तप की कोई सार्थकता नहीं है। आचार्य *संघदास गणि* ने कहा है- हम केवल अनशन आदि से कृश-दुर्बल-क्षीण शरीर की प्रशंसा करनेवाले नहीं हैं। वास्तव में तो वासना, कषाय और अहंकार को क्षीण करना चाहिए। जिसकी वासना क्षीण हो गयी हम उसी की प्रशंसा करेंगे।[८१] इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर एक-दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों प्रकार के तपों का सम्यक् रूप से पालन करनेवाला पंडित मुनि शीघ्र ही सर्व संसार से मुक्त हो जाता है।[८२]

बाह्य तप

तप के दो भेद करके प्रभेद रूप में दोनों के छ:-छ: भेद बताये गये हैं। बाह्य तप के छ: भेदों में उसके अन्तर्भेद भी अनेक हैं। बाह्य तप के छ: भेद[८३] इस प्रकार हैं- (१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) भिक्षाचारी, (४) रस-परित्याग, (५) कायक्लेश, (६) प्रतिसंलीनता।

अनशन- अनशन का अर्थ होता है- अशन का त्याग। अशन आहार को कहते हैं। भोजन का त्याग करना अनशन है। अनशन से उपवास, निराहार आदि का भी अर्थ लिया जाता है। अनशन को सभी तपों में प्रथम स्थान दिया गया। क्यों? क्योंकि अनशन में भूख पर विजय करनी होती है और भूख ही संसार में दुर्जेय है। अनशन से बढ़कर कोई तप नहीं है।[८४] अनशन के दो भेद हैं- इत्वरिक और यावत्कथिक।[८५] इत्वरिक तप में समय की मर्यादा रहती है, निश्चित समय के पश्चात् भोजन की आकांक्षा रहने से इस तप को सावकांक्ष तप भी कहा जाता है। यावत्कथिक (मरणकाल) में जीवनपर्यन्त आहार का त्याग कर दिया जाता है, इसमें भोजन की कोई आकांक्षा शेष नहीं रहती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए इसे निरवकांक्ष तप भी कहा जाता है।[८६] यावत्कत्थिक को मरणकाल तप भी कहते हैं। *व्याख्याप्रज्ञप्ति* में कहा गया है कि आहार-त्याग एक दिन का भी हो सकता है और उत्कृष्ट छः महीने का या जीवनपर्यन्त[८७] अर्थात् सामर्थ्य के अनुसार साधक लम्बी अवधि तक का भी अनशन कर सकता है।

ऊनोदरी- अल्पाहार, परिमित आहार आदि शब्दों से ऊनोदरी का भाव प्रकट होता है। ऊनोदरी बाह्य तप का दूसरा भेद है जिसका अर्थ प्रायः 'कम खाना' से लिया जाता है। ऊन का अर्थ होता है- कम तथा उदर का अर्थ होता है- पेट। अर्थात् भोजन के समय पेट को खाली रखना, भूख से कम खाना ऊनोदरी है। भोजन का सर्वथा त्याग कर देना तो तप है ही, पर भोजन करने के लिए तैयार होकर भूख से कम खाना, खाते-खाते रसना पर संयम कर लेना और स्वाद आते हुए भोजन को बीच ही में छोड़ देना भी उतना ही दुष्कर है जितना की उपवास करना।

भिक्षाचारी- भिक्षा का सीधा एवं सरल अर्थ होता है- याचना करना, माँगना। किन्तु सिर्फ माँगना मात्र ही तप नहीं होता। भिक्षाचारी का सही अर्थ होता है- नियमपूर्वक, पवित्र उद्देश्य से और शास्त्रसम्मत विधि-विधान के साथ आहार ग्रहण करना। इसे ही कहीं-कहीं शास्त्रों में गोचरी, मधुकरी और कहीं वृतिसंक्षेप या वृत्तिपरिसंख्यान के नाम से भी अभिहित किया गया है।

रस-परित्याग- 'रस प्रीति विवर्धकं' अर्थात् जिसके कारण भोजन में, वस्तु में प्रीति उत्पन्न होती है उसे 'रस' कहते हैं। अतः दूध, घी, मक्खन, मधु आदि गरिष्ठ विकारवर्धक पदार्थों का त्याग करना रस-परित्याग कहलाता है।[८८] प्रतिदिन एक-एक रस का परित्याग भी किया जाता है। यह त्याग साधु भी कर सकता है तथा गृहस्थ भी। उपवास आदि तप की अपनी अलग-अलग काल मर्यादाएं हैं, किन्तु रस-परित्याग तप तो जीवन भर की सतत् साधना है।

कायक्लेश- कायक्लेश का अर्थ है- शरीर को कष्ट देना। ठंडा, गर्मी या विविध आसनों द्वारा शरीर को कष्ट पहुँचाना काय-क्लेश तप है। कष्ट भी दो प्रकार का होता है- एक प्राकृतिक जो स्वयं अपने आप अनचाहे रूप में आ जाता है, यथा-सर्दी में शीत लहरें, गर्मी में लू के थपेड़े आदि। दूसरा कष्ट, जो उदीरणा करके साधक स्वतः लेता है, यथा-कठोर आसन करना, ध्यान लगाकर स्थिर खड़े हो जाना आदि। साधक के जीवन में उक्त दोनों प्रकार के कष्ट आते हैं। परन्तु साधक कायक्लेश तप के द्वारा शरीर को इतना साध लेता है कि बाहर के कष्टों का उसके शरीर पर जल्दी असर नहीं होता जितना की सामान्य व्यक्तियों के शरीर पर होता है। साधना से सहने की क्षमता इतनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीव्र हो जाती है कि बाह्य कष्टों का उसके शरीर एवं मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। साधना की यह स्थिति ही कायक्लेश तप की स्थिति है। आचार्य *श्रुतसागरजी* ने कायक्लेश के इसी अर्थ को स्वीकार किया है। उनके अनुसार- कायक्लेश के अभ्यास से शारीरिक दु:ख को सहने की क्षमता और शारीरिक सुखों के प्रति अनाकांक्षा बढ़ती है।[८९] ग्रीष्म ऋतु में आतापना लेना, वर्षा ऋतु में तरुमूल में निवास करना, शीत ऋतु में अपावृत स्थान में सोना, नाना प्रकार की प्रतिमाओं को स्वीकार करना, न खुजलाना, शरीर की विभूषा न करना आदि कायक्लेश तप हैं।[९०]

प्रतिसंलीनता- प्रतिसंलीनता का अर्थ होता है- आत्मा के प्रति लीनता। परभाव में लीन आत्मा को स्वभाव में लीन बनाने की प्रक्रिया ही प्रतिसंलीनता कहलाती है। प्रतिसंलीनता का अर्थ 'गोपन' भी होता है। *व्याख्याप्रज्ञप्ति* में कहा गया है कि साधक को कछुए की भाँति समस्त इन्द्रियों एवं अंगोंपांगों का गोपन करके रहना चाहिए।[९१] शास्त्रों में इसे गुप्ति, संयम, विविक्तशय्यासन भी कहा गया है। प्रतिसंलीनता के चार भेद[९२] बताये गये हैं- इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, कषाय प्रतिसंलिनता, योग-प्रतिसंलिनता और विविक्तशय्यासन प्रतिसंलीनता।

इस प्रकार बाह्य तप से जहाँ इन्द्रियों की विषय-वासना क्षीण होती है वहीं सुख की भावना भी परित्यक्त होती है। आत्मसंवेग की स्थापना होती है और आत्मिक शक्ति की प्राप्ति होती है। देह, पदार्थ और सुख के प्रति कोई आसक्ति नहीं रहती।

आभ्यन्तर तप

आभ्यन्तर तप का सम्बन्ध मन से होता है। अन्तरंग शुद्धि और अन्तरंग दोषों का परिहार इसका मुख्य कार्य है। बाह्य तप स्थूल है जिसका वर्णन खाद्य पदार्थों की अपेक्षा से किया गया है, क्योंकि साधक स्वाभिप्राय की अपेक्षा से उनका सेवन करता है। जबकि आभ्यन्तर तप सूक्ष्म है और आत्मपरिणामों की विशुद्धि जिसका मुख्य कार्य है। आभ्यन्तर तप के भी छ: भेद[९३] बताये गये हैं- (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग।

प्रायश्चित्त- प्रायश्चित्त शब्द 'प्राय:' और 'चित्त' के संयोग से बना है। जिसमें प्राय: का अर्थ होता है- अपराध और चित्त का अर्थ होता है- शोधन। अर्थात् जिस क्रिया से अपराध की शुद्धि हो वह प्रायश्चित्त है।[९४] आचार्य *पूज्यपाद* के अनुसार-किसी व्रत-नियम के भंग होने पर उसमें लगे दोष का परिहार करना अथवा गुरु के समक्ष चित्तशुद्धि के लिए दोषों की आलोचना करना और उसके लिए प्रायश्चित्त स्वीकार करना, प्रायश्चित तप है।[९५] इसके दस प्रकार हैं[९६]- (क) आलोचना, (ख) प्रतिक्रमण, (ग) तदुभय,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(घ) विवेक, (ङ) कायोत्सर्ग, (च) तपस्या, (छ) छेद, (ज) मूल, (झ) परिहार और (ञ) श्रद्धान्।

आलोचना- आलोचना का अर्थ होता है 'अपना दोष सरल मन से गुरुजनों के समक्ष प्रकट कर देना।' तात्पर्य है कि व्रत की मर्यादा का उल्लंघन होने पर गुरु के पास जाकर दोष स्वीकार करना तथा उसके बदले नया व्रत ग्रहण करना।

प्रतिक्रमण- आलोचना के पश्चात् दूसरा प्रायश्चित्त है- प्रतिक्रमण । प्रतिक्रमण का अर्थ होता है- वापस लौटना। साधक का मन शुभयोग से जब अशुभ योग की ओर चला जाता है, तब अशुभयोग से पुन: शुभ योग में वापस लौट आना ही प्रतिक्रमण कहलाता है। तात्पर्य है चारित्रिक पतन से पुन: लौट आना, अपनी गलती को सुधार लेना ही प्रतिक्रमण है।

तदुभय- जिस गलती की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है और आलोचना भी की जाती है, उसे तदुभय प्रायश्चित्त कहते हैं।

विवेक- विवेक का अर्थ होता है- त्याग, छोड़ना। अशुद्ध आहार आदि के आ जाने पर साधक एकांत स्थान में उसका विसर्जन कर देता है। इसे हम ऐसे भी परिभाषित कर सकते हैं कि असदाचरण को असदाचरण के रूप में जान लेना विवेक है।

कायोत्सर्ग- प्रायश्चित्त स्वरूप कायोत्सर्ग करना अथवा असदाचरण का परित्याग करना, कायोत्सर्ग है। मार्ग में चलने से यदि कोई दोष लग गया हो तो उसका प्रायश्चित करने के लिए ध्यान (कायोत्सर्ग) किया जाता है। कायोत्सर्ग करने से ही उस दोष की विशुद्धि हो जाती है

तपस्या- अपराध या गलती के होने से आत्मशुद्धि के निमित्त उपवास आदि करना तपस्या है।

छेद- मुनि जीवन में दीक्षा पर्याय को दोष के अनुसार दिवस, पक्ष, मास या वर्ष की प्रव्रज्या में कम कर देना छेद प्रायश्चित्त है।

मूल- कभी-कभी मुनि (साधु) इतने गुरुत्तर दोषों का सेवन कर लेते हैं कि आलोचना और तप आदि से भी उनकी शुद्धि नहीं हो सकती। उन दोषों की शुद्धि के लिए श्रमण जीवन या दीक्षा पर्याय को समाप्त कर पुन: दीक्षा लेना अथवा पुन: नये सिरे से श्रमण जीवन का प्रारम्भ करना मूल प्रायश्चित्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिहार- अपराधी श्रमण को श्रमण संघ से बहिष्कृत करना परिहार प्रायश्चित्त है।

श्रद्धान्- अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि महाव्रतों के भंग हो जाने पर पुनः प्रारम्भ से उन महाव्रतों का आरोपण करना श्रद्धान् है।

विनय तप - विनय के तीन अर्थ होते हैं- अनुशासन, आत्मसंयम (शील) और नम्रता एवं सद्व्यवहार। परन्तु विनय का वास्तविक अर्थ होता है- वरिष्ठ एवं गुरुजनों का सम्मान तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करते हुए अनुशासित जीवन जीना। विनय तप को परिभाषित करते हुए *सर्वार्थसिद्धि* में कहा गया है कि अपने से वरिष्ठ गुरु अथवा आचार्यों का आदर करना तथा उनकी आज्ञा का पालन करना विनय तप है।[९७] *तत्त्वार्थसूत्र* में विनय के चार भेद कहे गये हैं[९८] - (१) ज्ञान विनय, (२) दर्शन विनय, (३) चारित्र विनय, तथा (४) उपचार विनय।

स्थानांग[९९] में विनय के सात प्रकारों का वर्णन है- ज्ञान-विनय, दर्शन- विनय, चारित्र-विनय, मनो-विनय, वचन-विनय, काय-विनय तथा लोकोपचार-विनय।

वैयावृत्य तप -धर्म-साधना में सहयोग करनेवाली आहार आदि वस्तुओं के द्वारा सहयोग करने के अर्थ में वैयावृत्य शब्द का प्रयोग होता है। वैयावृत्य सेवा, शुश्रुषा, पर्युपासना, साधर्मिक वात्सल्य आदि अनेक नामों से जाना जाता है। *सर्वार्थसिद्धि* में इसको परिभाषित करते हुए कहा गया है- शरीर से अथवा योग्य साधनों को जुटाकर उपासना भाव से गुरु, मुनि, वृद्ध व रोगी साधक आदि की सेवा शुश्रुषा करना वैयावृत्य तप है।[१००] भिक्षुसंघ में दस प्रकार[१०१] के साधकों की सेवा करना भिक्षु का कर्तव्य है-

(क) आचार्य की सेवा, (ख) उपाध्याय की सेवा, (ग) तपस्वी की सेवा, (घ) शैक्ष्य की सेवा, (ङ) रोगी की सेवा, (च) वृद्ध मुनि की सेवा, (छ) सहपाठी की सेवा, (ज) अपने भिक्षुसंघ के सदस्यों की सेवा, (झ) संयम करनेवाले प्रव्रजित मुनि की सेवा, (ञ) ज्ञानादि गुणों में समान शीलवालों की सेवा।

स्वाध्याय तप - सत्शास्त्रों का मर्यादापूर्वक पठन करना, विधि सहित अच्छी पुस्तकों का अध्ययन करना स्वाध्याय है।[१०२] *सर्वार्थसिद्धि* में कहा गया है- ज्ञान प्राप्ति के लिए आलस तजकर अध्ययन करना स्वाध्याय तप है।[१०३] अभ्यास की दृष्टि से इसके भी पाँच प्रकार हैं- (क) वाचना, (ख) प्रच्छना, (ग) अनुप्रेक्षा, (घ) आम्नाय, (ङ) धर्मकथा।

वाचना - वाचना का अर्थ होता है- पढ़ना। शब्द का शुद्ध उच्चारण करना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ को शुद्ध रूप से ग्रहण करना, बिना विचारे न तो जल्दी-जल्दी पढ़ना और न अस्थान में रुक-रुककर पढ़ना तथा 'आदि' शब्द के पढ़ते हुए अक्षर या पद न छोड़ना आदि वाचना है।[१०४]

प्रच्छना - प्रच्छना पूछना, प्रश्न करना आदि अर्थ को ग्रहण करता है। ग्रंथ और अर्थ दोनों के विषय में क्या यह ऐसा है अथवा अन्यथा है, इस सन्देह को दूर करने के लिए अथवा 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार से निश्चितता को दृढ़ करने के लिए प्रश्न करना प्रच्छना है। प्रश्न करना स्वाध्याय का मुख्य अंग है।[१०५]

अनुप्रेक्षा - जाने हुए या निश्चित हुए अर्थ का मन से जो बार-बार चिन्तन किया जाता है, वह अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा के अन्तर्गत ही स्वाध्याय के लक्षण, अन्तर्जल्प रूप पाठ आते हैं। वाचना और अनुप्रेक्षा में अन्तर इतना है कि वाचना में बहिर्जल्प होता है तथा अनुप्रेक्षा में मन में ही पढ़ने या विचारने से अन्तर्जल्प होता है।[१०६]

आम्नाय- पढ़े हुए ग्रंथ का शुद्धतापूर्वक पुनः-पुनः उच्चारण करना आम्नाय है।[१०७]

धर्मकथा- देववन्दना के साथ मंगलपाठपूर्वक धर्म का उपदेश करना धर्मकथा कहलाता है।[१०८]

ध्यान तप - मन की एकाग्र अवस्था का नाम ध्यान है। दूसरे शब्दों में चित्त की अवस्थाओं को किसी विषय पर केन्द्रित करना ध्यान है। ध्यान के चार भेद बताये गये हैं- आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। प्रस्तुत पुस्तक में ध्यान पर एक स्वतंत्र अध्याय है, अतः इसकी चर्चा उसके अन्तर्गत की जायेगी ।

व्युत्सर्ग तप - व्युत्सर्ग का अर्थ होता है- त्यागना, छोड़ना आदि। विशिष्ट प्रकार का त्याग व्युत्सर्ग है। *तत्त्वार्थराजवार्तिक* में वर्णन आया है- निःसंगता, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग ही व्युत्सर्ग है।[१०९] *सर्वार्थसिद्धि* में अहंकार, ममकार आदि सभी उपाधियों के त्याग को व्युत्सर्ग कहा गया है।[११०] व्युत्सर्ग के दो भेद हैं- बाह्य व्युत्सर्ग और आभ्यन्तर व्युत्सर्ग।[१११] धन-धान्य, मकान, क्षेत्र आदि बाह्य पदार्थों की ममता का त्याग करना बाह्योपधि-व्युत्सर्ग कहलाता है और शरीर की ममता एवं काषायिक विकारों की तन्मयता का त्याग करना आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग । बाह्य-व्युत्सर्ग के भी चार प्रकार माने गये हैं-

(१) शरीर व्युत्सर्ग - इसका दूसरा नाम कायोत्सर्ग है। कुछ समय के लिए शरीर से ममत्व को हटा लेना कायोत्सर्ग है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) गण व्युत्सर्ग - सामान्यतया गण से समूह का अर्थ ग्रहण किया जाता है, किन्तु यहाँ गण एक या एकान्तता का बोधक है। साधना के निमित्त सामूहिक जीवन को छोड़कर एकान्त में अकेले साधना करना गण व्युत्सर्ग कहलाता है।

(३) उपधि व्युत्सर्ग - संयम-साधना में आवश्यक मर्यादानुसार वस्त्र, पात्र आदि मुनि जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का त्याग करना या उनमें कमी करना, उपधि व्युत्सर्ग के नाम से जाना जाता है।

(४) भक्तपान व्युत्सर्ग - भोजन, पानी आदि का त्याग करना भक्तपान व्युत्सर्ग कहलाता है। यह अनशन का ही रूप है।

आभ्यन्तर व्युत्सर्ग के तीन रूप हैं -

(१) कषाय व्युत्सर्ग - क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों का परित्याग करना कषाय व्युत्सर्ग है।

(२) संसार व्युत्सर्ग - प्राणीमात्र के प्रति राग-द्वेष की प्रवृत्तियों को छोड़कर सबके प्रति समत्वभाव रखना संसार व्युत्सर्ग है।

(३) कर्म व्युत्सर्ग - आत्मा की मलिनता मन, वचन और शरीर की विविध प्रवृत्तियों को जन्म देती है। इस मलिनता का परित्याग करना शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक प्रवृत्तियों का निरोध करना है। यही कर्म व्युत्सर्ग कहलाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनशन से लेकर व्युत्सर्ग तक बारह तपों की एक अस्खलित शृंखला है। जैन धर्म की इस तप-साधना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि दुर्बल से दुर्बल और सबल से सबल पुरुष भी अपनी शक्ति के अनुसार, बल और पुरुषार्थ के अनुसार इस तपोमार्ग की आराधना कर सकता है। छोटे से छोटा व्रत त्याग (चार या पांच घंटे का आहार त्याग) करके भी इस तप की आराधना प्रारम्भ की जा सकती है और फिर ऊनोदरी तो रोगी-भोगी-योगी आदि हर कोई कर सकता है। इस तरह तप की सरलतम साधना भी जैन परम्परा में बताई गयी है तथा धीरे-धीरे तन-मन सध जाने पर कठोर दीर्घ उपवास, ध्यान और कायोत्सर्ग तप की साधना द्वारा साधक को तप की उच्चतम चोटी पर पहुँचने की विधि भी कही गयी है।

पंच आयामी योग

योगविंशिका[११२] में साधन की अपेक्षा से योग के पाँच प्रकार बताये गये हैं -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. स्थान, २. ऊर्ण (वर्ण) ३. अर्थ, ४. आलम्बन और ५. अनालम्बन। इनमें से प्रथम दो (स्थान और ऊर्ण) प्रकार के साधन कर्म-योग के अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि इनमें कायोत्सर्ग, आसन, तप, मंत्र, जप आदि क्रियाओं को करना पड़ता है। वस्तुतः ये सब आचारमीमांसा से सम्बन्धित माने गये हैं। बाद के तीन प्रकार के साधन ज्ञानयोग के अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि इनमें क्रिया की अपेक्षा ज्ञान पर विशेष बल दिया गया है।

आगे आचार्य ने इन पाँचों में से प्रत्येक के चार-चार भेद बतलाये हैं । इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि आदि । इस प्रकार योग के बीस भेद हो जाते हैं। अनालम्बन योग के सिद्ध हो जाने पर 'क्षपक श्रेणी' प्रारम्भ हो जाती है। फलतः साधक परम निर्वाण की प्राप्ति करता है। इसमें साधक के संस्कार इतने दृढ़ हो जाते हैं कि योगप्रवृत्ति करते समय शास्त्र को स्मरण करने की अपेक्षा ही नहीं रहती और समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है।[११३] ये पाँचों योग उसी साधक को सधते हैं जो चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से अंशतः या सम्पूर्णतया चारित्रसम्पन्न होता है।[११४]

आचार्य *हरिभद्र सूरि* के ही *योगबिन्दु* में पंच आयामी योग[११५] का वर्णन मिलता है, जो उपर्युक्त पाँच प्रकारों से भिन्न है - १. अध्यात्म, २. भावना, ३. ध्यान, ४. समता और ५. वृत्ति। अपने सामर्थ्य के अनुसार महाव्रतों को, अणुव्रतों को स्वीकार कर मैत्री, करुणा आदि भावनाओं से युक्त तत्त्वार्थ चिन्तन–मनन करना अध्यात्म, अध्यात्म की एकाग्रतापूर्वक पुनरावर्तन भावना, सूक्ष्म चिन्तन की अवस्था ध्यान, इष्ट-अनिष्ट के प्रति समभाव रखना समता तथा शरीर और मन के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली वृत्तियों की अत्यन्त क्षीणता वृति है।

योग के तीन प्रकार

उपर्युक्त पाँच प्रकार के योगों के अतिरिक्त तीन प्रकार के योगों का भी उल्लेख देखने को मिलता है। वे तीन इस प्रकार हैं - १. इच्छायोग २. शास्त्रयोग ३. सामर्थ्ययोग।

इच्छायोग - अनुष्ठान करने की इच्छा का जाग्रत होना इच्छायोग कहलाता है। यद्यपि साधक अनुष्ठानों को क्रियान्वित करने के लिए प्रयत्नशील होता है, तथापि आलस्यवश उनको कार्यान्वित नहीं कर पाता।

शास्त्रयोग - जिससे तात्त्विक बोध अर्थात् सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति होती है उसे शास्त्रयोग कहते हैं। इसमें साधक आलस्य रहित एवं श्रद्धायुक्त होकर अनुष्ठानों का पालन करता है।[११६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामर्थ्ययोग - आत्महित के लिए शास्त्रों में योग के जिन-जिन उत्तम अनुष्ठानों की चर्चा है, उनका अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के लिए पालन करना सामर्थ्ययोग है।[११७] इस योग को मोक्ष का साक्षात् कारण माना गया है,क्योंकि यह प्रातिभ ज्ञान से युक्त तथा सर्वज्ञता की प्राप्ति करानेवाला है। इसमें साधक का अनुभव अनिर्वचनीय स्थिति में होता है।[११८] सामर्थ्ययोग के दो भेद[११९] किये गये हैं-

(क) धर्मसंन्यास योग तथा **(ख)** योगसंन्यास योग

जिस योग में रागादि से उत्पन्न क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि भाव होते हैं तथा व्रतों का पालन करते समय कभी जीव उन्नत अवस्था और कभी अवनत अवस्था में होता है, उसको धर्मसंन्यास योग कहा जाता है। योगसंन्यास की अवस्था को शैलेशीकरण के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। धर्मसंन्यासी योगी आत्मविकास करते-करते क्रमशः योगसंन्यास की अवस्था तक पहुँचता है।[१२०] इस अवस्था में जीव के ऊपर-नीचे जाने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि तब तक योगी सम्पूर्ण मन, वचन एवं काय के व्यापारों का पूर्णतः निरोध कर लिया होता है और योगी की आत्मा मुक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है। योग के सभी प्रकारों में से इसे सर्वोत्तम योग कहा गया है।[१२१]

जैन परम्परा में कुण्डलिनी योग

योग के प्रकारों में एक कुण्डलिनी योग भी है जिसकी चर्चा वैदिक ग्रंथों में तो मिलती है, परन्तु जहाँ तक जैनागमों का सम्बन्ध है, कुण्डलिनी की चर्चा न आगम ग्रन्थों में प्राप्त होती है, न परवर्ती योग-विषयक साहित्यों में ही । कुण्डलिनी योग द्वारा योगी अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति करता है। तात्पर्य है कि योगी कुण्डलिनी के नवचक्रों के आधार पर जप एवं मन्त्रों का चिन्तन करते-करते मन को एकाग्र करता है तथा आत्मदर्शन करने में समर्थ होता है। आधुनिक जैन साहित्य *नमस्कार स्वाध्याय*[१२२] में कुण्डलिनी के नवचक्रों का वर्णन आया है जिसे वैदिक परम्परा से ग्रहण किया गया है ऐसा माना जा सकता है–

१. गुदा के मध्य भाग में आधार चक्र।

२. लिंग मूल के पास स्वाधिष्ठान चक्र।

३. नाभि के पास मणिपुर चक्र।

४. हृदय के पास अनाहत चक्र।

५. कण्ठ के पास विशुद्ध चक्र।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. घण्टिका के पास ललना चक्र।

७. कपाल स्थित आज्ञा चक्र।

८. मूर्ध्वास्थित ब्रह्मरन्ध्र चक्र।

९. उर्ध्वभाग स्थित सुषुम्ना चक्र।

मंत्रराज रहस्य में भी कुण्डलिनी योग की कुछ चर्चायें मिलती हैं।[१२३]

इस प्रकार योग के विभिन्न प्रकार साधक को मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों प्रकार के धर्मव्यापारों में समताभाव लाने की ओर अग्रसर करते हैं जिनसे की साधक क्रमशः आत्मोन्नति करता हुआ अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करते हुए मोक्ष की प्राप्ति करता है। अतः योग ही परम है। योग ही चरम है। योग ही आनन्द का आलय है। योग ही आत्मानुभूति का निलय है। योग ही ऐहिक और पारलौकिक ऐश्वर्य का दाता है, परित्राता है। *योगप्रदीप* में योग की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है - ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी रत्नत्रययोग ही परम उच्च मोक्षपद को प्राप्त करने का उत्तम साधन है।[१२४] योग शास्त्रों का उपनिषद् है, मोक्षप्रदाता है तथा समस्त विघ्न-बाधाओं को शमन करनेवाला कल्पतरु एवं चिन्तामणि है। धर्मों में प्रधान यह योगसिद्धि तो स्वयं के अनुग्रह अथवा अध्यवसाय से मिलती है।[१२५]

बौद्ध परम्परा में योग का स्वरूप

योग की परिभाषा

बौद्ध परम्परा में योग का अर्थ समाधि या ध्यान से लिया गया है। बोधिसत्व की प्राप्ति होने से पूर्व बुद्ध श्वासोच्छवास के निरोध का प्रयत्न करते थे। *अंगुत्तरनिकाय* में वर्णन आया है - वे अपने शिष्य अग्गिवेस्सन से कहते हैं कि मैं श्वासोच्छवास का निरोध करना चाहता था, इसलिए मैं मुँह, नाक एवं कान में से निकलते हुए साँस को रोकने का, उसे निरोध करने का प्रयत्न करता रहा।[१२६] इससे स्पष्ट होता है कि श्वासोच्छवास की उस प्रक्रिया से बुद्ध को समाधि की प्राप्ति नहीं हुई। इसलिए बोधिसत्व की प्राप्ति के पश्चात् बुद्ध ने हठयोग का त्याग कर मध्यम-प्रतिपद के द्वारा अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया जिसमें समाधि को विशेष महत्त्व दिया गया है।

समाधि को परिभाषित करते हुए *विसुद्धिमग्गो* में कहा गया है - कुशल चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं।[१२७] दूसरी भाषा में कहा गया है जब चित्त किसी कुशल आलम्बन में विक्षेप या चाञ्चल्य का त्याग कर एकाग्र हो जाता है, तो चित्त की उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकाग्रता को ही समाधि कहते हैं।[१२८] जिसका एक आलम्बन होता है उसे एकाग्र कहते हैं और उसका भाव एकाग्रता कहलाता है। चूँकि सभी कुशल धर्म समाधि में प्रतिष्ठित होते हैं, अत: समाधि को प्रमुख माना गया है। जिस प्रकार किसी मीनार की सभी सीढ़ियाँ सबसे ऊपरवाली मंजिल की ओर ही ले जानेवाली होती हैं, ऊपर जाकर ही उनका अंत होता है, उसी प्रकार जितने भी कुशल धर्म है सभी समाधि की ओर जाते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है कि बौद्ध ग्रन्थों में योग शब्द का प्रयोग ही नहीं हुआ है। प्रयोग हुआ है, किन्तु मूल रूप से *पालित्रिपिटक* में योग शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं हुआ है। *धम्मपद* में योग को ज्ञानप्राप्ति का साधन माना गया है।[१२९]

जैन एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में यह माना गया है कि योग-साधना आत्मा की शुद्धि करानेवाली क्रियाएँ हैं, जिनसे आत्मा का उत्तरोतर विकास होता है और वह मोक्ष की ओर अग्रसर होती है।

योग के प्रकार

बौद्ध योग-साधना का मुख्य सम्बन्ध समाधि से है। बुद्धत्व की प्राप्ति के बाद पंचवर्गीय भिक्षुओं को दिये गये अपने प्रथम धर्मोपदेश में *बुद्ध* ने सबसे पहले ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग बताते हुए कहा कि प्रव्रजितों को दो अन्तों का सेवन नहीं करना चाहिए। कारण, इन दोनों अन्तों के सेवन करने से न तो कामतृष्णा का विनाश होता है और न ही सच्चे ज्ञान का लाभ। इसके लिए तो मध्यममार्ग अर्थात् बीच का रास्ता ही श्रेयस्कर है। ज्ञान प्राप्ति की साधना करनेवाले योगी को न तो काम सेवन में लिप्त होना चाहिए और न ही अपने शरीर को कष्ट देना चाहिए। यही बीच का रास्ता बौद्ध धर्म में 'मध्यम-प्रतिपदा' के नाम से जाना जाता है।[१३०] इस मध्यम प्रतिपदा का दूसरा नाम ही आर्य अष्टांगिक-मार्ग है। आर्य अष्टांगिक-मार्ग में ऐसे आठ अंगों का समावेश किया गया है जिनके पालन करने से व्यक्ति शील तथा समाधि को प्राप्त कर प्रज्ञा लाभ करता है। निर्वाणगामी मार्गों में अष्टांगिक-मार्ग श्रेष्ठ है। जिस प्रकार सभी धर्मों में वैराग्य और मनुष्य में चक्षुस्मान ज्ञानी-- *बुद्ध* श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार लोक में जितने भी सत्य हैं उनमें आर्यसत्य श्रेष्ठ है। *बुद्ध* का यह अष्टांगिक-मार्ग दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपद के नाम से भी जाना जाता है। इसके अन्तर्गत वे समस्त साधनाएँ आ जाती हैं जो दु:ख निरोध में सहायक होती हैं।[१३१] अष्टांगिक-मार्ग के आठ-अंग निम्नलिखित हैं - १. सम्यक्-दृष्टि, २. सम्यक्-संकल्प, ३. सम्यक्-वाक, ४. सम्यक्-कर्मान्त, ५. सम्यक्-आजीव, ६. सम्यक्-व्यायाम, ७. सम्यक्-स्मृति, ८. सम्यक्-समाधि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्-दृष्टि - दृष्टि का अर्थ होता है - ज्ञान। सत्कार्य के लिए ज्ञान की भित्ति का होना आवश्यक माना गया है, क्योंकि विचार की भित्ति पर ही आचार खड़ा होता है। इसीलिए अष्टांगिक आचार-मार्ग में सम्यक्-दृष्टि को प्रथम स्थान दिया गया है। अविद्या के कारण हम ऐसा समझते हैं कि मनुष्य अमर है, संसार सत्य है; किन्तु यह हमारी मिथ्या-दृष्टि है। इस मिथ्या-दृष्टि को सही ढंग से समझना अर्थात् आत्मा और जगत के अस्तित्व के सम्बन्ध में सही ज्ञान प्राप्त करना तथा आर्यसत्य के प्रति विश्वास सम्यक्-दृष्टि है।[१३२] *मज्झिमनिकाय* के सम्मादिट्ठिसुत्त[१३३] में कहा गया है - दुराचरण को, दुराचरण के मूल कारण को, सदाचरण को तथा सदाचरण के मूल कारण को पहचान लेना ही सम्यक्-दृष्टि है। दुराचरण एवं सदाचरण अभिप्राय दृष्टि से यहाँ कर्म के दो भेद माने गये हैं - अकुशल एवं कुशल । इन कर्मों का विवरण निम्न प्रकार है -

	अकुशल	कुशल
कायिक कर्म	प्राणातिपात अर्थात् हिंसा	अहिंसा
	अदत्तादान अर्थात् चोरी	अचौर्य
	मिथ्याचार अर्थात् व्यभिचार	अव्यभिचार
	मृषावचन अर्थात् झूठ	अमृषावचन
वाचिक कर्म	पिशुनवचन अर्थात् चुगली	अपिशुनवचन
	परूषवचन अर्थात् कटुवचन	अकटुवचन
	सम्प्रलाप अर्थात् बकवास	असम्प्रलाप
	अभिध्या अर्थात् लोभ	अलोभ
मानसिक कर्म	व्यापाद अर्थात् प्रतिहिंसा	अप्रतिहिंसा
	मिथ्यादृष्टि अर्थात् झूठीधारणा	अमिथ्यादृष्टि

दुराचरण अर्थात् अकुशल का मूल है - लोभ, दोष तथा मोह और अकुशल कर्मों को न करना ही कुशल कर्म है। इन कर्मों का सम्यक्-ज्ञान होना ही सम्यक्-दृष्टि है। दूसरे शब्दों में दु:ख, दु:ख के कारण, दु:ख का निरोध एवं दु:ख-निरोध के मार्ग को ठीक से समझना सम्यक्-दृष्टि है।[१३४]

सम्यक्-संकल्प - आर्यसत्यों का मात्र ज्ञान प्राप्त कर लेना लाभदायक नहीं होता, जब तक कि उसके अनुसार जीवनयापन के लिए साधक दृढ़ संकल्प न हो जाए। जब व्यक्ति को सांसारिक दु:खों एवं उनके कारणों का वास्तविक ज्ञान हो जाता है तब वह उनसे अपने को मुक्त करने का पक्का निश्चय कर लेता है। बौद्ध ग्रंथों में इसी को सम्यक्-संकल्प कहा गया है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को यह संकल्प करना चाहिए कि वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय की कामना नहीं करेगा, प्राणियों से द्रोह नहीं करेगा और किसी जीव की हिंसा नहीं करेगा। इसी को *मज्झिमनिकाय* में नैष्क्रम्य संकल्प, अव्यापाद संकल्प और अविहिंसा संकल्प कहा गया है।[१३५]

सम्यक्-वाक् - सत्य, मधुर एवं हितकर वचन बोलनेवाले व्यक्ति की वाणी को सम्यक्-वाक् कहा जाता है।[१३६] दूसरे शब्दों में वचन से सदाचरणपूर्ण रहना ही सम्यक्-वाक् है। तात्पर्य यह है कि संकल्प मनसा ही नहीं वरन् वचन में भी होना चाहिए। *धम्मपद* में कहा गया है कि जिन वचनों से दूसरे के हृदय को चोट पहुँचे, जो वचन कटु हो, जिनसे दूसरों की निन्दा हो, जिनसे व्यर्थ का बकवास हो, उन्हें कभी नहीं कहना चाहिए। वैर की शान्ति कटुवचनों से नहीं होती, बल्कि अवैर से होती है।[१३७]

सम्यक्-कर्मान्त - जिस प्रकार वाचिक सदाचरण को सम्यक्-वाक् कहा गया है, उसी प्रकार कायिक सदाचरण को सम्यक्-कर्मान्त कहा गया है। कर्म के कारण ही जीव इस लोक में सुख या दुःख भोगता है तथा परलोक में भी स्वर्ग या नरक का गामी बनता है। हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि निन्दनीय कार्यों का सर्वथा व सर्वदा परित्याग करना आवश्यक है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा नशा त्याग इन पाँच अनुष्ठानों का सेवन प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपेक्षित है। जो व्यक्ति इन अनुष्ठानों का पालन नहीं करता वह इस लोक में अपना जड़ ही खोदता है।[१३८]

सम्यक्-आजीव - शारीरिक एवं वाचिक दुष्चरित्रता को छोड़कर परिशुद्ध कार्यों द्वारा अपनी जीविका चलाना सम्यक्-आजीव कहलाता है। दूसरे शब्दों में उचित वचन एवं उचित कर्मों के साथ न्यायपूर्ण ढ़ंग से जीविकोपार्जन सम्यक्-आजीव है। बुद्ध ने पाँच प्रकार के जीविकोपार्जन के साधन को अयोग्य ठहराया है[१३९]-

१. सत्थ वणिज्जा अर्थात् हथियार का व्यापार।

२. सत्त वणिज्जा अर्थात् प्राणी का व्यापार।

३. मंस वणिज्जा अर्थात् मांस का व्यापार।

४. मज्ज वणिज्जा अर्थात् शराब का व्यापार।

५. विष वणिज्जा अर्थात् विष का व्यापार।

इसी प्रकार *दीघनिकाय* के *लक्खणसुत्त*[१४०] में भी कुछ व्यापारों को त्याज्य बताया गया है, जो निम्नलिखित हैं -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. तराजू की ठगी, २. कंस यानी बटखरे की ठगी, ३. मान अर्थात् नाप की ठगी, ४. रिश्वत, ५. वचना, ६. कृतघ्नता, ७. साचियोग यानी कुटिलता, ८. छेदन, ९. वध, १०. बन्धन, ११. डाका, १२. लूट-पाट की जीविका आदि।

सम्यक्-व्यायाम - व्यायाम का अर्थ होता है -प्रयत्न। सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प आदि के होते हुए भी ऐसी आंशका बनी रहती है कि पुराने कुप्रभावों के कारण साधक अपनी साधना-पथ से विचलित न हो जाए। अत: उसके लिए कुछ मानसिक व्यायाम बताये गये हैं-

१. पुराने बुरे भाव को नष्ट करने का प्रयास, २. नये बुरे भाव को मन में न आने देने की चेष्टा, ३. मन को अच्छी बातों में पूर्ण रखना तथा ४. अच्छे विचारों को मन में प्रतिष्ठित करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना आदि, यही सम्यक्-व्यायाम है।

सम्यक्-स्मृति - सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वाक्, सम्यक्-कर्मान्त आदि के आधार पर साधक को संसार की नश्वरता का ज्ञान हो जाता है, किन्तु ऐसा स्वाभाविक है कि वह इसे भूलकर कहीं पुन: संसार के राग-द्वेष में न बद्ध जाए। अत: उसे हमेशा यह याद रखना चाहिए कि यह संसार नश्वर है। *मज्झिमनिकाय*[४१] में चार प्रकार के स्मृति प्रस्थानों का वर्णन मिलता है -

१. कायानुपश्यना २. वेदानुपश्यना ३. चित्तानुपश्यना और ४. धर्मानुपश्यना। इन चार स्मृति प्रस्थान को सदा स्मृति में रखना ही सम्यक्-स्मृति है।

कायानुपश्यना—काय में होनेवाली क्रियाओं को सूक्ष्मता से जानते रहना कायानुपश्यना स्मृति है। वेदानुपश्यना—सुख वेदना, दु:ख वेदना, असुख-अदु:ख वेदना में से जिस वेदना का अनुभव हो रहा हो, उसे उसी रूप में जानना वेदानुपश्यना-स्मृति कहलाती है। चित्तानुपश्यना—सराग चित्त, विराग चित्त आदि विभिन्न चित्तों में से जब जो चित्त जिस रूप में हो, उस समय उसे उसी रूप में जानने को चित्तानुपश्यना स्मृत्ति कहते हैं। धर्मानुपश्यना—विभिन्न प्रकार के धर्मों में जो धर्म हो उसे उसी रूप में जानना धर्मानुपश्यना स्मृति कहलाती है। धर्म भी कई प्रकार के कहे गये हैं - १. नीवरण २. औद्धत्य ३. आयतन, ४. बोध्यंग, ५. आर्य चतुष्टय। इनके स्वरूप को ठीक-ठीक उसी रूप में जानना धर्मानुपश्यना स्मृति है।

सम्यक्-समाधि - अष्टांगिक-मार्ग के उपर्युक्त सभी प्रकार सम्यक्-समाधि की पूर्व पीठिका हैं जिनमें समाधि के निमित्त सम्यक्-स्मृति की विशेष आवश्यकता पड़ती है। *मज्झिमनिकाय* में वर्णन आया है कि स्मृति-उपस्थान के चार प्रकार समाधि के निमित्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं जबकि चारों प्रकार के सम्यक्-व्यायाम समाधि की सामग्री हैं।[१४२] समाधि का अर्थ होता है - समाधान। समाधि को परिभाषित करते हुए *विसुद्धिमग्गो* में कहा गया है कि कुशल चित्त की एकाग्रता ही समाधि है।[१४३] जिसका एक ही आलम्बन होता है वह एकाग्र और उसका भाव एकाग्रता कहलाती है। उपशमन समाधि का स्वभाव है। जिस प्रकार वायु के प्रवेग से रहित स्थान में दीपक की शिखा अपने स्थिर स्वभाव को प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार समाधि में चित्त अपंनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

समाधि के प्रकार

समाधि के प्रकार के विषय में अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से व्याख्या की है। किसी ने समाधि के मुख्य दो प्रकार बताये हैं, तो किसी ने उसी को व्याख्यायित करके छः प्रकार बता दिये हैं। परन्तु समाधि के उन छः प्रकारों का समावेश दो प्रकार की समाधि में हो जाता है। समाधि के प्रकार इस प्रकार हैं —

एकविध समाधि

समाधि के सामान्य लक्षण को ध्यान में रखकर भेद-प्रभेदों पर विचार करते हैं तो समाधि एक ही प्रकार की प्रतीत होती है, क्योंकि किसी प्रकार का विक्षेप न होना ही इसका प्रमुख लक्षण है। विक्षिप्तता का अभाव होने से उत्पन्न सुख इसका आसन्न कारण है।[१४४]

द्विविध समाधि

समाधि को चार विकल्पों द्वारा दो भागों में विभक्त किये जाने के कारण द्विविध समाधि कहा गया है। चार विकल्प निम्न हैं -

१. उपचार समाधि तथा अर्पणा समाधि।

२. लौकिक समाधि तथा लोकोत्तर समाधि।

उपचार समाधि - जिस प्रक्रिया में दस कर्म-स्थानों के कारण चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है वह उपचार समाधि कहलाती है। यद्यपि इस समाधि में पांच नीवरणों का प्रहाण हो जाने से चित्त में एकाग्रता आ जाती है, किन्तु इसमें वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता आदि ध्यानांगों का प्रादुर्भाव नहीं होता है।[१४५] अर्पणा समाधि के समीपवर्ती होने के कारण इसे उपचार समाधि कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्पणा समाधि - जिन पाँच ध्यानांगों का उपचार समाधि में प्रादुर्भाव नहीं हो पाता है उन पाँच ध्यानांगों का अर्पणा समाधि में प्रादुर्भाव हो जाता है और वे सुदृढ़ होते हैं। जिस प्रकार छोटा बालक खड़ा होकर चलने का प्रयत्न करता है, अभ्यासाभाव के कारण वह बार-बार गिर पड़ता है, ठीक उसी प्रकार उपचार समाधि में चित्त कभी आलम्बन को अपना निमित्त बनाता है तो कभी भवांग को, किन्तु अर्पणा समाधि में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता आदि पाँच ध्यानांगों का प्रादुर्भाव हो जाने के कारण चित्त एक ही आलम्बन में स्थिर बना रहता है।[१४६]

लौकिक समाधि- काम, रूप तथा अरूप भूमियों से सम्बन्धित कुशल चित्त की एकाग्रता को लौकिक समाधि कहते हैं। लौकिक समाधि को शमथयान भी कहते हैं,[१४७] जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।

लोकोत्तर समाधि- आर्यमार्ग से सम्प्रयुक्त एकाग्रता लोकोत्तर समाधि है। इसे विपश्यना यान भी कहा जाता है।[१४८]

त्रिविध समाधि

विसुद्धिमग्गो में लक्ष्य की दृष्टि से तीन प्रकार की समाधि का वर्णन मिलता है[१४९]-

हीन समाधि - जो साधक समाधि को प्राप्त करने मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है उसकी समाधि हीन समाधि कहलाती है। हीन समाधि का लक्ष्य सांसारिक वैभव की उपलब्धि है।

मध्यम समाधि - जो साधक समाधि को प्राप्त कर उसे आगे बढ़ाने का थोड़ा-बहुत प्रयास करता है, उसकी समाधि मध्यम समाधि कहलाती है। मध्यम समाधि का लक्ष्य चित्त शान्ति है।

प्रणीत समाधि- साधक द्वारा भली प्रकार से अभ्यास की गयी समाधि प्रणीत समाधि है। प्रणीत समाधि का लक्ष्य दूसरों के हित का सम्पादन होता है।

इस प्रकार *विसुद्धिमग्गो* में एकविध, द्विविध, त्रिविध, चतुर्विध तथा पंचविध समाधियों का वर्णन मिलता है। परन्तु उनका गहराई से अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि समाधि के सभी प्रकार मुख्यत: लौकिक एवं लोकोत्तर समाधि के स्वरूप को ही धारण किये हुए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधि के बाधक तत्त्व

समाधि की क्रिया में विघ्न उत्पन्न करनेवाले तत्त्वों को बौद्ध परम्परा में नीवरण कहा गया है। कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यान, मिद्ध, औद्धत्य, कौकृत्य एवं विचिकित्सा, ये सात बाधक तत्त्व हैं। चूँकि ये ध्यान आदि कुशल धर्मों का निवारण कर देते हैं, इसलिए इन्हें नीवरण कहा गया है।[१५०]

कामच्छन्द- विषयों के प्रति अनुराग को कामछन्द कहते हैं। कामच्छन्द होने से समाधि में चित्त प्रतिष्ठित नहीं हो सकता है, क्योंकि विषयों में आसक्त व्यक्ति के चित्त एवं उसमें उठनेवाले विभिन्न चैतसिक धर्मों का किसी एक आलम्बन में स्थिर होना असंभव है।

व्यापाद- हिंसा को व्यापाद कहते हैं। हिंसा भाव से चित्त परिवर्तित होता रहता है।

स्त्यान एवं मिद्ध- अकर्मण्यता को स्त्यान तथा आलस्य को मिद्ध कहते हैं। स्त्यान और मिद्ध से चित्त अकर्मण्य हो जाता है।

औद्धत्य- चित्त की अव्यवस्थित अवस्था को औद्धत्य कहते हैं।

कौकृत्य- चित्त में खेद या पश्चाताप का आना कौकृत्य कहलाता है। औद्धत्य और कौकृत्य के शान्त होने से चित्त को शान्ति एवं सुख की उपलब्धि होती है।

विचिकित्सा- संशय को विचिकित्सा कहते हैं। विचिकित्सा के शान्त होने से चित्त ध्यान-लाभ करानेवाले मार्ग पर आरूढ़ होता है। अत: समाधि की भावना के लिए उद्योगी साधक को इन सात विघ्नकारक नीवरणों का नाश करना चाहिए।[१५१] जब साधक नीवरणों का विनाश कर लेता है, तभी उसे ध्यान का लाभ होता है एवं उसमें ध्यान के वितर्क, विचार, प्रीति, सुख या एकाग्रता-इन पाँच अंगों का प्रादुर्भाव होता है।[१५२]

सम्यग्तप

चित्तशुद्धि का सतत् प्रयत्न ही बौद्धाचार्यों के अनुसार तप है। बौद्ध साधना-पद्धति में तप को आत्मा की अकुशल चित्तवृत्तियों या पाप वासनाओं के क्षीण करने का एक साधन माना गया है। *भगवान् बुद्ध* और *निर्ग्रन्थ उपासक सिंह* सेनापति के संवाद से इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। *बुद्ध* ने *उपासक सिंह* से पूछा- हे सिंह! एक पर्याय ऐसा है जिससे सत्यवादी मनुष्य मुझे तपस्वी कह सके। वह पर्याय कौन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सा है? हे सिंह! मैं कहता हूँ पापकारक अकुशल धर्मों को तपा डाला जाए, जिसके पापकारक अकुशल धर्म गल गये, फिर उत्पन्न नहीं हुए, उसे मैं तपस्वी कहता हूँ।[१५३] इसी प्रकार *कासिभारद्वाजसुत्त* में भी तथागत ने कहा है- मैं श्रद्धा का बीज बोता हूँ, उस पर तपश्चर्या की वृष्टि होती है। शरीर वाणी से संयत रहता हूँ और आहार से नियमित रहकर सत्य द्वारा मैं मन-दोषों की गोड़ाई करता हूँ।[१५४] इससे यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध का जीवन कठोरतम तपस्याओं से भरा हुआ है। बुद्ध ने प्रारम्भ में शरीर दमन के लिए तप साधना की थी, परन्तु जब वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके तब उन्होंने मध्यममार्ग का प्रतिपादन किया। डॉ० राधाकृष्णन के शब्दों में -"यद्यपि बुद्ध ने कठोर तपश्चर्या की आलोचना की, फिर भी यह आश्चर्यजनक है कि बौद्ध-श्रमणों का अनुशासन किसी भी ब्राह्मण ग्रन्थ में वर्णित अनुशासन (तपश्चर्या) से कम कठोर नहीं है।[१५५] बुद्ध ने कहा है कि किसी तप या व्रत के करने से कुशल धर्म बढ़ते हैं तो अकुशल धर्म घटते हैं। अत: इसे अवश्य करना चाहिए।[१५६] यही कारण है कि ब्रह्मचर्य, आर्यसत्यों का दर्शन, निर्वाण का साक्षात्कार आदि के साथ तप को भी उत्तम मंगल कहा गया है।

तप के प्रकार

बौद्ध परम्परा में तप के प्रकार का कोई स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता है। लेकिन तप की श्रेष्ठता और निकृष्टता को बताते हुए उसके चार प्रकार बताये गये हैं-

१. **आत्मन्तप** - इसके अन्तर्गत वे तपस्वी आते हैं जो स्वयं को कष्ट देते हैं, लेकिन दूसरे को नहीं।

२. **परन्तप-** इसमें बधिक एवं पशुबलि देनेवाले आते हैं, जो दूसरों को ही कष्ट देते हैं।

३. **आत्मन्तप-परन्तप** - ये प्रथम एवं द्वितीय का मिश्रित रूप है, यथा तपश्चर्या सहित यज्ञ-याज्ञ करनेवाले ।

४. **न आत्मन्तप-न परन्तप-** इसके अन्तर्गत वे लोग आते हैं जो न स्वयं को कष्ट देते हैं और न दूसरों को ही कष्ट देते हैं। बुद्ध इनमें से चौथे प्रकार के तप को श्रेष्ठ मानते हैं जो मध्यम प्रतिपदा सिद्धान्त पर आधारित है।

योग के तीन प्रकार (त्रिविध योग)

बौद्ध-दर्शन में भी त्रिविध योग-साधना की व्यवस्था है— शील, समाधि और प्रज्ञा। जिसे बौद्ध परम्परा में त्रिरत्न कहा गया है। यह अष्टांगिक मार्ग को ही प्रस्ततु करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की एक प्रक्रिया है। यदि अष्टांगिक मार्ग तथा त्रिरत्न को एक ही साथ दृष्टि में लायेंगे तो देखेंगे कि सम्यक्-आजीव शील के अन्तर्गत आता है। इसी प्रकार सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति तथा सम्यक्-समाधि समाधि के अन्तर्गत तथा सम्यक्-दृष्टि तथा सम्यक्-संकल्प प्रज्ञा के अन्तर्गत आते हैं।[१५७] कहीं शील, समाधि और प्रज्ञा को वीर्य, श्रद्धा एवं प्रज्ञा भी कहा गया है।[१५८] साधक साधना का प्रारम्भ शील से करता है, समाधि से वह अपनी साधना का विकास करता है तथा प्रज्ञा से वह अपने दु:ख-निरोध रूपी लक्ष्य को प्राप्त करता है। अत: कहा जा सकता है कि शील, समाधि और प्रज्ञा *बुद्ध* शासन का क्रमश: आदि, मध्य एवं अन्त है। तात्पर्य है भगवान् *बुद्ध* का धर्म आदि में कल्याणमय, मध्य में कल्याणमय तथा अन्त में भी कल्याणमय है।[१५९] *पुग्गलपञ्ञति* में दीपक का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि शील दीपक के प्रकाश की भाँति होता है। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कुशलशील से अकुशलशील नष्ट हो जाते हैं। समाधि नीवरणों को हटाकर क्लेशों को अभिभूत करती है और प्रज्ञा क्लेंशों का समुच्छेद करती है।[१६०]

इस प्रकार बौद्ध धर्मान्तर्गत शील, समाधि और प्रज्ञा योग-साधना करनेवाले योगी के लिए तीन सरणी है जिसके द्वारा वह संसार के जाति, जरा-मरण रूपी दु:खों से मुक्त हो जाता है, क्योंकि शील और समाधि का फल है प्रज्ञा का उदय और जब तक प्रज्ञा का उदय नहीं होता तब तक अविद्या का नाश नहीं हो सकता। अत: साधक का प्रधान लक्ष्य इसी प्रज्ञा की उपलब्धि में होता है।

शील

शील का अर्थ होता है- सदाचार। सामान्य रूप से शील उसे कहते हैं जिसके आधार पर मनुष्य में संयमरूप सद्गुण ठहरता है। शील की महत्ता इसी में है कि बिना उसके समाधि एवं प्रज्ञा का होना असंभव है। यदि कोई साधक बौद्ध धर्म में बतायी गयी विधि से चित की एकाग्रता को प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वह शील सम्पन्न हो। विभिन्न पालि ग्रंथों में शील का वर्णन मिलता है। *दीघनिकाय* के *ब्रह्मजालसुत्त* में तीन प्रकार के शील–आरम्भिक शील, मध्यम शील एवं महाशील का विस्तृत वर्णन मिलता है।[१६१] जिनमें प्रमुख एवं उपयोगी शील दस[१६२] प्रकार के बताये गये हैं—

१. प्राणातिपात विरति—सभी प्रकार की हिंसा से विरमण ।

२. अदत्तादान विरति—स्वामी की अनुमति के बिना किसी भी वस्तु का अग्रहण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. अब्रह्मचर्य विरति—मात्र कामेच्छा विरमण ही नहीं, प्रत्युत कामेच्छा के सम्भव हेतुओं का भी विरमण।

४. मृषावाद विरति—झूठ का विरमण।

५. सुरामद्य विरति—नशीली वस्तुओं के सेवन से विरमण।

६. अकालभोजन विरति—रात्रि भोजन विरमण।

७. नाट्य-संगीत विरति- सभी प्रकार के मनोरंजनों का विरमण।

८. माल्य, गन्ध, विलेपन आदि से विरति - भिक्षुओं के लिए शारीरिक श्रृंगार प्रसाधन का विरमण।

९. उच्चशयन/महाशयन विरति - सुखपूर्वक शयन का सर्वथा त्याग।

१०. जातरूप रजत के प्रग्रिह से विरति - बहुमूल्य वस्तुओं के ग्रहण का निषेध।

उपासकों/श्रावकों के लिए प्रारम्भ की पाँच विरतियों का विधान है, जो पंचशील के रूप में जाना जाता है, किन्तु भिक्षुओं के लिए उक्त सभी दस विरतियों से सम्पन्न होना आवश्यक है।[१६३]

शील के प्रकार

ऐसे तो *विसुद्धिमग्गो* में आचार के आधार पर शील एक प्रकार का, चारित्र-वारित्र, विरति-अविरति आदि भेदों से दो प्रकार का, हीन-मध्यम-उत्तम, आत्माधिपत्य-लोकाधिपत्य-धर्माधिपत्य आदि भेदों से तीन प्रकार का, हानिभागीय, स्थितिभागीय, विशेषभागीय, निर्वेधभागीय; प्रातिमोक्षसंवर, इन्द्रियसंवर, आजीवपारिशुद्धि, प्रत्ययसंनिश्रित आदि भेदों से चार प्रकार का और प्रहाण, वेरमणी, चेतना, संवर और अनुलंघन आदि भेदों से पाँच प्रकार का कहा गया है।[१६४] किन्तु इन सबका समावेश प्रातिमोक्षसंवरशील, इन्द्रिय संवरशील, आजीवपारिशुद्धिशील और प्रत्ययसंन्निश्रित शील के अन्तर्गत हो जाता है।

प्रातिमोक्षसंवरशील

शिक्षापदशील को प्रातिमोक्ष कहते हैं। जब साधक प्रातिमोक्षसंवर से युक्त होता हुआ, आचार एवं गोचर से सम्पन्न होता है, लेशमात्र दोषों से भी भय खाता है और शिक्षापदों को कुशलतापूर्वक सीखता है तो उस साधक के शील को प्रातिमोक्षसंवरशील कहा जाता है।[१६५] मुख्यत: इसका सम्बन्ध शब्दों, कृत्यों और विचारों की पवित्रता से होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। आचार और गोचर की सम्पन्नता ही भिक्षु की विशेषता है। आचार अर्थात् काय तथा वचन से नियमों का उल्लंघन न करना तथा गोचर यानी भिक्षा आदि के लिए जाने योग्य स्थान।[१६६] अत: साधक को कोई भी ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए जिससे संघ के नियमों का उल्लंघन हो। यथा-संघ में खड़े होकर बोलना, हाथ झाड़-झाड़कर बोलना, अन्य भिक्षुओं के बिना जूते पहनकर टहलते समय जूते पहनकर टहलना, नीचे टहलते समय ऊपर टहलना, भिक्षुओं से सटकर बैठना, घाट पर नहाते समय, गृहस्थों के घरों को जाते समय स्थविर भिक्षुओं के प्रति असम्मान-प्रदर्शन करना आदि अनाचार के द्योतक हैं, जिनसे संघ के नियमों का उल्लंघन होता है।

इन्द्रियसंवरशील

आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों का निग्रह करनेवाला शील इन्द्रियसंवर शील कहलाता है। इसे हम दूसरी भाषा में कह सकते हैं कि आँख से रूप को देखकर, कान से शब्द को सुनकर, नाक से गन्ध को सूँघकर, जीभ से रस को चखकर, काय से स्पर्श करके, मन से धर्म को जानकर आस्रव के निमित्त और अनुव्यंजनों को न ग्रहण करना, उनके संवर के लिए सुरक्षा करना ही इन्द्रियसंवर शील कहलाता है। इस प्रकार योगी विषयों के निमित्त एवं अनुव्यंजनों को न ग्रहण कर स्मृतिपूर्वक अपने अन्दर विषयजन्य राग—द्वेष आदि विकारों को नहीं आने देता है। जिसके परिणामस्वरूप इन्द्रियों से उत्पन्न विकारों से वह सुरक्षित हो जाता है।[१६७] यह शील स्मृतिप्रधान होता है। अत: इसमें स्मृति में दृढ़ता न होने से साधक एकान्त में रहते हुए भी इन्द्रियसंवरशील से च्युत हो सकता है।[१६८]

आजीवपारिशुद्धिशील

आजीविका के लिए किया जानेवाला कायिक एवं वाचिक कार्य आजीव कहलाता है। आजीव की शुद्धता में जो शील कारण रूप होता है उसे आजीवपारिशुद्धिशील कहते हैं। आजीव से सम्बन्धित छ: शिक्षापदों[१६९] का उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है-

१. आजीव के लिए अविद्यमान, अलौकिक शक्ति के भरोसे न रहना।

२. स्त्री-पुरुष का संदेश एक-दूसरे के पास न पहुँचाना।

३. जो तेरे विहार में रहता है वह अर्हत् है-ऐसे शब्द का प्रयोग न करना।

४. बीमार न होने पर इच्छानुरूप अपने लिए उत्तम भोजन न तैयार करवाना।

५. भिक्षुणी द्वारा बीमार न होने पर दूसरे से कहकर अपने लिए उत्तम भोजन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न बनवाना।

६. बीमार न होने पर लोगों से कहकर सूप या पका चावल न खाना।

इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि किसी को आश्चर्य में डालना, ठगबाजी करना, अपने को या दायक को बढ़ा-चढ़ाकर कहना जिससे वह कुछ दे, अपने लाभ के लिए दूसरों को बुरा-भला कहना, लोभ से लाभ को ढूंढ़ना इत्यादि बुरे कर्मों से होनेवाली आजीविका से विरत होना-आजीवपारिशुद्धिशील है।

प्रत्ययसंनिश्रितशील

वस्त्र (चीवर), भिक्षान्न (पिण्डपात), शयनासन, ग्लान-प्रत्यय-भैषज्य—ये चार प्रत्यय माने गये हैं। इन चार प्रत्ययों पर भली-भांति विचार करके सेवन करने को प्रत्ययसंन्निश्रितशील कहा जाता है। चूँकि इनके सहारे परिभोग करते हुए प्राणी चलते हैं, प्रवर्तित होते हैं, जीवित रहते हैं, इसलिए इन्हें प्रत्यय कहा गया है। आजीवपारिशुद्धि–शीलपूर्वक प्राप्त चीवरादि चार प्रत्ययों का सेवन करते समय यदि उचित विचार नहीं किया जाय तो ये प्रत्यय साधना में बाधक सिद्ध होते हैं। अतः साधक को चाहिए कि प्रत्ययों के सेवन करने के पूर्व उनके विषय में पूर्वापर विचार कर ले।

इस प्रकार चार शुद्धिशीलों का शुद्ध रूप से पालन करने पर शील की विशुद्धि कायम रहती है। उपर्युक्त चारों शील में प्रातिमोक्षसंवरशील श्रद्धाप्रधान, इन्द्रियसंवरशील स्मृतिप्रधान, आजीवपरिशुद्धिशील वीर्यप्रधान तथा प्रत्यय संनिश्रितशील प्रज्ञाप्रधानशील है। इन चार शीलों में किसी प्रकार की विकृति आ जाने पर देशना, संवर, पर्येष्टि, प्रत्यवेक्षण आदि चार शुद्धि उपायों का विधान है।[१७०] प्रातिमोक्षसंवरशील में आयी हुई विकृति को साथ रह रहे भिक्षु को बता देना देशनाशुद्धि है। इन्द्रियसंवरशील में विकृति उत्पन्न होने पर दृढ़ निश्चय करना कि पुनः ऐसा नहीं होगा, संवरशुद्धि है। आजीव पारिशुद्धिशील में विकृति आ जाने पर धर्मपूर्वक आजीव में संलग्न रहना पर्येष्टि शुद्धि है तथा प्रत्ययसंनिश्रितशील में विकृति आ जाने पर प्रज्ञापूर्वक उसे दूर करना प्रत्यवेक्षण शुद्धि है।

धुताङ्गः

क्लेशों को धुन कर रख देने वाले ज्ञानांग धुताङ्ग कहे जाते हैं।[१७१] धुताङ्ग के आचरण से साधक सभी प्रकार के विकारों को धो डालता है। धुताङ्ग को ज्ञानाङ्ग भी कहते हैं। शील की परिशुद्धि के लिए योगी द्वारा लोकामिष (लाभ-सत्कार) का परित्याग, शरीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और जीवन के प्रति निर्ममत्व तथा विपश्यना भावना की प्राप्ति भी अपेक्षित है। इसकी पूर्ति के लिए बौद्धधर्म में तेरह धुताङ्गों के पालन को उपयोगी बताया गया है, क्योंकि धुताङ्गों से अल्पेच्छता, संतुष्टि आदि गुणों का विकास होता है। धुताङ्गों के तेरह प्रकार निम्नलिखित हैं-

पांशुकूलिकांग- जो कपड़ा धूल के समान छिन्न-भिन्न हो या धूल के समान कुत्सित अवस्था को प्राप्त हो, उस कपड़े को पांशुकूल कहा जाता है। जो इस प्रकार के कपड़े को धारण करता है उसे पांशुकूलिक कहते हैं। अत: पांशुकूलिक का अंग पांशुकूलिकांग कहलाता है।[१७२] पांशुकूलिक चीवर को काम को दग्ध करनेवाला माना गया है।[१७३] इस नियम को ग्रहण करनेवाला साधक वस्त्र के विषय में अल्पेच्छता और संतुष्टि सम्पन्न हो जाता है।

त्रैचीवरिकांग- संघाटी, अन्तरवासक तथा उत्तरासंग—ये चीवर (वस्त्र) के तीन प्रकार हैं। जो योगी इन तीन वस्त्रों को ग्रहण करने का व्रत लेता है उसका शील त्रैचीवरिकांग कहलाता है। इससे लोभादि दोषों का विनाश होता है।

पिण्डपातिकांग- पिण्डपातिकांग का अर्थ होता है- भिक्षावृत्ति के द्वारा उदरपूर्ति करना। अत: भिक्षा के लिए भ्रमण का शील धारण करनेवाले योगी के शील को पिण्डपातिकांग कहते हैं। पिण्डपात ग्रहण करनेवाले भिक्षु से देवता प्रसन्न रहते हैं। बौद्ध भिक्षु के लिए उद्देश्य भोजन, निमन्त्रण, प्रतिपदा भोजन, आगन्तुक भोजन, कृमिक भोजन आदि चौदह प्रकार के भोजन निषिद्ध हैं। इस धुताङ्ग को ग्रहण करनेवाला आहार लोलुपता से रहित तथा अल्पेच्छ गुण से सम्पन्न होता है।

सापदानचारिकांग- यदि योगी बिना अन्तर किये प्रत्येक घर से भिक्षा ग्रहण करता है तो उसके इस शील को सापदानचारिकांग कहते हैं। इस शील को धारण करनेवाला समान अनुकम्पा तथा संतोष आदि गुणों से सम्पन्न होता है तथा सर्वत्र सौम्य एवं अनासक्त रहता है।[१७४]

एकासनिकांग- यथायोग्य एक ही आसन पर बैठकर भोजन करनेवाले योगी का शील एकासनिकांग कहलाता है। इस धुताङ्ग के पालन से स्फूर्ति, बल, अरसास्वादन आदि गुणों की व्युत्पत्ति होती है।[१७५] फलत: वह सुखपूर्वक जीवनयापन करता है और उसकी स्फूर्ति बनी रहती है।

पात्रपिण्डिकांग- दूसरे बर्तन (पात्र) को छोड़कर जब योगी एक ही पात्र में प्राप्त भोजन को ग्रहण करता है तो उसके इस शील को पात्रपिण्डिकांग कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खलुपच्छाभत्तिकांग- जो साधक अतिरिक्त भोजन का त्याग करता है उसके इस शील को खलुपच्छाभत्तिकांग कहते हैं। इससे संग्रहवृत्ति का नाश होता है।

आरण्यकांग- जो गाँव या शहर के शयनासन को त्यागकर अरण्य (वन) में निवास करता है, उसके इस शील को आरण्यकांग कहा जाता है। इसके पालन से योगी भयरहित, शान्तचित्त एवं एकान्तसुख सम्पन्न होता है।[१७६]

वृक्षमूलिकांग- घर या महल को छोड़कर जो योगी वृक्ष के नीचे के स्थान को शयनासन बनाता है, उसके इस शील को वृक्षमूलिकांग कहते हैं। अनित्यता का चिन्तन एवं तृष्णा का उच्छेद इसका फल माना गया है।

अभ्यवकाशिकांग- जब साधक घर, वृक्ष आदि को त्यागकर खुले स्थान पर रहता है, तो उसका यह आचार अभ्यवकाशिकांग कहलाता है। इस धुताङ्ग से साधक में अल्पेच्छ एवं संतोषवृत्ति में वृद्धि होती है।[१७७]

श्मशानिकांग- जो योगी श्मशान में निवास करता है उसे श्मशानिक कहा जाता है और उसके द्वारा ग्रहण किया गया आचार श्मशानिकांग कहलाता है।

यथासंस्तारिकांग- शयनासन का त्यागकर जो उपलब्ध हो उससे संतुष्ट होना अर्थात् योगी को जो शयनासन यह कहकर दिया जाता है कि 'यह तेरे लिए है' उसी में सन्तोष करना यथासंस्तारिक कहलाता है और उसके आचरण को यथासंस्तारिकांग कहते हैं। इसमें हीन-उत्तम, अनुरोध-विरोध आदि भावों का विनाश होता है, अल्पेच्छ गुण विकसित होता है।

नैषद्यकांग- शयनासन का त्यागकर बैठे हुए ही अपनी साधना करना नैषद्यक कहलाता है और उसके आचार को नैषद्यकांग कहते हैं। इसको ग्रहण करने से शय्यासुख से उत्पन्न चित्तबन्धन का विनाश होता है।[१७८]

इस प्रकार धुताङ्ग के उपर्युक्त तेरह प्रकारों के पालन से अल्पेच्छा, सन्तुष्टिभाव, प्रविवेक और ज्ञान का विकास होता है, जिससे प्रत्ययसंनिश्रित शील परिशुद्ध होता है। धुताङ्ग के इन तेरह भेदों में से चार— आरण्यकांग, खलुपच्छाभत्तिकांग, अभ्यवकाशिकांग, वृक्षमूलिकांग का भिक्षुणियों के लिए निषेध है। अत: उनके लिए आठ धुताङ्ग ही हैं।

समाधि- चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं। समाधि के विषय में पूर्व में चर्चा की जा चुकी है। अत: पुन: यहाँ चर्चा करना उचित नहीं जान पड़ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रज्ञा

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिपादित त्रिविधयोग में प्रज्ञा अन्तिम सोपान है। प्रज्ञा की उपलब्धि के साथ ही बौद्ध योग-साधना पूर्ण हो जाती है। *अट्ठसालिनी* में कहा गया है कि आत्मा, जगत आदि धर्मों को अनित्य आदि प्रकारों से जानना प्रज्ञा है।[१७९] दूसरे शब्दों में अज्ञान को नष्ट कर वास्तविक स्वरूप को दिखा देना ही प्रज्ञा का लक्षण है।[१८०] प्रज्ञा से अविद्या का नाश होता है और सारे क्लेश मिट जाते हैं। प्रज्ञा के गुण-धर्म को निरूपित करते हुए विज्ञानभिक्षु ने कहा है—

१. प्रज्ञा एक धर्मवीथी है, जिसके आलोक में सारी व्यथाएँ दूर होती हैं।

२. प्रज्ञा एक दर्पण है, जो अकेले ही तीक्ष्णता के साथ विशुद्धमार्ग दिखाती है।

३. प्रज्ञा से समाधान होता है और सब प्रकार के अनुभव प्रकाशित होते हैं।

४. प्रज्ञा असीम है, जो आपके अनुभवों को व्यापक बनाती है।

५. प्रज्ञा की रश्मियों से आपका सारा मानस बिना साबुन के धुल जाता है।

६. प्रज्ञा विशोकिनी है अर्थात शोक दूर करती है।

७. प्रज्ञा निर्मोहिनी है अर्थात् मोह का निरसन करती है।

८. प्रज्ञा सम्मोहिनी है और उसमें समता में स्थित करा देने की क्षमता है।

९. प्रज्ञा विरामिनी है, जो राग-द्वेष मिटा देने का सामर्थ्य रखती है।

१०. प्रज्ञा समबला है, जो हानि और लाभ में मन को सम रखती है और उसका सन्तुलन बनाए रखती है।

११. प्रज्ञा एकान्तिका है जो शून्यता दिखाकर मन को सुन्दर बनाती है।

१२. प्रज्ञा प्रभा है, जो मैत्री, मंगल की आभा बिखेरती है।

१३. प्रज्ञा सुमन है, जिसकी सुरभि से व्यक्तित्व सुगन्धित हो उठता है।

१४. प्रज्ञा धरित्रि है, जिससे जीवन धीर-गम्भीर होकर उच्छृङ्खलता से रहित हो जाता है।

१५. प्रज्ञा वाहिका है, जो अंतर्मन के भीतर वाहन का काम करती है।

१६. प्रज्ञा महाबला है, जो अन्तर्बोध में बैठकर समाहित हो जाती है।[१८१]

अभिधम्मत्थसंगहो में कहा गया है कि अविद्या स्कन्धों का ज्ञान न होने देने के कारण अन्धकार की भाँति होती है, जबकि प्रज्ञा उस अविद्यारूपी अन्धकार का विनाश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर आलम्बन के स्वभाव को स्पष्ट रूप में प्रकाशित करती है।[१८२] अत: कहा जा सकता है कि प्रज्ञा सत्य को यथार्थ रूप में जतानेवाली विशिष्ट प्रक्रिया है। कहीं-कहीं प्रज्ञा को विपश्यना भी कहा गया है। प्रज्ञा का लक्षण बताते हुए कुछ स्थानों पर कुशल चित्त से सम्प्रयुक्त विपश्यना-ज्ञान को प्रज्ञा कहा गया है।[१८३]

प्रज्ञा के प्रकार

विकल्पों के आधार पर बौद्ध ग्रन्थों में प्रज्ञा के कई प्रकार किये गये हैं, यथा- एकविध प्रज्ञा, द्विविध प्रज्ञा, त्रिविध प्रज्ञा, चतुर्विध प्रज्ञा, पंचविध प्रज्ञा आदि।

एकविध प्रज्ञा

वस्तु धर्म के स्वभाव की तह तक पहुँचना मात्र एकविध प्रज्ञा होती है। प्रज्ञा का कार्य मोहान्धकार का विनाश कर नामरूप का ज्ञान प्राप्त कराना है। अत: प्रज्ञा की भावना विकसित करनेवाले भिक्षुओं को समाधि विकसित करने का उपदेश दिया गया है।[१८४]

द्विविध प्रज्ञा

द्विविध प्रज्ञा में अनेक प्रकार के विकल्पों का उल्लेख मिलता है। जिनमें से कुछ प्रकार निम्न हैं-

लौकिक-लोकोत्तर प्रज्ञा- काम, रूप एवं अरूप भूमियों में धर्मों को विशेष रूप से जानना लौकिक प्रज्ञा और इनसे इतर अर्थात् लोकोत्तर मार्ग से युक्त प्रज्ञा लोकोत्तर प्रज्ञा है।

सास्रव-अनास्रव प्रज्ञा- चित्तमल को आस्रव कहते हैं। आस्रव के भी चार प्रकार हैं- कामास्रव, भवास्रव, दृष्टि आस्रव तथा अविद्यास्रव। इन्द्रियजनित सुख के प्रति आसक्ति कामास्रव, रूपारूप लोक में उत्पन्न होने की इच्छा भवास्रव, दृष्टियों के प्रति अनुराग दृष्टि-आस्रव और आर्यसत्य तथा प्रतीत्यसमुत्पाद का अज्ञान अविद्यास्रव कहलाती है।[१८५] इन आस्रवों से युक्त प्रज्ञा सास्रव कहलाती है और इनसे रहित प्रज्ञा अनास्रव।

नाम-रूप का विनिश्चयिका प्रज्ञा- जब प्रज्ञा वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान का परीक्षण कर उसके विषय का निश्चय करती है तब नाम-विनिश्चयिका प्रज्ञा कहलाती है और जब रूप का निश्चय करती है तब वह रूप-विनिश्चयिका प्रज्ञा के नाम से जानी जाती है।[१८६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिविध प्रज्ञा

त्रिविध प्रज्ञा में भी चार विकल्पों का उल्लेख मिलता है-चिन्ता-श्रुत-भावना, परित्त-महद्गत-अप्रमाण,आय-अपाय-उपायकौशल्य, अध्यात्म-बाह्य-अध्यात्मबाह्य आदि। इस प्रकार बारह प्रकार की प्रज्ञा हो जाती है।

चिन्तामयी प्रज्ञा- स्वतंत्र होकर मन से मनन एवं चित्त से चिन्तन करना अर्थात् बिना किसी दूसरे से सुने अपने से विचार करते हुए रूप, वेदना आदि अनित्य, दु:ख एवं अनात्म स्वरूप है—इस प्रकार का चिन्तन करना चिन्तामयी प्रज्ञा कहलाती है।

श्रुतमयी प्रज्ञा- धर्मशास्त्र आदि ज्ञान से पैदा हुई या दूसरे व्यक्ति से सुनकर प्राप्त की गयी प्रज्ञा श्रुतमयी प्रज्ञा है।

भावनामयी प्रज्ञा- अन्तर्मन की चेतना की असीम भावनाओं में पैठने पर भावनामयी प्रज्ञा का आविर्भाव होता है। *विभंग* में कहा गया है कि सुनकर अथवा बिना सुने अर्पणा समाधि को प्राप्त व्यक्ति की प्रज्ञा भावनामयी प्रज्ञा कहलाती है।[१८७]

परित्त प्रज्ञा- कामावचर भूमि के धर्मों को लेकर उत्पन्न प्रज्ञा परित्त प्रज्ञा कहलाती है।

महद्गत प्रज्ञा- रूपावचर भूमि और अरूपावचर भूमियों के धर्मों को लेकर उत्पन्न प्रज्ञा को महद्गत प्रज्ञा कहते हैं।

अप्रमाण प्रज्ञा- निर्वाण को लेकर उत्पन्न प्रज्ञा अप्रमाण-प्रज्ञा के नाम से जानी जाती है।[१८८]

आयकौशल्य प्रज्ञा- अकुशल धर्मों की अनुत्पत्ति एवं प्रहाण तथा कुशल धर्मों की उत्पत्ति एवं स्थिति से उत्पन्न प्रज्ञा में निपुणता को आयकौशल्य प्रज्ञा कहते हैं।

अपायकौशल्य प्रज्ञा- आय से रहित प्रज्ञा अपायकौशल्य प्रज्ञा कहलाती है।

उपायकौशल्य प्रज्ञा- प्राणियों के हित एवं सुखकारक धर्मों को करते समय यदि कोई भय आ जाये तो उसे उसी क्षण दूर करने के लिए किया गया उपाय उपायकौशल्य प्रज्ञा है।[१८९]

अध्यात्म प्रज्ञा- अपने स्कन्धों को लेकर प्रारम्भ की गयी प्रज्ञा अध्यात्म अभिनिवेशवाली प्रज्ञा कही जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाह्य प्रज्ञा - दूसरे के स्कन्धों अथवा बाह्य वृक्ष, पर्वत आदि को लेकर प्रारम्भ की गयी प्रज्ञा बाह्य अभिनिवेशवाली प्रज्ञा है।

अध्यात्म-बाह्य प्रज्ञा - दूसरों के स्कन्धों को लेकर तथा बाह्य वृक्ष,पर्वत आदि रूपों को लेकर प्रारम्भ की गयी प्रज्ञा अध्यात्म बाह्य अभिनिवेशवाली प्रज्ञा कहलाती है।[१९०]

इस प्रकार बौद्धधर्म में साधनापरक तीन शिक्षायें दी गयी हैं जो आर्य अष्टांगिक मार्ग के ही रूप हैं। यही योग-साधना का मार्ग है। शील, समाधि और प्रज्ञा बौद्ध योग-साधना के तीन सोपान हैं जिनमें शील को स्त्रोतापन्न तथा सकृदागामी होने का साधन कहा गया है। समाधि को अनागामी और प्रज्ञा को अर्हत् होने का साधन बतलाया गया है। किन्तु सम्पूर्ण दु:ख के निरोध के लिए योगी को शीलसम्पन्न होकर समाधि द्वारा चित्त को एकाग्र करके प्रज्ञा से सांसारिक वस्तुओं का अनित्य, दु:ख एवं अनात्म रूप ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। *विसुद्धिमग्गो* में शील, समाधि और प्रज्ञा को कल्याणमय कहा गया है। चूँकि शीलसम्पन्न व्यक्ति कभी भी अपने किये हुए कार्य का स्मरण करके चिन्तित नहीं होता, समाधि से ऋद्धि-विद्य आदि गुणों की उपलब्धि होती है तथा प्रज्ञा से व्यक्ति में समताभाव की प्राप्ति होती है, इसलिए ये तीनों कल्याणमय है।

शमथ-भावना

शमथ एवं विपश्यना दोनों ही समाधि के प्रकार माने जाते हैं, क्योंकि शमथ को लौकिक समाधि कहा गया है और विपश्यना को लोकोत्तर समाधि।[१९१] शमथ का अर्थ होता है-पाँच नीवरणों का शमन करना या उपशम करना। शील में प्रतिष्ठित होकर चित्त की एकाग्रता के लिए जिस योग-साधना को अपनाया जाता है उसे शमथ भावना कहते हैं। इस भावना से जब चित्त के कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यान, मिद्ध–औद्धत्य-कौकृत्य और विचिकित्सा आदि पाँच नीवरण शान्त हो जाते हैं और चित्त एकाग्र हो जाता है तथा योगी में प्रथम ध्यान के अंगों (वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता) का उत्पाद होता है, तत्पश्चात् वह द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यानों को प्राप्त करता है। चारों ध्यानों का आलम्बन रूप होता है, अत: इन्हें रूप ध्यान कहा जाता है। रूप ध्यान में दोषों को देखकर साधक अरूप ध्यान की ओर अग्रसर होता है। शमथ-भावना को करनेवाला साधक विभिन्न कर्मस्थानों में से किसी एक कर्मस्थान को आलम्बन बनाकर चित्त की एकाग्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। ऐसे तो कर्मस्थान बहुत हैं पर यहाँ कर्मस्थान से अभिप्राय है- योग से सम्बन्धित कर्म। अत: योग-भावना की ओर प्रवृत्ति के कारण को कर्मस्थान कहा गया है। शमथ कर्मस्थानों की संख्या-४०(चालीस) है, यथा-दस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कसिण, दस अशुभ, दस अनुस्मृतियाँ, चार ब्रह्मविचार, चार आरूप्य, एक आहार में प्रतिकूल संज्ञा तथा चतुर्धातु व्यवस्थान।[१९२]

दस कसिण

कसिण का अर्थ होता है—सकल, सम्पूर्ण। इसके दस प्रकार निम्न हैं- पृथ्वीकसिण, आपोकसिण, तेजोकसिण, वायुकसिण, नीलकसिण, पीतकसिण, लोहितकसिण, अवदातकसिण, आलोककसिण तथा परिच्छिन्नाकाश कसिण। *मज्झिमनिकाय* और *दीघनिकाय* में आलोक और परिच्छिन्नाकाश के स्थान पर आकाश और विज्ञान परिगणित है।[१९३]

पृथ्वीकसिण- इस कसिण की भावना के लिए योगी को चार अंगुल के फैलाव वाले अरुण रंग की मिट्टी के गोले का ध्यान करना पड़ता है।[१९४]

आपोकसिण- इस कसिण में नीला, पीला, लाल, या अवदात वर्ण के जल को ग्रहण न करके शुद्ध जल को कर्मस्थान के रूप में ग्रहण किया जाता है।[१९५]

तेजोकसिण- इस कसिण में सूखी लकड़ी में आग जलाकर चमड़े, कपड़े या चटाई में चार अंगुल का छेद करके उसमें से अग्नि को देखते हुए ध्यान किया जाता है।[१९६]

वायुकसिण- वायुकसिण में दृष्टि द्वारा हिलते हुए पेड़ के पत्ते अथवा स्पर्श द्वारा वायु ध्यान करने का विधान है।[१९७]

नील-पीत आदि कसिण—इसमें शेष नील, पीत आदि कसिणों में उसी रंग के पुष्प, वस्त्र आदि में चित्त को स्थिर करने का विधान है।[१९८]

दस अशुभ

अशुभ से अभिप्राय कुत्सित अथवा मृत शरीर से है। अशुभ कर्मस्थान प्राय: श्मशान में ही मिलते हैं। मृत्योपरान्त शव के आकार में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं, उन विकारों से शव की अवस्थायें बदलती रहती हैं। शव की बदलती हुई उन विभिन्न अवस्थाओं की अपेक्षा से ही दस अशुभ कर्मस्थानों को स्वीकार किया गया है। दस अशुभ कर्मस्थान निम्नलिखित है[१९९]—

१. अद्धुमातक- फूला हुआ शव ।

२. विनीलक- श्वेत, रक्त आदि वर्णों से मिश्रित लाल वर्णवाला मृत शरीर।

३. विपूयक- पीब बहता हुआ शरीर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. विच्छिद्रक- कटने से दो भागों में विभक्त शव।

५. विखादिक- कुत्ते, शृगाल आदि द्वारा खाया गया मृत शरीर।

६. विक्षिप्तक- इधर-उधर फेंके गये विभिन्न आकारवाले मृत शरीर।

७. हतविक्षिप्तक- अंग-प्रत्यंगों को शस्त्र आदि से काटकर फेंका गया शरीर।

८. लोहितक- बहते हुए रक्त से सना हुआ मृत शरीर।

९. पुलुवक- कृमियों से परिपूर्ण मृत शरीर।

१०. अस्थिक- अस्थिमात्र में अवशिष्ट शव।

दस अनुस्मृतियां

अनुरूप स्मृति को अनुस्मृति कहा गया है। दस अनुस्मृतियाँ निम्न प्रकार हैं।

बुद्धानुस्मृति- भगवान् बुद्ध के अर्हत्व आदि गुणों का बार-बार स्मरण करना बुद्धानुस्मृति है।

धर्मानुस्मृति- धर्म के विषय में बार-बार चिन्तन करना कि भगवान् बुद्ध का धर्म अच्छी तरह से कहा गया है, तत्काल फल देनेवाला है, कालान्तर में फल की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, उसके विषय में दूसरों को बताया जा सकता है तथा विज्ञ पुरुषों द्वारा अपने आप जानने योग्य है।[२००]

संघानुस्मृति- स्रोतापत्ति आदि चार मार्गस्थ एवं चार फलस्थ पुद्गलों को संघ के नाम से जाना जाता है। ये श्रावक संघ श्रेष्ठ एवं उत्तम होते हैं। लोगों को इस श्रावकसंघ की पूजा से पुण्य लाभ होता है। इस संघ के सुप्रतिपन्न गुणों का पुनः-पुनः स्मरण करना संघानुस्मृति है।[२०१]

शीलानुस्मृति- अपने शील की अखण्डता, अक्षतता, निर्दोषता, निर्मलता आदि गुणों तथा उस शील को आधार करके मार्ग एवं फलपर्यन्त समाधि की प्राप्ति का पुनः पुनः स्मरण करना शीलानुस्मृति है।[२०२]

त्यागानुस्मृति- दूसरो को प्रसन्नता देनेवाले उस दान के गुणों का प्रीतिपूर्वक पुनः-पुनः स्मरण करना त्यागानुस्मृति है।

देवतानुस्मृति- विभिन्न देवताओं के श्रद्धा, शील आदि गुणों के अस्तित्व का अनुस्मरण करना देवतानुस्मृति है।[२०३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपशमानुस्मृति- निर्वाण के शान्त-सुख-स्वभाव का बार-बार स्मरण करने को उपशमानुस्मृति कहते हैं।

मरणानुस्मृति- मरण एवं जीवितेन्द्रिय के विनाश की वास्तविकता को बार-बार स्मरण कर दृढ़ करना मरणानुस्मृति है।[२०४]

कायगतानुस्मृति- चार महाभूतों से बने इस अशुद्ध शरीर के विषय में बार-बार विचार करते हुए विरक्ति के भाव का अनुस्मरण कायगतानुस्मृति है।

आनापानस्मृति- आश्वास एवं प्रश्वास में आलम्बनवश प्रवृत्त स्मृति आनापानस्मृति कहलाती है। आन का अर्थ होता है 'साँस लेना' और 'अपान' का अर्थ होता है 'साँस छोड़ना'। अत: स्मृतिपूर्वक आश्वास-प्रश्वास की क्रिया आनापानस्मृति कहलाती है। इस प्रक्रिया को ही अन्य परम्पराओं में प्राणायाम के नाम से जाना जाता है। बौद्ध परम्परा में १६ (सोलह) प्रकार से इस आश्वास-प्रश्वास की क्रिया को करने का विधान है,[२०५] जो आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में निम्नरूपेण है—

१. साधक यदि दीर्घ श्वास छोड़ता है तो वह जानता है कि मैं दीर्घ श्वास छोड़ रहा हूँ, यदि वह दीर्घ श्वास लेता है तो वह जानता है कि मैं दीर्घ श्वास ले रहा हूँ।

२. यदि साधक ह्रस्व श्वास छोड़ता है या ह्रस्व श्वास लेता है तो उसे यह मालूम होता है कि मैं ह्रस्व श्वास छोड़ या ह्रस्व श्वास ले रहा हूँ।

३. इस प्रक्रिया में साधक आश्वास-काय के आदि, मध्य और अवसान इन सब भागों का अवरोध कर श्वास परित्याग करने का अभ्यास करता है।

४. इसमें साधक स्थूल–काय–संस्कार का उपशमन करते हुए श्वास छोड़ने और श्वास ग्रहण करने का अभ्यास करता है।

५. इसमें साधक प्रीति का अनुभव करते हुए श्वास का परित्याग और ग्रहण करना सीखता है।

६. इस प्रक्रिया में साधक सुख का अनुभव करते हुए श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है।

७. इसमें साधक चारों ध्यान द्वारा चित्त-संस्कार का अनुभव करते हुए श्वास छोड़ता और श्वास ग्रहण करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. इसके अन्तर्गत साधक स्थूल-चित्त-संस्कार का निरोध करते हुए श्वास छोड़ता और ग्रहण करता है।

९. इस प्रक्रिया में साधक चारों ध्यान द्वारा चित्त का अनुभव करते हुए श्वास लेना और छोड़ना सीखता है।

१०. समाधि और विपश्यना द्वारा चित्त प्रमुदित होता है, अतः चित्त को प्रमुदित करते हुए श्वास छोड़ना या लेना सीखता है।

११. इस प्रकरण में साधक प्रथम ध्यानादि द्वारा चित्त को आलम्बन में समरूप से अवस्थित करते हुए श्वास छोड़ना और लेना सीखता है।

१२. इस प्रकरण के अन्तर्गत प्रथम ध्यान द्वारा विघ्नों (नीवरण) से चित्त को मुक्त कर, द्वितीय ध्यान द्वारा वितर्क-विचार से मुक्तकर, तृतीय ध्यान द्वारा प्रीति से मुक्तकर, चतुर्थ ध्यान द्वारा सुख-दुःख से चित्त को विमुक्तकर साधक श्वास छोड़ने और श्वास लेने का अभ्यास करता है।

१३. इसमें साधक अनित्य ज्ञान के साथ श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है।

१४. इसमें साधक विराग-ज्ञान के साथ श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है।

१५. इसमें साधक निरोधानुपश्यना से समन्वागत हो श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है।

१६. इस अन्तिम प्रकरण में साधक प्रतिनिसर्गानुपश्यना से समन्वागत हो श्वास छोड़ना–लेना सीखता है।

उपर्युक्त १६ प्रकारों में चार-चार प्रकारों का एक वर्ग है जिसमें अन्तिम वर्ग उपासना की रीति से उपदिष्ट हुआ है, शेष तीन वर्ग शमथ और विपश्यना दोनों रीतियों से उपदिष्ट हुआ है।[२०६]

चार ब्रह्मविचार/विहार

सत्पुरुषों का उत्तम विहार ब्रह्म विहार कहलाता है। चित्तशुद्धि का यह व्यावहारिक सिद्धान्त है। इसके चार प्रकार हैं- मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा।

मैत्री—दुःखी सत्वों के प्रति स्नेह करनेवाले धर्म को मैत्री कहते हैं। करुणा—दूसरों के दुःखों का अपनयन करने को करुणा कहते हैं। मुदिता—सुखी सत्त्वों को देखकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुदित होना मुदिता है। उपेक्षा—किसी आलम्बन के प्रति न राग और न द्वेष हो, मात्र उपेक्षा करनेवाले धर्म को उपेक्षा कहते हैं।

इन चार ब्रह्मविचारों की भावना से चित्त के राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि मलों का नाश होता है तथा प्रमाण रहित (असंख्य) जीवों के प्रति प्रेम की भावना उत्पन्न होती है। अन्य कर्मस्थान आत्महित के साधन हैं जबकि ये चार ब्रह्मविचार पर-हित के भी साधन हैं। किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ये ब्रह्म विहार परहित के ही साधन हैं, क्योंकि इसमें परहित के साथ-साथ आत्महित भी निहित है।

चार आरूप्य

जब साधक चार रूप ध्यान के पश्चात् चार अरूप ध्यान की ओर अग्रसर होता है तो वह चार आरूप्य कर्मस्थानों को अपनी साधना का आलम्बन बनाता है। चार आरूप्य निम्नलिखित हैं-[२०७]

(१) आकाशानन्त्यायतन- जब योगी विश्वाकार रूपाकृति को दूर कर उसके स्थान पर विश्व में केवल एक आकाश है, आकाश अनन्त है— इस प्रकार के अरूप आलम्बन को ग्रहण करके आकाश की अनन्तता के विषय में ध्यान करता है, तो उसका वह ध्यान आकाशानन्त्यायतन कहलाता है। चतुर्थ ध्यान तक रूप आलम्बन रहता है तथा पाँचवें ध्यान से अरूप आलम्बन का विषय बनता है।

(२) विज्ञानानन्त्यायतन- आकाश की जगह पर जब योगी विज्ञान की अनन्तता का ध्यान करता है, तो उसका यह आलम्बन विज्ञानानन्त्यायतन कहलाता है।

(३) आकिञ्चन्यायतन- विज्ञान की अनन्तता से हटकर अभाव की अनन्तता पर ध्यान करता है तो उसे यह ज्ञात होता है कि संसार में कुछ भी नहीं है, सब कुछ शान्त है। इस प्रकार के ध्यान का आलम्बन करना आकिञ्चन्यायतन कहलाता है।

(४) नैवसंज्ञानासंज्ञायतन- अभाव की संज्ञा का त्याग करने की स्थिति नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कहलाता है। इस आयतन में संज्ञा का अतिसूक्ष्म अंश विद्यमान रहता है किन्तु संज्ञा का कार्य हो इतना स्थूल भी वह नहीं रहता, इसलिए इस आयतन को नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कहा जाता है।

आहार में प्रतिकूल संज्ञा

आहार में जुगुप्साबुद्धि के उत्पाद के लिए भावना करना आहार में प्रतिकूल संज्ञा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहलाती है।[२०८] आहार चार प्रकार के होते हैं- कवलीहार, स्पर्शाहार, मनोसंचेतनाहार तथा विज्ञानाहार। इनमें कवलीहार कर्मस्थान सिद्ध होने पर साधक की रस सम्बन्धी तृष्णा नष्ट हो जाती है। फलत: वह रसास्वादन की दृष्टि से अपने शरीर के लिए आहार ग्रहण करता है। जिससे उसमें काम और राग का नाश होता है तथा कायगता स्मृति उत्पन्न होती है।[२०९]

चतुर्धातु व्यवस्था

स्कन्ध में पुद्गल, सत्व, अहम् आदि संज्ञायें नष्ट कर 'यह शरीर चार महाभूतों का समुदाय है' इस प्रकार का निश्चय तथा निर्धारण करनेवाला ज्ञान चतुर्धातु व्यवस्थापन कर्मस्थान है।[२१०]

इस प्रकार योग से सम्बन्धित चालीस कर्मस्थान बताये गये हैं, किन्तु उपर्युक्त चालीस कर्मस्थानों का सम्बन्ध मुख्य रूप से दो ही समाधि से है- उपचार और अर्पणा समाधि। चालीस में से दस—बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, देवतानुस्मृति, मरणानुस्मृति, उपशमानुस्मृति, आहार के प्रतिकूलसंज्ञा तथा चतुर्धातु व्यवस्था का सम्बन्ध उपचार समाधि से है, क्योंकि इन अवस्थाओं में साधक का चित्त अस्थिर रहता है। वह कभी निमित्त को आलम्बन बनाता है तो कभी भवांग में अवतीर्ण हो जाता है। शेष तीस कर्मस्थानों का सम्बन्ध अर्पणा समाधि से है।

विघ्न-परिहार

परिशुद्धशील में अच्छी तरह से प्रतिष्ठित होकर सर्वप्रथम साधक को विघ्नों का निवारण करना चाहिए। *विसुद्धिमग्गो* में स्पष्ट कहा गया है कि कर्मस्थान देनेवाले कल्याण मित्र के पास जाकर अपनी चर्या के अनुसार उपर्युक्त चालीस कर्मस्थानों में से किसी एक कर्मस्थान को ग्रहण कर योग्य विहार में रहते हुए छोटे-छोटे विघ्नों को दूर करके सम्पूर्ण विधान का पालन करते हुए समाधि की भावना करनी चाहिए।[२११] दस विघ्न निम्न हैं- आवास, कुल, लाभ, गण, कर्म, मार्ग, ज्ञाति, आबाध, ग्रंथ एवं ऋद्धि।[२१२]

आवास— किसी कारण से आवास से लगाव का होना भिक्षु के लिए विघ्नकारक होता है। कुल— भिक्षु का अपने कुल को छोड़कर अन्य किसी भी कुल से लगाव का होना या सम्बन्ध रखना विघ्नकारक है। लाभ— चीवर, पिण्डपात, शयनासन, ग्लानप्रत्ययभैषज्य आदि के प्रति लाभ का लोभ करना साधक के लिए विघ्नकारक होता है। गण— गण में रहना भिक्षु के लिए लाभप्रद नहीं है, क्योंकि गण में रहने के कारण लोग कुछ न कुछ पूछने के लिए आते रहते हैं जिससे समाधि की भावना उसके लिए कठिन हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गण से यहाँ अभिप्राय समूह से है। कर्म— कर्मस्थान ग्रहण करने के लिए भिक्षु को कार्यपूर्ण करके जाना चाहिए, यदि कार्य अधिक मात्रा में शेष रह गया हो तो संघहारक भिक्षुओं को सौंप देना चाहिए। यदि ऐसा भी नहीं हो पाया तो संघ छोड़कर चल देना चाहिए।[२१३] मार्ग— कहीं कुछ पाने की इच्छा या किसी की प्रव्रज्या में शामिल होने की इच्छा समाधि में विघ्न उपस्थित करती है। अत: भिक्षु को सर्वप्रथम गन्तव्य स्थल पर जाकर इच्छा को पूर्ण करना चाहिए। ज्ञाति— आचार्य, उपाध्याय, माता-पिता आदि को ज्ञाति कहते हैं। इनके रहने के कारण समाधि में विघ्न उपस्थित होता है। आबाध, ग्रन्थ एवं ऋद्धि-इन सबके कारण भी अन्तराय उपस्थित होता है।

उपर्युक्त विघ्नों का निवारण करने के पश्चात् ही समाधि-साधना में प्रवेश करना चाहिए। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ऋद्धि से विपश्यना भावना में अन्तराय आती है, समाधि में नहीं। समाधि में उपर्युक्त नौ विघ्न ही उपस्थित होते हैं। अत: साधक को इन का निवारण करना चाहिए।

कल्याण-मित्र की सेवा

विघ्नों का उच्छेद कर परिबोधों से दूर रहकर कर्मस्थान की प्राप्ति के लिए कल्याण-मित्र के पास जाकर उसकी पर्येषणा करनी चाहिए। कल्याण-मित्र के समीप अपनी चर्या के अनुकूल किसी कर्मस्थान को ग्रहण कर उसे निमित्त बनाकर पूर्व नियमावली से समाधि भावना का अभ्यास करना चाहिए। कर्मस्थान के दायक को कल्याण-मित्र कहा गया है। कल्याण-मित्र के लक्षण को बताते हुए *अंगुत्तरनिकाय* में कहा गया है कि वह एकान्तप्रिय, हितैषी, गम्भीर कथा कहनेवाला तथा अनेक गुणों से युक्त होता है।[२१४] भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपने-आपको कल्याण-मित्र माना है।[२१५] ऐसे ही कल्याण-मित्र के पास जाकर कर्मस्थान ग्रहण करना चाहिए। यदि आचार्य बड़े हों तो उनकी वन्दना करनी चाहिए और यदि छोटे हों तो उन्हें पात्र-चीवर ग्रहण नहीं करने देना चाहिए। उनकी भी सेवा उसी प्रकार करनी चाहिए जैसे अन्तेवासी अपने आचार्य की सेवा करता है। सेवा से प्रसन्न होकर आचार्य जब आने का कारण पूछें, तभी आने का प्रयोजन बताना चाहिए। यदि न पूछे तो अवसर देखकर स्वयं कह देना चाहिए। इस तरह प्रसन्न होकर आचार्य भिक्षु की चर्या को ठीक से समझकर उसके अनुसार उचित कर्मस्थान की गम्भीर शिक्षा देते हैं।

साधना में चर्याभेद का अत्यधिक महत्त्व है। चर्या का अभिप्राय है प्रकृति, अर्थात् किस व्यक्ति की कैसी प्रकृति है? चर्या (प्रकृति) की अपेक्षा से व्यक्ति के छ: प्रकार[२१६] बताये गये हैं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) **रागचरित**- राग चर्यावाला व्यक्ति स्वाभाविक रूप से गमन करता है।

(२) **द्वेषचरित** - इस प्रकृति का व्यक्ति चलते समय जमीन को खोदते हुए चलता है।

(३) **मोहचरित**- इस प्रकृति के व्यक्ति की गति व्याकुल होती है। वह डरपोक व्यक्ति की भाँति पैर उठाता और रखता है।

(४) **श्रद्धाचरित** - श्रद्धाचरित की चाल ढाल रागचरित की भाँति ही होती है।

(५) **बुद्धिचरित** - इस प्रकृति के व्यक्ति की चाल-ढाल द्वेषचरित की तरह होती है।

(६) **वितर्कचरित** - इस प्रकृति के व्यक्ति की चाल-ढाल मोहचरित की भाँति होती है।

इनके अतिरिक्त कुछ विद्वान् तृष्णा, मान और दृष्टि को भी चर्या के रूप में स्वीकार करते हैं। उपर्युक्त छः प्रकार की चर्याओं में मुख्यतः तीन ही हैं— राग, द्वेष और मोह। क्योंकि राग के समान श्रद्धाचरित है, द्वेष के समान बुद्धिचरित है तथा मोह के समान वितर्कचरित है। इनमें से राग, द्वेष, मोह और वितर्क ये चार चरित अकुशल चरित हैं इनका प्रहाण करने के लिए इनके विपरीत कर्मस्थानों की भावना करनी चाहिए। शेष दो अर्थात् श्रद्धा और बुद्धि कुशल चरित हैं। अतः इन चरितों के लिए वे कर्मस्थान अनुकूल होते हैं जो श्रद्धा और बुद्धि में अभिवृद्धि करें। इन सब चर्याओं के द्वारा आचार्य दूसरे के चित्त को जानने का प्रयत्न करते हैं। जो इनमें कुशल नहीं होते उनसे वे विभिन्न प्रश्न पूछकर उनके चाल-ढ़ाल को जानने का प्रयत्न करते हैं। फिर उनकी चर्या के अनुरूप उनको कर्मस्थान का उपदेश देते हैं।

विपश्यना-भावना

निर्वाण की प्राप्ति हेतु शमथ की भावना के पश्चात् विपश्यना की भावना आवश्यक है। विपश्यना के बिना योगी न तो अर्हत् पद को प्राप्त कर सकता है और न ही संसार के बंधन से मुक्ति पा सकता है। परन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित जान पड़ता है कि पालि-त्रिपिटक में कहीं-कहीं शमथ भावना एवं विपश्यना भावना का एक साथ होने का उल्लेख मिलता है, तो कुछ स्थानों पर विपश्यना का शमथपूर्वक और कहीं-कहीं विपश्यनापूर्वक शमथ होने का उल्लेख मिलता है।[२१७] इससे यह स्पष्ट होता है कि शमथ और विपश्यना एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, अर्थात् जहाँ शमथ भावना है वहाँ विपश्यना भावना और जहाँ विपश्यना भावना है वहाँ शमथ भावना है। शमथ और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपश्यना में समानता भगवान् बुद्ध के इस कथन से स्पष्ट होता है कि "तू दो के आगे धर्मों (शमथ और विपश्यना) की भावना कर। ये दोनों तेरे लिए अनेक धातुओं की तह तक पहुँचने में सहायक होंगे।"[२१८] किन्तु कभी-कभी अनित्य, दु:ख एवं अनात्म स्वभाव को जानने से विपश्यना होती है और तत्पश्चात् चित्त की एकाग्रता होने से शमथ। परन्तु व्यवहार में लौकिक पुरुष योग-साधना करते समय पहले शमथ की भावना करता है तत्पश्चात् विपश्यना की भावना करता है। किन्तु कभी ऐसी स्थिति आ जाती है कि व्यक्ति शमथ की साधना किये बिना ही विपश्यना द्वारा अर्हत्पद की प्राप्ति कर लेता है। शमथ को आधार बनाकर साधना करनेवाला योगी 'शमथयानिक' तथा विपश्यना की भावना करनेवाला 'विपश्यनायानिक' कहलाता है।[२१९] शमथ को लौकिक समाधि कहा गया है और विपश्यना को लोकोत्तर, क्योंकि विपश्यना का आलम्बन लौकिक कर्मस्थान नहीं होता।

विपश्यना प्रज्ञा का मार्ग है। विपश्यना का सामान्य अर्थ होता है- विशेष रूप से देखना। विपश्यना की भावना में साधक क्षण-क्षण में उत्पन्न एवं नष्ट होनेवाले नाम–रूप धर्मों के अनित्य स्वभाव को जानता है। फलत: उसे यह ज्ञान हो जाता है कि जो अनित्य है वह दु:खरूप है, अनात्म है। इस तरह साधक जब नाम–रूप धर्मों के अनित्य, दु:ख और अनात्म स्वरूप को विशेष रूप में देखने लगता है तब उसका ज्ञान विपश्यना कहलाता है।[२२०]

जैसा कि बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि आत्मा का अस्तित्व मानना ही सभी अनर्थों की जड़ है। आत्मा के कारण ही मनुष्य बन्धनों में फँसता है। भगवान् बुद्ध ने कहा है- जो यह मेरी आत्मा अनुभव करनेवाली है, अनुभव का विषय है और जहाँ-तहाँ अपने बुरे कर्मों के विषयों का अनुभव करती है, यह मेरी आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील है, अनन्त वर्षों तक वैसी ही रहेगी! हे भिक्षुओं, यह भावना बिल्कुल बाल धर्म है।[२२१] अत: जो साधक शरीर में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करता है उसकी दृष्टि कभी भी विशुद्ध नहीं हो सकती है। शरीर नाम- रूपात्मक है (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान)। इसलिए नाम और रूप विकार को प्राप्त होने के कारण अनित्य है। अनित्य के कारण दु:ख है। अत: अनित्य एवं दु:ख में 'यह मेरा है, यह मैं हूँ' ऐसा भाव किया जाता है। जब साधक इसी नाम और रूप को स्पष्ट रूप से देखने में समर्थ हो जाता है तब उसके अन्दर से आत्मा के अस्तित्व की मान्यता समाप्त हो जाती है और वह पूर्ण विपश्यना भावना को प्राप्त कर लेता है। विपश्यना भावना के अन्तर्गत सात प्रकार की विशुद्धियाँ करनी पड़ती हैं जो निम्न प्रकार हैं- (१) शीलविशुद्धि, (२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्तविशुद्धि, (३) दृष्टि- विशुद्धि, (४) कांक्षावितरणविशुद्धि, (५) मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि, (६) प्रतिपदा-ज्ञानदर्शनविशुद्धि, (७) ज्ञानदर्शनविशुद्धि।

शीलविशुद्धि- शील विशुद्धि के अन्तर्गत प्रातिमोक्षसंवरशील, इन्द्रियसंवरशील, आजीवपारिशुद्धिशील तथा प्रत्ययसंनिश्रितशील आते हैं, जिनकी चर्चा इस अध्याय में पूर्व में की जा चुकी है।

चित्तविशुद्धि-इसके अन्तर्गत कामच्छन्द आदि पाँच नीवरणों का शमन किया जाता है। जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है।

दृष्टिविशुद्धि- रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान के अतिरिक्त मानव शरीर में आत्मा नाम की कोई सत्ता नहीं है। आत्मा सम्बन्धी यही मान्यता समाप्त हो जाने से योगी की दृष्टिविशुद्ध हो जाती है।

कांक्षावितरणविशुद्धि– क्या मैं अतीत भव में था? क्या मैं अतीत भव में नहीं था? अतीत में मैं कौन और किस प्रकार का था? पूर्व के तृतीय भव में किस जाति का होकर द्वितीय भव में किस जाति का था?[२२२] इत्यादि शंकाओं का अतिक्रमण करनेवाला ज्ञान जो सभी मलों से विशुद्ध हो, 'कांक्षावितरणविशुद्धि' है।'

मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि- मार्ग तथा अमार्ग को जानने और देखने में साधक सक्षम हो जाता है तब उसके चित्त में प्रकाश ज्योति की अनुभूति होती है, फलतः, साधक अवभास, प्रीति आदि अमार्ग की ओर अग्रसर नहीं होता और विपश्यना की विशुद्धि बनी रहती है। इसीलिए इसे मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि के नाम से जाता है।[२२३]

प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि– मार्ग प्राप्ति के कारणभूत प्रतिपदा (मार्ग एवं फल) के ज्ञान और दर्शन में विशुद्धि को प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि कहते हैं। इसके आठ प्रकार हैं-

(१) उदयव्यय–ज्ञान— जब साधक मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि के बाद अवभास, प्रीति आदि की ओर विशेष ध्यान न देकर निरन्तर उदयव्यय ज्ञान की भावना करता है, फलतः उपक्लेशक धर्मों का नाश होता है तथा अनित्य दुःख तथा अनात्म इन तीन लक्षणों का स्पष्ट ज्ञान होता है। यही उदयव्यय ज्ञान कहलाता है। (२) भंग–ज्ञान— जब साधक नाम रूप धर्मों का उदय-व्यय देखने लगता है तब शीघ्रता से होनेवाले उदय-व्यय में से वह उदय को छोड़कर भंग का आलम्बन करने लगता है। (३) भय–ज्ञान— भंग का सम्यक्–ज्ञान हो जाने के बाद ये नाम–रूप धर्म अत्यन्त भयावह हैं इस प्रकार का साधक को ज्ञान होना भयज्ञान कहलाता है। (४) आदीनव–ज्ञान— शरीर को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षणभंगुर, सारहीन तथा घृणित समझना आदीनव-ज्ञान कहलाता है। (५) निर्वेद-ज्ञान— नाम-रूप के प्रति अरुचि निर्वेदज्ञान कहलाता है। (६) मुञ्चितुकम्यता-ज्ञान— मुक्ति की इच्छा का उत्पन्न होना ही मुञ्चितुकम्यताज्ञान है। (७) प्रतिसंख्यान-ज्ञान— अनित्य, दु:ख तथा अनात्म लक्षणों की बार-बार विपश्यना करना प्रतिसंख्यान ज्ञान कहलाता है। (८) संस्कारोपेक्षाज्ञान— जब साधक नाम-रूप धर्मों के त्रिलक्षण (अनित्य, दु:ख और अनात्म) को भली-भाँति जान लेता है तब वह न तो धर्मों से अनुराग करता है और न ही उन्हें भयानक समझता है। अत: मैं नहीं, मेरा नहीं, पर नहीं आदि भाव के साथ संस्कारों को देखना संस्कारोपेक्षाज्ञान है।

उपरोक्त आठों ज्ञान के पश्चात् साधक को मार्गज्ञान एवं फलज्ञान रूपी प्राप्त होनेवाले बोधिपक्षीयज्ञान को अनुलोम ज्ञान कहते हैं। इसे व्युत्थगामिनी (मार्ग) विपश्यना भी कहते हैं।

ज्ञानदर्शनविशुद्धि - स्रोतापत्तिमार्ग, सकृदागामीमार्ग, अनागामीमार्ग एवं अर्हत्मार्ग—इन चार मार्गों का ज्ञान ज्ञानदर्शनविशुद्धि कहलाता है।

इस प्रकार विपश्यना की भावना में साधक को किसी बाह्याडम्बर की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि उसे अपने पंचस्कन्ध स्वरूप के विषय में ही सूक्ष्म चिन्तन करना होता है। उपर्युक्त शीलविशुद्धि से लेकर ज्ञानदर्शनविशुद्धि तक जो चर्चा की गयी है उसमें शीलविशुद्धि तथा चित्तविशुद्धि ही विपश्यना-भावना की मूल है, शेष सभी शुद्धियाँ तो उस भावना के शरीर हैं।

तुलना

जैन एवं बौद्ध योग सम्बन्धी अवधारणाओं का तुलनात्मक स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं —

(१) दोनों ही परम्पराएँ त्रिविधि साधना-पथ को समवेत रूप में ग्रहण करती हैं। जैन सम्मत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र तीनों एक-दूसरे से अलग होकर नहीं वरन् समवेत रूप में ही मोक्ष की प्राप्ति करा सकते हैं। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा प्रज्ञा, श्रद्धा और वीर्य को समवेत रूप में ही निर्वाण प्राप्ति का कारण माना गया है।

(२) जिस प्रकार जैन परम्परा में सम्यग्दर्शन का अर्थ तत्त्वश्रद्धा है, उसी प्रकार बौद्ध परम्परा में सम्यग्दृष्टि का अर्थ चार आर्य सत्यों के प्रति श्रद्धा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) जिस प्रकार जैन परम्परा में सम्यग्दर्शन का अभिप्राय देव, गुरु और धर्म के प्रति निष्ठा माना गया है, ठीक उसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी श्रद्धा का अर्थ बुद्ध, संघ और धर्म के प्रति निष्ठा किया गया है।

(४) साधना-मार्ग के रूप में दोनों ही परम्परायें धर्म के प्रति निष्ठा को आवश्यक मानती हैं।

(५) जिस प्रकार जैन परम्परा में अरहंत को देव के रूप में साधना का आदर्श माना गया है, उसी प्रकार बौद्ध परम्परा में बुद्ध या बुद्धत्व को साधना का आदर्श माना गया है।

(६) जिस प्रकार जैन परम्परा में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि दोष सम्यग्दर्शन के माने गये हैं, उसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यानमिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य और विचिकित्सा आदि पाँच नीवरण रूपी दोष माने गये हैं, जिनमें जैन परम्परा का कांक्षा नामक दोष, बौद्ध परम्परा के कामच्छन्द नामक दोष के समान है। ऐसे ही विचिकित्सा दोनों परम्पराओं में समान रूप से मान्य है।

(७) दोनों ही परम्परायें भेदाभ्यास द्वारा अनात्म के स्वरूप को जानकर उसमें आत्मबुद्धि का त्याग करना ही सम्यग्ज्ञान की साधना है- ऐसा मानती हैं।

(८) यदि हम जैन परम्परा के सम्यक्-चारित्र और बौद्ध परम्परा के शील पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि दोनों ही परम्परायें एक-दूसरे के निकट हैं। यद्यपि दोनों ही परम्पराओं में नाम और वर्गीकरण की पद्धतियों में अन्तर है, लेकिन दोनों का आन्तरिक स्वरूप समान है। सम्यक् आचरण के लिए जो अपेक्षायें जैन जीवन-पद्धति में मान्य हैं वही अपेक्षायें बौद्ध जीवन-पद्धति में भी स्वीकृत हैं, मात्र कहने का तरीका अलग-अलग है।

(९) तप के स्वरूप में भी दोनों परम्पराओं में बहुत कुछ समानताएँ देखने को मिलती हैं, यथा- ऊनोदरी तप, विविक्त शयनासन तप, प्रायश्चित तप, विनय तप, स्वाध्याय तप, व्युत्सर्ग तप, ध्यान तप आदि बौद्ध परम्परा में उसी तरह विवेचित हैं, जिस तरह जैन परम्परा में हैं। बौद्ध परम्परा में इनकी अस्पष्टता का कारण है कि इनका विधिवत विवेचन नहीं हुआ है, ये यत्र-तत्र ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। तप के विषय में यदि दोनों परम्पराओं में भिन्नता है तो अनशन और उपवास को लेकर। बौद्ध परम्परा में उपवास को लम्बी तपस्या के रूप में उतना महत्त्व नहीं दिया गया है जितना कि जैन परम्परा में। इसका कारण यह हो सकता है कि बौद्ध परम्परा में तप के स्थान पर योग को अधिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महत्त्व दिया गया है, जबकि जैन परम्परा में तप साधना को योग-साधना से अलग रूप में स्वीकार नहीं किया गया है।

इस प्रकार हमारे समक्ष जैन एवं बौद्ध परम्पराओं की योग सम्बन्धी अवधारणा का एक तुलनात्मक रूप उपस्थित हो जाता है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि दोनों ही परम्पराओं में कुछ एक भिन्नताओं को छोड़कर दोनो एक-दूसरे के निकटवर्ती हैं।

सन्दर्भ

१. पाणिनीय धातुपाठ, ४/६८, हेमचन्द्र धातुमाला, गण – ४,
२. पाणिनीय धातुपाठ, ४/६८, ३. हेमचन्द्र धातुमाला, गण - ४
४. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसॉफी, एस० एन० दास गुप्ता, भाग-१, पृ०- २२६-२२७
५. उत्तराध्ययनसूत्र, २९/८,तत्त्वार्थभाष्य, ६/१
६. युज्यते वाऽनेन केवलज्ञानादिना आत्मेति योगः ।
उद्धृत-जैन योग सिद्धान्त और साधना, उपोद्धात, पृ०–२५
७. अंगुत्तरनिकाय (हिन्दी अनुवाद), भाग-२, पृ०–१२,अभिधर्मकोशभाष्य, ५/४०
८. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। पातञ्जल योगदर्शन, १/२
९. हिन्दी विश्वकोश, भाग-९, पृ०–४९६
१०. निरूद्धासवे (संवरो), उत्तराध्ययनसूत्र , २९/११, आस्रवनिरोधः संवरः। तत्त्वार्थसूत्र, ९/१
११. पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा–मिच्छत्तं, अविरई, पमाया, कसाया, जोगा। समवायांगसूत्र ५/४
१२. तिविहे जोए पण्णत्ते, तं जहा—मणजोए, वइ जोए, कायजोए। स्थानांगसूत्र, ३/१/१२४, तत्त्वार्थसूत्र, ६/१
१३. विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो हो हवे जोगो।। नियमसार , १३९
१४. एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः। एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः।।
यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा। जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्।।
समाधितंत्र, १७-१८
१५. मोक्खेण जोयणाओ जोगो। योगविंशिका– १, १६. योगबिन्दु, ३१
१७. चतुवर्गेऽग्रणी मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।
ज्ञान-श्रद्धान -चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः।। योगशास्त्र, १/१५
१८. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थसूत्र, १/१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा। एस मग्गो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं।।
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छन्ति सोग्गइ।। उत्तराध्ययनसूत्र, २८/२-३
२०. दर्शनपाहुड, ३२
२१. जीव, अजीव, आसव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।
२२. जैन धर्म के प्राण, पृ०-२४ २३. उत्तराध्ययनसूत्र- २८/३०
२४. सूत्रकृतांगसूत्र- १/८/२२-२३
देखें- जैन, बौद्ध और गीता का साधना-मार्ग, डॉ० सागरमल जैन, पृ०५२
२५. विशेषावश्यकभाष्य-२६७५। उद्धृत- जैन, बौद्ध ओर गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृ०- ५५
२६. स्थानांगसूत्र-२/१/७०
२७. प्रवचनसारोद्धार (टीका)- १४९/९४२
२८. योगशास्त्र (हेमचन्द्र)-२/१५
२९. उत्तराध्ययनसूत्र, २९/१
३०. जैन, बौद्ध और गीता का साधना-मार्ग, पृ०-५८
३१. वही, पृ०- ५९
३२. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गाथा २९ ३३. उत्तराध्ययनसूत्र- २८/१६
३४. जैन, बौद्ध और गीता का साधना-मार्ग-डॉ० सागरमल जैन, भाग-२, पृ०५४-५५
३५. आचारांगसूत्र- १/५/५/१६८ ३६. पुरुषार्थसिद्धियुपाय-२३
३७. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १२ ३८. वही,२३। ३९. वही,२२
४०. पुरुषार्थसिद्धियुपाय, २७ ४१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १७
४२. पुरुषार्थसिद्धियुपाय, ३०
४३. आत्मा छे, ते नित्य छे, छे कर्त्ता निजकर्म।
छे भोक्ता वणी मोक्ष छे, मोक्ष उपाय सुधर्म।। आत्मसिद्धिशास्त्र, ४३
४४. पढ़मं नाणं तओ दया एवं चिट्ठई सत्वसंजए- दशवैकालिक-४/१०
४५. तत्त्वार्थसूत्र -(पं० सुखलाल संघवी) पृ०-१०
४६. द्रव्य-संग्रह,४२। ४७. ज्ञानसागर,५/२ ४८. दशवैकालिक,४/१४-२७
४९. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोहस्स य संखएणं, एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं।।, उत्तराध्ययनसूत्र, ३२/२
५०. दर्शनपाहुड, ३१
५१. अभिधानराजेन्द्र कोश, पृ०-५१५ ५२. वही, पृ०-५१४
५३. मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् । तत्त्वार्थसूत्र, १/९
५४. योगदृष्टिसमुच्चय, ११९
५५. पाश्चात्य दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त-डॉ० विजय कुमार, पृ०-११४
५६. समयसार,१४४ ५७. समयसार (टीका), ९३ ५८. आचारांगसूत्र, १/३/४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५९. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउं नियय्ऽस्स बन्धो, संसारहेउं च वयन्ति बन्धं।। उत्तराध्ययनसूत्र, १४/१९

६०. नियमसार, ७८-८१　　६१. तत्त्वार्थसूत्र-, पृ०, २

६२. समयसार, १५१　　६३. प्रवचनसार, १/७

६४. आचारांगनिर्युक्ति, २४४

६५. वीतरागसर्वज्ञ प्रणीतषड्द्रव्यादिसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानरूपो व्यवहार मोक्षमार्गः। परमात्मप्रकाश-१४

६६. स्थानांगसूत्र, ४/५९५

६७. सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायययथाख्यातानि चारित्रम्। तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलाल संघवी), ९/१८

६८. वही-पृ०-२१८　६९. वही

७०. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ०-७१-७२

७१. जीवन साहित्य, द्वितीय भाग, पृ०-१९७-१९८

७२. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृ०-९८

७३. तापयति अष्ट प्रकार कर्म-इति तपः। आवश्यकसूत्र (टीका मलयगिरि) खण्ड-२, अध्ययन, १

७४. तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपो।- निशीथचूर्णि, ४६

७५. रस, रूधिर मांस मेदाऽस्थि मज्जा शुक्राण्यनेन तप्यन्ते, कर्माणी वाऽशुमानीत्यस्तपो ना निरूक्तः। स्थानांगवृत्ति, ५

७६. पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरूम्भइ। उत्तराध्ययनसूत्र, २९/१४

७७. तवेण परिसुज्झई। वही, २८/३०

७८. तवेणं भन्ते। जीवे किं जणयइ? तवेणं वोदाणं जणयइ।। वही, २९/२८

७९. इन्द्रियमनसो नियमानुष्ठानं तपः। नीतिवाक्यामृतं, १/२२

८०. सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो एवमब्भन्तरो तवो।। उत्तराध्ययनसूत्र-३०/७

८१. इन्द्रियाणि कसाये य माखे य किसे कुरू।
जो वयं ते पसंसामो किसं साहु शरीरमं।। निशीथभाष्य, ३७/५८

८२. एयं तवं तु दुविहं जे सम्मं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वसंसारा विप्पमुच्चइ पण्डिए।। उत्तराध्ययनसूत्र, ३०/३७

८३. अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ।। उत्तराध्ययनसूत्र, ३०/८

८४. अनशनमौनोदर्य वृत्ते संक्षेपणं तथा।
रसत्यागस्तनुक्लेशो लीनतेति बहिस्तपः।। योगशास्त्र, ४/८९
अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त शय्यासनकायक्लेश-बाह्य तपः।
तत्त्वार्थसूत्र, ९/१९

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

८५. अणसणे दुविहे पण्णते- तं जहा-इयत्तरिए य आवकहिए। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र-२५/७/१९८
८६. इत्तिरिया मरणकाले दुविहा अणसणा भवे।
इत्तिरिया सावकंखा निरवकंखा बिइज्जिया।। उत्तराध्ययनसूत्र-३०/९
८७. इत्तरिए अणेगविहे पण्णत्ते-
तं जहा–चउत्थे भत्ते, छट्ठे भत्ते.... जाव छम्मासिए भत्ते। व्याख्याप्रज्ञप्ति, २५/७/१९९
८८. तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलाल संघवी), पृ०–२१९
८९. शरीर दुख सहनार्थ शरीर सुखानभिवाञ्छार्थं।-तत्त्वार्थसूत्र (श्रुतसागरीय वृत्ति) सूत्र ९/१७ वृत्ति, पृ०–३०
९०. वही।
९१. व्याख्याप्रज्ञप्ति, २५/७/२१५
९२. पडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा- इंदियपडिसंलीणया, कसाय पडिसंलीणया। जोगपडिसंलीणया, विवित्तसयणासणसेवणया। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, २५/७/२११
९३. अढिभन्तरए तवे छव्विहे पण्णत्ते तंजहा -
पायच्छित्तं, विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झायो झाणं विओस्सगो। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, २५/७/२१७
पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो।। उत्तराध्ययनसूत्र ३०/३०
९४. अपराधो वा प्रायः, चित्तं - शुद्धिः,
प्रयास्य चित्तं प्रायश्चित्तं - अपराध विशुद्धिः। राजवार्तिक , ९/२२/३०
९५. योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्ति, पृ०– ८६०
आलोयणारिहाईयं पायच्छित्तं तु दसविहं।
जे भिक्खु वहई सम्मं पायच्छित्तं तमाहियं।। उत्तराध्ययनसूत्र , ३०/३१
बाहुल्येन चित्तशुद्धि हेतुत्वत् यत् प्रायश्चितं। तत्त्वार्थसूत्र (हरिभद्र) , ४७८
प्रमाद दोष परिहारः प्रायश्चितम्। सर्वार्थसिद्धि, पृ०–४७८
९६. आलोचन प्रतिक्रमणतदुभय विवेक व्युत्सर्ग तपश्छेद परिहारो पस्थापनानि। उत्तराध्ययनसूत्र, ९/२२
९७. पूज्येस्वादरो विनयः। -सर्वार्थसिद्धि, पृ०–४३९
९८. ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः, तत्त्वार्थसूत्र, ९/२३
९९ स्थानांगसूत्र, ७/१३०
१००. कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण चोपासद्नं वैयावृत्त्यम्। सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ– ४३९
१०१. आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसंङ्घसाधुसमनोज्ञानाम्।
तत्त्वार्थसूत्र - ९/२४ एवं सर्वार्थसिद्धि, पृ०–४४२
१०२. सुष्ठु आ मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः। स्थानांगसूत्र (टीका-आचार्य अभयदेव)-५/३/४६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०३. ज्ञानभावनाऽऽलस्यत्यागः स्वाध्यायः। सर्वार्थसिद्धि, पृ०– ४३९
१०४. धर्मामृत (अनगार), ७/८३
१०५. वही - ७/८४ १०६. वही - ७/८६
१०७. वही - ७/८७ ११८. वही - ७/८७
१०९. निःसंगनिर्भयत्व जीविताशाव्युदासाद्यर्थोव्युत्सर्गः। तत्त्वार्थराजवार्तिक - ९/२६/१०
११०. आत्माऽऽत्मीयसंकल्पत्यागो व्युत्सर्गः। - सर्वार्थसिद्धि, पृ०– ४३९
१११. बाह्याभ्यन्तरोपध्योः। तत्त्वार्थसूत्र - ९/२६
११२. ठाणुन्नत्थालम्बण - रहिओ तंतम्मि पंचहा एसो।
दुग्गमित्थकम्मजोगो तहातियं नाणजोगोउ उ।। योगविंशिका , २
११३. वही, १७ ११४. वही, ३
११५. अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद् योगएष श्रेष्ठो यथोत्तरम्। योगबिन्दु, २
११६. शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्यप्रमादिनः।
श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा।। योगदृष्टिसमुच्चय , ४
११७. वही, ५ ११८. वही, ८
११९. वही, ९ १२०. वही, १०
१२१. परस्त्वयोगोऽपि मनोवचोऽङ्ग-व्यापाररोधात् परिपूर्णरूपात् ।
अवादि मुक्तया सह योजनेन योगो भवाम्भोनिधिरोध एषः ।।
अध्यात्मतत्त्वालोक, ७/१२
१२२. गुदमध्य लिङ्गमूले नाभौ हृदि कण्ठ - घण्टिका–भाले।
मूर्धन्यूर्ध्वे नवषट्कं (चक्रं) ठान्ताः पंच भालेलयुताः।।
नमस्कार स्वाध्याय (संस्कृत), परमेष्ठिविद्यायन्त्रकल्प, ६०
१२३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-४, पृ–३१०
१२४. ज्ञानदर्शनचारित्ररूपरत्नत्रयात्मकः।
योगो मुक्तिपदप्राप्तावुपायः परिकीर्त्तितः।। योगप्रदीप, ११३
१२५. शास्त्रस्योपनिषद्योगो योगो मोक्षस्य वर्तनी।
अपायशमनो योगो, योग कल्याणकारकम्।। योगमाहात्म्य द्वात्रिंशिका, १
योगःकल्पतरु श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः।
योगः प्रधानं धर्माणां, योगः सिद्धेः स्वयंग्रहः।। योगबिन्दु, ३७
१२६. अंगुत्तरनिकाय, ६३
१२७. कुशल चित्तेकग्गता समाधि। विसुद्धिमग्गो, खण्ड - १, पृ०– १८८
१२८. समाधानट्ठेन समाधि... एकारम्मणे चित्तचेतसिकानं समं सम्मा च आधानं,
ठपनं ति वुत्तं होति - वही, खण्ड - १, पृ०–१८८
अभिधम्मत्थसंगहो (टीका) भाग-१, पृ०–१०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये केचि कुसला धम्मा सब्बे ते समाधिपमुखा होन्ति समाधि निन्ना....।
मिलिन्दपञ्ह, पृ०-२९-३०

१२९. धम्मपद, २८२

१३०. द्वे मे भिक्खवे, अन्ता पब्बज्जितेन न सेवितब्बा। कतमे द्वे? यो चायं कामेसु काम-सुखल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थसंहितो, यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो। एते खो, भिक्खवे, उभो अन्ते अनुपगम्य, मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बद्धा चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय संवत्तति। महावग्गो, पृ०-१३

१३१. कतमं च, भिक्खवे, दुःखनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं? अयमेव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो। दीघनिकाय, भाग - २, पृ०-२३२

१३२. भारतीय दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त, डॉ० बी० एन० सिन्हा, पृ०- १२३

१३३. मज्झिमनिकाय (सम्मादिट्ठिसुत्त) खण्ड - १, पृ०- ६२-६३

१३४. वही, पृ० ६४-६५ तथा खण्ड - ३, पृ०- ३३७

१३५. वही, खण्ड - ३, पृ०- ३३७

१३६. मुसावादा वेरमणी पिसुणाय वाचाय वेरमणी.....। वही

१३७. न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो।। धम्मपद, १/५

१३८. यो पाणमतिपातेति मुसावादं च भासति।
लोके अदिन्नं आदियति परदारं च गच्छति।।
सुरामेरयपानं च यो नरो अनुयुञ्जति।
इधेव मेसो लोकस्मिं मूलं खणति अत्तनो।। धम्मपद, ५/२४-२५।

१३९. अरियासावको मिच्छाआजीवं पहाय सम्माआजीवेन जीविकं कप्पेति, अयं वुच्च तावुसो सम्माआजीवो। मज्झिमनिकाय, खण्ड- ३, पृ०-३३७ सत्थवणिज्जा, सत्तवणिज्जा, मंसवणिज्जा, मज्जवणिज्जा, विसवणिज्जाइमा... पंचवणिज्जा अकरणीया ति। अंगुत्तरनिकाय - खण्ड-२, पृ०- ४५४

१४०. दीघनिकाय, पृ०-२६९

१४१. मज्झिमनिकाय खण्ड - १, पृ०-७७, खण्ड - ३, पृ०-३३७

१४२. चत्तारो सतिपट्ठाना समाधिनिमित्ता; चत्तारो सम्मप्पधाना समाधि परिक्खारा। मज्झिमनिकाय, खण्ड-१, पृ०-३७१

१४३. कुसलचित्तेग्गता समाधि। - विसुद्धिमग्गो, खण्ड-१, पृ०-१८८

१४४. अविक्खेपलक्खणो समाधि, विक्खेपविद्धंसनरसो, अविकम्पनपच्चुपट्ठानो। "सुखिनो चित्तं समाधियती" ति वचनतो पन सुखमस्स पदट्ठानं।। विसुद्धिमग्गो, खण्ड - १, पृ०-१८९

१४५. छन्नं अनुस्सतिट्ठानानं....इमेसं वसेन लद्धचित्तेकग्गता, या च अप्पनासमाधीनं पुब्बभागे एकग्गताअयं उपचारसमाधि। वही, पृ०-१९१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४६. बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव,, पृ०-५४-५५
विसुद्धिमग्गो, खण्ड - १, पृ० २७०-२७१
१४७-१४८. तीसु भूमिसु कुसलचित्तेकग्गता लोकियो समाधि। अरियमग्गसम्पयुत्ता एकग्गता लोकुत्तरो समाधी। - विसुद्धिमग्गो, खण्ड - १, पृ०-१९१
१४९. विशुद्धिमग्ग (परमत्थमञ्जूसा नामक टीका), खण्ड-१, पृ०-१९३-९४
१५०. चित्तं नीवरन्ति परियोनन्धन्ती ति नीवरणा। अट्ठसालिनी, पृ०-४२,
१५१. सुमंगलविलासिनी, खण्ड-१, पृ०-२३५।
१५२. नीवरणानि हि ज्ञानङ्गपच्चनीकानि .....तथा हि समाधि कामछन्दस्स पटिपक्खो पीति ब्यापादस्स, वितक्को थिनमिद्धस्स, सुखं उद्धच्चकुक्कुच्चस्स, विचारो विचिकिच्छाया' ति ।- विसुद्धिमग्गो, खण्ड-१, पृ०- ३०२.
१५३. बुद्धलीला सारसंग्रह- पृ०- २८०-८१
१५४. सुत्तनिपात-४/२
१५५. India Philosophy Vol. 1, P- 436.
१५६. अंगुत्तरनिकाय, दिट्ठिवज्जसुत्त।
१५७. तीहि च खो, आवुसो विसाख, खन्धेहि अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो सङ्गहितो। या चावुसो विसाख सम्भावाचा यो च सम्माकम्मन्तो यो च सम्माआजीवो इमे धम्मा सीलक्खन्धे सङ्गहिता.....। मज्झिमनिकाय, खण्ड-१, पृ०-३७१।
१५८. अत्थि सद्धा ततो विरियं, पञ्ञा च मम विज्जति। सुत्तनिपात, २८/८
१५९. सो धम्मं देसेति आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं। मज्झिमनिकाय, खण्ड-२, पृ०- ७७।
१६०. दीपालोकेनेव तमस्स पुञ्ञ किरियवत्थुगतेन तेन-तेन कुसलंगेन तस्स तस्स अकुसलंगस्स पहानवसेन, समाधिना विक्खसम्भनहानवसेन... पञ्ञाय समुच्छेदप्पहानवसेन।- पुग्गलपञ्ञति। पृ०-२४
१६१. इध, महाराज, भिक्खु चक्खुना रूपं दिस्वा न निमित्तगाही होति नानु ब्यञ्जनग्गाही एवं खो, महाराज, भिक्खु इन्द्रियेसु गुत्तद्वारो होति। दीघनिकाय, खण्ड- १, पृ०- ६२
१६२. सतिया इन्द्रियसंवरो सम्पादेतब्बो । विसुद्धिमग्गो, भाग-१, पृ०-९९
१६३. बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ०-१९
१६४. विसुद्धिमग्गो, खण्ड-१, पृ०-३९-४०.
१६५. सम्पन्नसीला, भिक्खवे, विहरथ सम्पन्नपातिमोक्खा; पातिमोक्खसंवरसंवुता विहरथ आचारगोचरसम्पन्ना अणुमत्तेसु वज्जेसु भयदस्साविनो समादाय सिक्खथ सिक्खापदेसु मज्झिमनिकाय, खण्ड-१, पृ०- ४४ तथा देखिये- प्रज्ञा के प्रकाश में सम्यक् दृष्टि, विज्ञान भिक्षु, पृ०-३६।
१६६. गोचरो ति पिण्डपातादीनं अत्थाय उपङ्कमितुं युत्तट्ठानं । विसुद्धिमग्गो (परम०) खण्ड-१, पृ०- ५६
१६७. वही, पृ०- १७०-१७२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६८. वही, पृ०- १७७-१७८
१६९. अट्ठसालिनी, पृ-१०
१७०. देसना-संवरो-एच्छि-पच्चवेक्खण भेदतो ।
सुद्धि चतुब्बिधा वुत्ता, मुनिनादिच्चबन्धुना ।।
अभिधम्मत्थसंगहो, पृ०-९२३
१७१. सब्बानेव पनेतानि.... धुतकिलेसत्ता..... किलेसधुननतो वा धुतं ति लद्धवोहारं ञाणं अङ्गं एतेसं ति धुतङ्गानि। विसुद्धिमग्गो, भाग-१, पृ०-१४७
१७२. विसुद्धिमग्गो, भाग-१, पृ०- १४९-१५०.
१७३. मारसेनाविधाताय पंसुकूलधरो यति ।
सन्नद्धकवचो युद्धे खत्तियो विय सोभति ।। वही, पृ०- १५२
१७४. वही, पृ०-१५८-१५९
१७५. वही, पृ०-१६०-१६१
१७६. विसुद्धिमग्गो, भाग-१, पृ०-१६४-१६८
१७७. वही, पृ०-१७०-१७२
१७८. वही, पृ०- १७७-१७८
१७९. अट्ठसालिनी, पृ०-१०१
१८०. छेदनलक्खण पञ्आति अपि च ओभासनलक्खवा पञ्ञा । मिलिन्दपञ्ह,पृ०- ३०
१८१. प्रज्ञा के प्रकाश में सम्यक्-दृष्टि, विज्ञान भिक्षु-पृ०- ९४
१८२. अभिधम्मत्थसंगहो, भाग-१, पृ०-१७५
१८३. कुसलचित्तसम्पयुत्तं विपस्सनाञाणं पञ्ञा। विसुद्धिमग्गो, भाग-२, पृ०-९४६
१८४. धम्मसभावपटिवेधलक्खणा पञ्ञा, धम्मानं सभावपटिच्छादकमोहन्धकार विद्धंसनरसा, असम्मोहपच्चुपट्ठाना... । वही, पृ०- ९५०
१८५. कामेसु कामच्छन्दो.... कामासवो, यो भवेसुभवछन्दो ....भवासवो .....सब्बपि मिच्छदिट्ठि दिट्ठासवो....दुक्खे अञ्ञाणं....पटिच्च-समुप्पन्नेसु धम्मेसु अञ्ञासवो। धम्मसंगणि-पालि, पृ०-२४७
१८६. विसुद्धिमग्गो, भाग-२, पृ०-९५२
१८७. योगविहितेसु वा कम्मायतनेसु.... सच्चानुलोमिकं वा रूपं अनिच्चं ति.....परतो अस्सुत्वा पटिलभति अयं वुच्चति चिन्तामया पञ्ञा.....परतो सुत्वा पटिलभति अयं वुच्चति सुत्तमया पञ्ञा.....सब्बा पि समापन्नस्स पञ्ञा भावनामया पञ्ञा। विभंग, पृ०-३८५
१८८. दुतियत्तिके कामावचरधम्मे आरब्भ पवत्ता परित्तारम्मणा। रूपावचरारूपावचरे आरब्भ पवत्ता महग्गतारम्मणा। सा लोकियविपस्सना। निब्बानं आरब्भ पवत्ता अप्पमाणारम्मणा। विसुद्धिमग्गो, भाग-२, पृ०-९५४
१८९. वही, पृ०-९५५ १९०. वही, पृ०-९५६
१९१. बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्य नरेन्द्र देव, पृ०-४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९२. तत्थ समथसङ्गहे ताव दस कसिणानि, दस अशुभा,
दस अनुस्सतियो, चत्तस्सो अप्पमञ्ञायो, एका सञ्ञा,
एकं ववत्थानं, चत्तारो आरूप्पा चेति सत्तविधेन समथकम्माट्ठानसङ्गहो। अभिधम्मत्थ-संगहो, भाग-२, ९/२

१९३. बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ०-५४

१९४. तस्मा नीलादिवण्णं मत्तिकं अग्गहेत्वा गङ्गावहे मत्तिकासदिसाय अरुणवण्णाय .... कसिणं कातब्बं.... अरुवण्णाय। विसुद्धिमग्गो, भाग-१, पृ०-२६३-२६४।

१९५. नीलपीतलोहितोदातसम्भेदवसेन । वही, भाग-१, पृ०-२६३

१९६. कटसारके वा चम्भे वा पटे वा विदत्थिचतुरङ्गुलप्पमाणं छिद्दे कातब्बं.....। विसुद्धिमग्गो, भाग-१, पृ०-३६१

१९७. दिट्ठवसेन वा फुट्ठवसेन वा।.... तस्मा समसीसट्ठितं .....उच्छुं वा..... रुक्खं वा .....वातेन पहरियमानं दिस्वा....."वातो वातो" ति भावेतब्बं । वही, पृ०-३६२

१९८. वही, पृ०- ३६३, ६४, ६५

१९९. बौद्ध साधना- विधि, धर्माचार्य भदन्त रेवतधर्म, पृ०- ४-५

२००. स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको अकालिको.....पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूही ति। मज्झिमनिकाय, भाग-१, पृ०- ५०

२०१. सुप्पटिपन्नो भगवतो सावकसङ्घो..... यदिदं चत्तारि पुरिसयुगानि, अट्ठपुरिसपुग्गला.... अनुत्तरं पुञ्ञव खेत्तं लोकस्सा ति। वही

२०२. अरियसावको अत्तनो सीलानि अनुस्सरति अखण्डानि अच्छिद्दानि असवलानि.... समाधिसंवत्तनिकानि । अंगुत्तरनिकाय, भाग-३, पृ०-९

२०३. अरियसावको देवतानुस्संति भावेति-सन्ति देवा चातुमहाराजिका... मयहंपि तथारूपा पञ्ञा संविज्जति ति। वही, पृ०-१०

२०४. "मरणं भविस्सति जीवितिन्द्रियं उपच्छिज्जिस्सती" ति वा, "मरणं-मरणं" ति वा योनिसो मनसिकारो पवत्तेतब्बो। विसुद्धिमग्गो, भाग-१, पृ०- ५०५

२०५. बौद्ध धर्म-दर्शन आचार्य नरेन्द्र देव, पृ०-८४-९४

२०६. वही, पृ०- ९४

२०७. वही, पृ०- ९७-९८

२०८. बौद्ध-साधना-विधि, पृ०-६

२०९. आहारे पटिक्कूलसञ्ञं अनुयुत्तस्स भिक्खुनो रसतण्हाय चित्तं पतिलीयति ... कायगतासतिभावना पि पारिपूरिं गच्छति। विसुद्धिमग्गो, भाग-२, पृ०-७४९

२१०. बौद्ध साधना-विधि, पृ०-६

२११. विसुद्धिमग्गो, भाग-१, पृ०-२०

२१२. आवासो च कुलं लाभो गणो कम्मं च पञ्चमं।
अद्धानं आति आबाधो गन्थो इद्धी ति ते दसा ति । वही, भाग-२, पृ०-२०१

२१३. विसुद्धिमग्गो, भाग-१, पृ०-२०७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१४. पियो गुरु भावनीयो वत्ता च वचनक्खमो ।
गम्भीरं च कथं कत्ता नो कट्ठाने नियोजको ।। अंगुत्तरनिकाय, भाग-३, पृ०-१७७
२१५. बौद्ध संस्कृति का इतिहास, डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर, पृ०- २७२
२१६. तासं वसेन छलेव पुग्गला होन्ति रागचरितो, दोसचरितो, मोहचरितो, सद्धाचरितो, बुद्धचरितो, वितक्कचरितो ति। विसुद्धिमग्गो, भाग-१, पृ०- २१९।
२१७. पाटिसम्मिदामग (पालि), पृ०-३३८
२१८. मज्झिमनिकाय, भाग-२, पृ०-१८९
२१९. बौद्ध साधना-विधि, पृ०-४
२२०. अनिच्चादिवसेन विविधेन आकारेन पस्सती ति विपस्सना। अट्ठसालिनी, पृ०- ४५
२२१. बौद्ध दर्शन-मीमांसा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ०- ६७
२२२. सो एवं अयोनिसो मनसि करोति- 'अहोसिं नु खो अहं अतीतमद्धानं.....
अयं नु खो सत्तो कुत्तो आगतो? सो कुहिंगामी भविस्सती, ति। मज्झिमनिकाय, भाग-१, पृ०-१२
२२३. विसुद्धिमग्गो, भाग-३, पृ०-१५०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय अध्याय

जैन एवं बौद्ध योग-साहित्य

जैन साहित्य

जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति का मूलाधार आगम साहित्य है। आगम साहित्य की सुदृढ़ नींव पर ही जैन दर्शन का विशाल प्रासाद खड़ा है। आगम को परिभाषित करते हुए *विशेषावश्यकभाष्य* में कहा गया है- जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है वह शास्त्र आगम या श्रुत ज्ञान कहलाता है।[१] आचार्य *मल्लिषेण* ने भी आप्तवचन से पदार्थों के ज्ञान करने को आगम कहा है।[२] इसी प्रकार *न्यायसूत्र* में कहा गया है कि आप्तकथन आगम है।[३]

जैन परम्परा में आगम के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है, यथा— सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आगम[४], आप्तवचन, ऐतिह्य, आम्नाय, जिनवचन तथा श्रुत।[५] किन्तु वर्तमान में 'आगम' शब्द ही ज्यादा प्रचलित है।

जैन साहित्य दो भागों में विभक्त है- पहला वह भाग जिसके अन्तर्गत *महावीर* से पहले के साहित्य हैं, जिन्हें पूर्व के नाम से जाना जाता है और दूसरा वह भाग जो *महावीर* के बाद के हैं, जिन्हें अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि *महावीर* से पूर्व भी साहित्य थे, क्योंकि महावीर से पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके थे। आचार्य *अभयदेव* का कहना है कि द्वादशांगी से पहले पूर्व साहित्य निर्मित किया गया था। इसी से उनका नाम पूर्व रखा गया । इनकी संख्या चौदह है।[६] *महावीर* के बाद के साहित्य जिनमें उनके उपदेश संकलित हैं, दो भागों में विभक्त हैं- अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य । अंगप्रविष्ट वे शास्त्र हैं जो गणधरों के द्वारा सूत्र रूप में बनाये गये हैं या जो गणधर के द्वारा प्रश्न करने पर तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित हैं। अंगबाह्य वे हैं जो स्थविरों अर्थात् बाद के आचार्यों द्वारा रचित हैं। अंगप्रविष्ट के अन्तर्गत द्वादशांगी आता है। इन आगम ग्रंथों में जैन धर्म-दर्शन के सारे सिद्धान्त संकलित हैं। इनकी भाषा अर्द्धमागधी है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर परम्परा में भी योग विषयक साहित्य हैं जो शौरसेनी में रचित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग-विद्या भारतीय चिन्तन परम्परा की विशेषता रही है। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने योग के सम्बन्ध में निपुण साहित्य की रचना की। योग से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थों का यहाँ परिचय दिया जा रहा है।

मोक्षपाहुड

इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य *कुन्दकुन्द* माने जाते हैं जिनका समय लगभग ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी के आस-पास माना जाता है।[७] *मोक्षपाहुड* जैन योग विषयक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध है। इसमें १०६ गाथाएँ हैं। आत्मा के विभिन्न स्वरूपों का परिचय कराते हुए इसमें बताया गया है कि मिथ्यात्व के कारण जीव की क्या दशा होती है? गृहस्थ और मुनि दोनों ही प्रकार के साधकों की साधना का विधि-विधान इसमें वर्णित है। आत्मध्यान में प्रवृत होने के लिए कषायों के आवरण को हटाने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि इससे सभी आस्रवों का निरोध होता है और संवर-निर्जरा से संचित कर्मों का क्षय होता है। सामान्यत: ऐसा देखा जाता है या ग्रन्थों में पढ़ने को मिलता है कि अनेक साधक विषय-वासना से मोहित होकर साधना-पथ से च्युत हो जाते हैं। इसलिए साधक को ध्यान-साधना में सावधान करते हुए पंचमहाव्रत, तीन गुप्ति, पाँच समिति आदि चारित्र का वर्णन किया गया है। साथ ही श्रावक-धर्म का वर्णन भी किया गया है।

आचार्य *कुन्दकुन्द* की इस रचना को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना *योगशतक* के रूप में की गयी है। संभवत: इसीलिए इसे *योगपाहुड* भी कहा जाता है। इसमें प्राणायाम को छोड़कर यम, नियमादि सात अंगों का वर्णन भी मिलता है।[८] इस ग्रन्थ की टीका श्रुतसागरसूरि जी ने की है।

समाधितन्त्र

इस नाम से जैन-परम्परा में तीन आचार्यों के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं-आचार्य *कुन्दकुन्द*, आचार्य *पूज्यपाद* और *यशोविजय गणि*। इन तीनों आचार्यों ने एक ही नाम से ग्रन्थों की रचना की है। अन्तर इतना ही है कि तीनों आचार्यों का कालक्रम आगे-पीछे है। आचार्य *कुन्दकुन्द* का समय ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी माना जाता है तो आचार्य *पूज्यपाद* का समय विक्रम की पाँचवी-छठी शती है, परन्तु विषयवस्तु की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है। बहुत कुछ साम्य के अतिरिक्त उनकी अनेक गाथाओं का शब्दश: अथवा किञ्चित् भेद सहित अनुवाद पाया जाता है।[९] इसमें ध्यान तथा भावना के साथ-साथ आत्मतत्त्व को पहचानने के उपायों का सुन्दर एवं विस्तृत विवेचन किया गया है। कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है कि मनुष्य में ज्ञान का होना आवश्यक है तथा आत्मज्ञान के बिना तप करना व्यर्थ है, क्योंकि उसके बिना मनुष्य को मुक्ति नहीं मिल सकती।[१०] इस ग्रन्थ पर आचार्य *प्रभाचन्द्र* द्वारा संस्कृत टीका लिखी गयी है।

मूलाचार

मूलाचार के रचयिता *वट्टकेराचार्य* माने जाते हैं। इसके टीकाकारों में *श्री वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य* तथा *मेघचन्द्राचार्य* के नाम आते हैं। [११] प्रस्तुत ग्रन्थ में बारह अधिकार तथा १२५२ गाथाएँ हैं । इसके पाँचवें अधिकार में तप, आचार आदि की प्ररूपणा करते हुए आभ्यन्तर तप के जो छः भेद निर्दिष्ट किये गये हैं उनमें पाँचवाँ ध्यान है।[१२] यहाँ ध्यान के चारों प्रकारों को निरूपित करते हुए आर्त और रौद्रध्यान को अप्रशस्त तथा धर्म एवं शुक्ल ध्यान को प्रशस्त बताया गया है। [१३] धर्म और शुक्ल को ही मोक्ष का हेतु कहा गया है। आचार्य *वट्टकेर* का समय लगभग प्रथम-द्वितीय शती माना जाता है।

परन्तु कुछ विद्वान् मूलाचार को *कुन्दकुन्दाचार्य* की कृति मानते हैं। उनका मानना है कि *कुन्दकुन्द* ही *वट्टकेराचार्य* के नाम से जाने जाते थे। जैसा कि *'मूलाचार'* पर लिखी गयी *वसुनन्दिरचित* 'आचारवृति' नामक टीका से यह तथ्य प्रामाणिकता की ओर अग्रसर होता है। ग्रन्थ के समापन पर उन्होंने लिखा है-

'इति मूलाचारविवृत्तौ द्वादशोध्यायः इति कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्री श्रमणस्य।'

भगवती आराधना

इस ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य *शिवार्य* हैं। यद्यपि *भगवती आराधना* का यथार्थ नाम तो 'आराधना' ही है, भगवती तो उसके प्रति आदर भाव व्यक्त करने के लिए प्रयोग किया गया है। इसके टीकाकार श्री *अपराजित सूरि* ने अपनी टीका के अन्त में इसका नाम आराधना ही दिया है।[३६] *भगवती आराधना* के आधार पर ही आचार्य *देवसेन* ने *'आराधनासार'* ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ पर सर्वप्रथम टीका *अपराजित सूरि* ने की है जो विजयोदया टीका के नाम से उपलब्ध है। दूसरी टीका मूलाराधना दर्पण है जो प्रसिद्ध ग्रन्थकार पं० आशाधर द्वारा रचित है। इसकी गाथा सं० में विभिन्नता पायी जाती है। किसी में २१७० है तो किसी में २१६४,[३७] लेकिन देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने अपने ग्रन्थ में २१६६ गाथाओं का वर्णन किया है।[३८]

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

यह ग्रन्थ सम्यक्-दर्शन,[३९] सम्यक्-ज्ञान,[४०] सम्यक्-चारित्र[४१] और सम्यक्-तप रूप चार आराधनाओं का अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अन्तर्गत ध्यान के भेद-प्रभेदों[४२] का वर्णन किया गया है। साथ ही इसमें मुनिधर्म का भी विस्तृत विवेचन देखने को मिलता है।

तत्त्वार्थसूत्र

'तत्त्वार्थसूत्र' भारतीय दार्शनिक विद्या की जैन-शाखा की एक अद्वितीय कृति है। इसके रचनाकार *'उमास्वाति'* या *'उमास्वामि'* हैं, जिनका समय विक्रम की पहली शती से चौथी-पाँचवी शती के बीच का माना जाता है।[४४] *उमास्वाति* एक ऐसे तत्त्ववेत्ता हैं, जिन्हें जैन परम्परा की दोनों शाखाओं में समान प्रतिष्ठा प्राप्त है। दिगम्बर उन्हें अपनी शाखा का और श्वेताम्बर उन्हें अपनी शाखा का मानते हैं। दिगम्बर परम्परा में वे *'उमास्वामि'* तथा *'उमास्वाति'* के नाम से जाने जाते हैं, तो श्वेताम्बर परम्परा में केवल *उमास्वाति* के नाम से। गागर में सागर की भाँति सम्पूर्ण जैन दर्शन इस में अनुस्यूत है। यह मोक्ष-मार्ग के प्रतिपादक के रूप में एक अनुपम एवं अनूठा ग्रन्थ है। इसमें दस अध्याय है, जिसमें प्रथम अध्याय में ज्ञान और क्रिया का वर्णन है। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम अध्यायों में जीवादि ज्ञेय पदार्थों का वर्णन किया गया है। षष्ठ, सप्तम, अष्टम तथा नवम एवं दशम अध्यायों में चारित्र का वर्णन है[४६]। खासकर षष्ठ अध्याय में योग[४५], योग के भेद[४६] तथा सप्तम अध्याय में पंच महाव्रत,[४७] नवम अध्याय में तप, तप के भेद,[४८] ध्यान, ध्यान के भेद [४९] आदि का विश्लेषण है। ये सभी चारित्र से सम्बन्धित हैं। ध्यान मूलतः चारित्र पर ही निर्भर करता है। अत: ध्यान निरूपण में प्राय: चारित्र का ही वर्णन देखने को मिलता है, कारण कि चारित्र के पालन से ही आध्यात्मिक विकास होता है।

इस ग्रन्थ पर दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। परन्तु अन्तर इतना ही है कि श्वेताम्बर परम्परा में सभाष्य तत्त्वार्थ की व्याख्याओं की प्रधानता है तो दिगम्बर परम्परा में मूलसूत्रों की ही व्याख्याएँ हुई हैं। *तत्त्वार्थसूत्र* के व्याख्याकारों में बहुत से विशिष्ट व्याख्याकारों के नाम आते हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं- *उमास्वाति, गन्धहस्ती* (*समन्तभद्र* और *सिद्धसेन* के विशेषण), *सिद्धसेन, हरिभद्र, यशोभद्र, मलयगिरि, वाचक यशोविजय, पूज्यपाद* आदि।

ध्यानशतक

'ध्यानशतक' का पूर्व नाम 'ध्यानाध्ययन' है। *ध्यानशतक* तो अपर नाम है।[५०] यह जैन योग परम्परा का एक प्राचीन ग्रन्थ है। इसके रचयिता *जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण* माने जाते हैं, जिनका काल ई० की ५ वीं शताब्दी माना जाता है। इसकी भाषा आगम शैली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(अर्धमागधी) की है। परन्तु इस ग्रन्थ के रचयिता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। जैसा कि पं० दलसुखभाई मालवणिया का मन्तव्य है कि *ध्यानशतक* के रचयिता के रूप में यद्यपि *जिनभद्रगणि* के नाम का निर्देश देखा जाता है, पर वह सम्भव नहीं दिखता है। इसका कारण यह है कि *हरिभद्र सूरि* ने अपनी *आवश्यकनिर्युक्ति* की टीका में समस्त ध्यान को शास्त्रान्तर स्वीकार किया है तथा समस्त गाथाओं की व्याख्या स्वयं की है, पर यह किसके द्वारा रची गयी है इसके सम्बन्ध में उन्होंने कुछ भी नहीं कहा है। इसके अतिरिक्त *हरिभद्र सूरि* की उक्त टीका पर टिप्पणी लिखनेवाले आचार्य *हेमचन्द्र सूरि* ने भी उसके रचयिता के विषय में कोई टिप्पणी नहीं की।[२१]

इस ग्रन्थ के अन्तर्गत सर्वप्रथम ध्यान के दो प्रकारों का वर्णन किया गया है। पुनः उन दो ध्यानों (प्रशस्त एवं अप्रशस्त) के पुनः दो-दो भेद बताये गये हैं,[२२] जिनमें प्रथम दो ध्यान आर्त और रौद्र को कषाय तथा वासनाओं को बढ़ाने का कारण माना गया है तथा अन्य दो ध्यान धर्म और शुक्ल को मोक्ष का कारण माना गया है। धर्मध्यान मोक्ष का सीधा कारण नहीं है, बल्कि वह तो शुक्लध्यान का सहयोगी मात्र है। शुक्लध्यान ही मोक्ष का सीधा कारण है। इनके अतिरिक्त इसमें आसन, प्राणायाम, अनुप्रेक्षा आदि का भी वर्णन है।

इष्टोपदेश

आचार्य *पूज्यपाद* विरचित योग सम्बन्धी यह दूसरा ग्रन्थ है। जो देखने में लघु है, किन्तु महत्त्वपूर्ण है। इसमें मात्र ५१ श्लोक हैं जिनकी भाषा संस्कृत है। इसमें उन्होंने योग से परमानन्द की उत्पत्ति का निर्देश करते हुए लिखा है-

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद् योगेन योगिनः ।।४७।।

अर्थात् लोक व्यवहार से निवृत्त होकर अपनी आत्मा में स्थित रहनेवाले योगी के हृदय में योग द्वारा एक अनिर्वचनीय परमानन्द उपलब्ध होता है।

साथ ही इसमें ध्यान के चार प्रकारों का भी वर्णन किया गया है । साधक की उन भावनाओं का भी उल्लेख है जिनके चिन्तन-मनन से वह अपनी चंचल वृत्तियों को त्यागकर अध्यात्ममार्ग में लीन होता है। इसकी रचना का काल वि० सं० की पाँचवी-छठी शती माना जाता है।

परमात्मप्रकाश

यह ग्रन्थ आचार्य *योगीन्दुदेव* द्वारा रचित है। योग-साधना का वर्णन करनेवाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थकारों में *योगीन्दुदेव* का अपना एक अलग ही स्थान है। *परमात्मप्रकाश* अपभ्रंश भाषा में दोहा के रूप में निबद्ध है जो योग-साधना के मार्ग को प्रशस्त करता है। इसका समय लगभग छठी शताब्दी माना गया है।[२३] मुख्यत: यह ग्रन्थ *योगीन्द्राचार्य* ने अपने शिष्य द्वारा किये गये प्रश्नों के उत्तरस्वरूप लिखा है। यह दो भागों में विभाजित है, जिसमें प्रथम भाग, द्वितीय भाग की अपेक्षा अधिक क्रमबद्ध है। इस ग्रन्थ में आचार्य *योगीन्दु* ने सर्वप्रथम आत्मा के त्रिविध रूपों का परिचय दिया है। तदुपरान्त आत्मसाक्षात्कार की आवश्यकता पर बल देते हुए गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन किया है। साथ ही मुक्तिमार्ग तथा रत्नत्रय का प्रतिपादन किया गया है। इसमें ३४५ दोहे हैं। *परमात्मप्रकाश* पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं जिनमें ब्रह्मदेव बालचन्द्र, पण्डित दौलतराम जी तथा मुनि भद्रस्वामी आदि के द्वारा लिखी गयी टीकाएँ प्रमुख हैं।

योगशतक

आचार्य *हरिभद्र सूरि* की योग से सम्बन्धित रचनाओं में *योगशतक* एक महत्त्वपूर्ण रचना है। जैन परम्परा में आचार्य *हरिभद्र* का एक विशिष्ट स्थान है। इन्होंने ही सर्वप्रथम 'योग' शब्द का प्रचलन जैन परम्परा में किया। *योगशतक,* जैसा कि नाम से ही ज्ञात होता है कि इसमें १०१ गाथाएँ सन्निहित हैं। आचार्य *हरिभद्र* ने योग सम्बन्धी अनेक विषयों की संक्षेप में चर्चा प्रस्तुत कृति में की है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही निश्चय एवं व्यवहार योग का स्वरूप निरूपित है। गाथा ३८ से ५० तक में साधक का आध्यात्मिक विकास कैसे संभव है, के विषय में वर्णन किया गया है। गाथा ५९ से ८० तक यह बताया गया है कि साधक को चित्त की स्थिरता के लिए किस तरह रागादि दोषों तथा परिणामों के विषय में चिन्तन-मनन करना चाहिए। साथ ही आचार्य *हरिभद्र* ने साधक की पात्रता की विशेष चर्चा की है। उन्होंने योग का शिक्षण या उपदेश करनेवाले गुरु को उद्दिष्ट करते हुए कहा है—भिन्न-भिन्न साधकों की योग्यता, भूमिका, क्षमता आदि को ध्यान में रखते हुए उन्हें रोगी को देने योग्य औषधि की तरह जिसके लिए जैसा उचित हो उपदेश करना चाहिए। (गाथा, २४)

इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य *हरिभद्र* ने योग का स्वरूप, लक्षण, योग के अधिकारी के लक्षण एवं ध्यान रूप योगावस्था की विस्तृत चर्चा की है। *योगशतक* के अतिरिक्त भी आचार्य *हरिभद्र* के योग से सम्बन्धित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, यथा *योगविंशिका, योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, षोडशक* आदि। इनका समय ई० सन् ७५७ से ८२७ तक का माना जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगविंशिका

आचार्य *हरिभद्र* असाधारण प्रतिभा के धनी और उद्भट् विद्वान् थे। इन्होंने अपने योग सम्बन्धी ग्रन्थों में अनेक दृष्टियों से योग का विश्लेषण किया है जो जिज्ञासुओं तथा साधकों के लिए वास्तव में हितकर और उपयोगी है। *योगविंशिका* बीस पद्यों की एक छोटी सी रचना है। आचार्य *हरिभद्र* ने ऐसी बीस-बीस पद्यों की बीस रचनाएँ की हैं। *योगविंशिका* उनमें से सतरहवीं है। इसकी रचना आर्या या गाथा छन्द में हुई है। योगविंशिका की पहली गाथा में ही आचार्य ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है- यद्यपि मोक्ष से जोड़ने के कारण सभी प्रकार का परिशुद्ध धर्म-व्यापार, धर्माराधना का कार्यक्रम, योग है; किन्तु स्थान, आसन तथा ध्यान आदि से सम्बद्ध साधनाक्रम को विशेषरूप से योग समझना चाहिए। स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन के रूप में योग के पाँच प्रकार बताये गये हैं, जिनमें स्थान और ऊर्ण का सम्बन्ध क्रिया की प्रधानता से है। इसलिए इसे क्रियायोग की संज्ञा से विभूषित किया गया है। अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन का सम्बन्ध ज्ञान, चिन्तन एवं मनन आदि के साथ है, इसलिए यह ज्ञानप्रधान है। अत: इसे ज्ञानयोग कहा गया है। इन सबके अतिरिक्त आचार्य ने इन पाँचों में से प्रत्येक की इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता तथा सिद्धि रूप में चार-चार भेद बतलाये हैं। इस तरह योग के बीस भेद हो जाते हैं। आगे पुन: आचार्य ने योग के चार और भेदों की चर्चा की है, जिसे उन्होंने प्रीति-अनुष्ठान, भक्ति-अनुष्ठान, आगम-अनुष्ठान तथा असंग-अनुष्ठान कहा है। अत: पूर्वोक्त बीस भेदों में से प्रत्येक के चार-चार भेद और हो जाते हैं। इस प्रकार योग के अस्सी भेदों का वर्णन योगविंशिका में देखने को मिलता है। इस पर सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा नैयायिक *उपाध्याय यशोविजय की संस्कृत टीका उपलब्ध होती है।*

योगदृष्टिसमुच्चय

आचार्य *हरिभद्र* की योग सम्बन्धी रचनाओं में *योगदृष्टिसमुच्चय* का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें २२७ पद्य हैं। इसकी भाषा संस्कृत है। इसमें आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है और कुछ नई विशेषताओं के साथ *योगबिन्दु* में वर्णित विषयों की पुनरावृत्ति भी की गयी है। जो सम्भवत: अब तक के योग सम्बन्धी ग्रन्थों में अन्यत्र उपलब्ध न हो।

आचार्य *हरिभद्र* ने आध्यात्मिक विकास की भूमियों के प्रथम प्रकार को योगदृष्टि कहा है, जिसमें योग की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर अन्त तक की भूमिकाओं को क्रमश: दिखलाया गया है और उसे आठ योगदृष्टियों के रूप में विभक्त किया है। वे आठ दृष्टियाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निम्न हैं- मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा तथा परा।[२४] द्वितीय प्रकार में उन्होंने आध्यात्मिक विकास की भूमियों को तीन भागों में विभक्त किया है- इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग। तृतीय प्रकार में उन्होंने योगाधिकारी के रूप में गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और सिद्धयोगी के रूप में चार प्रकार के योगियों का वर्णन किया है।

इस तरह उत्तरोत्तर विकास पाते आध्यात्मिक ज्ञान, चिन्तन-क्रम तथा उससे फलित होते यम-नियमादि योगाङ्गों तथा परिष्कृत होते जीवन के माध्यम से आचार्य ने जो विचार-सामग्री प्रस्तुत की है, वह वास्तव में बहुत ही उपयोगी है।

इस ग्रन्थ पर स्वयं ग्रन्थकार आचार्य *हरिभद्र* ने स्वोपज्ञवृत्ति की रचना की है। इनके अतिरिक्त एक और वृत्ति उपलब्ध होती है जिसकी रचना *साधुराजगणि* ने की है, जिसमें ४०५ श्लोक प्रमाण उपलब्ध होते हैं।[२५]

योगबिन्दु

इस ग्रन्थ में आचार्य ने योग के विभिन्न पहलुओं पर बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। इसमें ५२६ संस्कृत श्लोक हैं। इसमें आचार्य ने परम्परागत योग की चर्चा करते हुए उनके साथ जैन योग की समालोचना भी की है। जिससे रचनाकार के व्यापक दृष्टिकोण, असाम्प्रदायिक चिन्तन तथा सर्वोपरि भावना का पूर्ण परिचय मिलता है। *योगबिन्दु* में आचार्य ने सर्वप्रथम योग के अधिकारी का वर्णन किया है। योग के अधिकारी के सम्बन्ध में बतलाया है कि वे दो प्रकार के होते हैं- चरमावर्ती और अचरमावर्ती। चरमावर्ती योगी ही मोक्ष के अधिकारी होते हैं। जिस जीव का काल मर्यादित हो गया है, जिसने मिथ्यात्व ग्रन्थि का भेदन किया है, जो शुक्लपक्षी है, वही चरमावर्ती मोक्ष का अधिकारी होता है। ठीक इसके विपरीत जो विषय में, वासना में और काम-भोगों में लिप्त रहते हैं, वें अचरमावर्त्ती की श्रेणी में आते हैं। अचरमावर्ती को ही भवाभिनन्दी की संज्ञा दी गयी है। विभिन्न प्रकार के जीव के भेदों के अन्तर्गत अपुनर्बन्धक, सम्यक्-दृष्टि, देशविरति तथा सर्वविरति की चर्चा है। इसी प्रकार चारित्र के विकास हेतु अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षेप आदि पाँच भेदों का वर्णन किया है, जिसके सम्यक् पालन से कर्मक्षय तथा मुक्ति होती है। ये योग के पाँच अंग के रूप में भी जाने जाते हैं। आगे आचार्य ने योग का एक दूसरा प्रकार भी बताया है। उन्होंने लिखा है- तात्त्विक, अतात्त्विक, सानुबन्ध, निरनुबंध, आस्रव तथा अनास्रव आदि एक अपेक्षा से ये योग के छः भेद हैं।[२६] आगे उन्होंने योग-मार्ग का निरूपण करते हुए लिखा है- जो योग-मार्ग के वेत्ता हैं, जिन्होंने तपस्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा अपने पाप नष्ट कर डाले हैं, उन्होंने भावी योगियों के कल्याण के लिए जो बात कही है वह मोहरूपी अंधकार को मिटाने के लिए दीपक के सदृश है। उन ज्ञानीजनों ने कहा है– वादी और प्रतिवादी तर्क-वितर्क द्वारा कभी भी तत्त्व के अन्तिम निर्णय तक नहीं पहुँच पाते । उनकी स्थिति तेली के कोल्हू के बैल जैसी है। बैल कोल्हू के चारों ओर चक्कर लगाता रहता है, पर वह रहता वहीं का वहीं है।[२७] वे मानते थे कि वाद-विवाद से न सत्य प्राप्त होता है और न साधना ही सफल होती है।

इस ग्रन्थ पर 'सद्योगचिन्तामणि' नामक स्वोपज्ञवृत्ति है, जिसका श्लोक प्रमाण ३६२० है।

षोडशकप्रकरण

१६-१६ पद्यों के १६ प्रकरण होने से इसका नाम षोडशक है। इस ग्रन्थ में योग-साधना द्वारा क्रमशः स्वानुभूतिरूप परमानन्द की प्राप्ति का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ पर *योगदीपिका* नामक एक वृत्ति भी उपलब्ध होती है, जिसके रचनाकार *यशोविजय गणि* जी महाराज हैं। इस ग्रन्थ के चौदहवें प्रकरण में योग-साधना के बाधक तत्त्वों का वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है- खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद्, रुग्र और आसंग-ये आठ चित्त-दोष हैं। इसी प्रकार सोलहवें प्रकरण में इन आठ दोषों के प्रतिपक्षी तत्त्वों का उल्लेख आया है, जो निम्न है - अद्वेष, जिज्ञासा, शुश्रुषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति। ये चित्त के गुण हैं।

आत्मानुशासन

इस ग्रन्थ की रचना आचार्य *गुणभद्र* ने की है। इसकी भाषा संस्कृत है और यह श्लोकों के रूप में निबद्ध है। श्लोकों वाली यह वृत्ति योगाभ्यास की पूर्वपीठिका है। इसमें बताया गया है कि मन को बाह्य विषयों से हटाकर आत्मध्यान की ओर प्रेरित करना चाहिए। इस ग्रन्थ का रचना-काल ई० की ९वीं शताब्दी का मध्य माना जाता है। इस ग्रन्थ के टीकाकार एवं अँग्रेजी अनुवादक के रूप में जे०एल० जैनी का नाम आता है।

तत्त्वानुशासन

इसे ध्यानशास्त्र के नाम से भी जाना जाता है। इसकी रचना *रामसेनाचार्य* जिनका समय विक्रम की १०वीं शताब्दी माना जाता है[२८], के द्वारा हुई है। इसका प्रतिपाद्य विषय मुख्य रूप से ध्यान है और साथ ही इसमें ध्यान के नैमित्तिक एवं सहायक तत्त्वों का विवेचन भी किया गया है। ध्यान द्वारा व्यवहार तथा निश्चय दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग सिद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं। मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की अनिवार्यता निरूपित की गयी है। ध्यान के भेद-प्रभेद, ध्यान के महत्त्व आदि को बताते हुए मन की एकाग्रता पर विशेष बल दिया गया है। साथ में मन्त्र, जप, आसन आदि का भी वर्णन आया है। इसके अन्तर्गत २५९ पद्य निबद्ध हैं।

पाहुडदोहा

इस ग्रन्थ के रचयिता के रूप में मुनिश्री *रामसिंह* का नाम जाना जाता है। यह अपभ्रंश भाषा का साहित्य है जिसमें २२२ दोहे निबद्ध हैं। इसका समय ई० सन् ९३३ और ११०० के बीच अर्थात् १००० के आसपास होना चाहिए। इसमें योग से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दों, यथा-शिवशक्ति, देहदेवली, सगुण-निर्गुण, दक्षिण-मध्य आदि का विवेचन भी देखने को मिलता है। परन्तु ज्यादातर दोहे ऐसे हैं जिनके द्वारा बाह्य क्रियाकाण्ड की निष्फलता तथा आत्मसंयम और आत्मदर्शन में ही सच्चा कल्याण है, का उपदेश दिया गया है। अत: कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय *योगीन्दुदेव* कृत *परमात्मप्रकाश* और *योगसार* के प्रतिपाद्य विषय से साम्य रखता है।

योगसार प्राभृत

इस ग्रन्थ की रचना मुनि श्री *अमितगति* ने की है । इसमें मुनिव्रत एवं श्रावकव्रत दोनों की चर्चा है। यह ९ अधिकारों में विभक्त है, जिसके अन्तर्गत जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, चारित्र एवं चूलिका आदि विषय पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही योग सम्बन्धित अपेक्षित विषयों पर चर्चा की है। इसके अतिरिक्त जीव-कर्म का सम्बन्ध, कर्म के कारण, कर्म से छूटने के उपाय, ध्यान आदि की विस्तृत चर्चा है।

इसका रचना-काल १०वीं शताब्दी है तथा इसके अन्तर्गत ५४० श्लोक निबद्ध हैं। इसका हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध है।

ज्ञानार्णव

ज्ञानार्णव जैन योग का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जिसकी रचना आचार्य *शुभचन्द्र* द्वारा हुई है और जो ३९ प्रकरणों तथा २२३० श्लोकों में निबद्ध है। इसके अन्तर्गत ध्याता का स्वरूप,[२९] ध्यान के लक्षण[३०] तथा उसके भेद-प्रभेदों[३१] का विशेष रूप से विश्लेषण-विवेचन हुआ है। साथ ही इसमें बारह भावनाओं[३२] के स्वरूपों, संसार-बन्धन के कारण, कषाय, मन के विषय, आत्मा एवं बाह्य पदार्थों के बीच सम्बन्ध, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, मन्त्र, जप, शुभ-अशुभ, शकुन, नाड़ी आदि विषयों पर विस्तृत चर्चा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह जैन परम्परा का अद्वितीय ग्रन्थ है। इसके अन्य दो नाम भी उपलब्ध होते हैं- *योगार्णव* और *योगप्रदीपा* इसकी कुछ टीकाएँ भी उपलब्ध होती हैं। टीकाकारों में *श्रुतसागर, नयविलास* और *अज्ञात* आदि के नाम आते हैं।

योगशास्त्र

आचार्य *हेमचन्द्र* कृत यह ग्रन्थ योग विषयक तथ्यों के लिए बहुचर्चित ग्रन्थ है, जो १०१८ श्लोक प्रमाण में निबद्ध है। आचार्य *हेमचन्द्र* का काल १२वीं शताब्दी माना जाता है। यह ग्रन्थ बारह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम से तृतीय अध्याय तक साधु एवं गृहस्थों की आचार-संहिता को निरूपित किया गया है। चतुर्थ अध्याय में कषायों को जीतने तथा समतावृत्ति के स्वरूपादि का वर्णन आया है। पंचम अध्याय में प्राणायाम[३३] आदि का विश्लेषण है। षष्ठ अध्याय में पर-काया प्रवेश, प्रत्याहार, धारणा आदि के स्वरूपों एवं उनके फलों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। सप्तम से दशम अध्याय तक ध्यान के चार प्रकारों[३४] का विस्तृत वर्णन है। अन्त में, ग्यारहवें एवं बारहवें अध्याय में शुक्लध्यान तथा योग का सम्यक् निरूपण किया गया है।[३५]

इस पर स्वयं आचार्य *हेमचन्द्र* लिखित स्वोपज्ञवृत्ति है जिसमें प्रतिपाद्य विषयों को कथाओं और दृष्टान्तों के माध्यम से और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसमें १२०० श्लोक है। इसे अध्यात्मोपनिषद् भी कहा जाता है।

उपर्युक्त साहित्य के अतिरिक्त ध्यानाध्ययन, ध्यान-विचार, अध्यात्मसार अध्यात्मोपनिषद्, ज्ञानसार, ध्यान दीपिका, योगप्रदीप, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, अध्यात्मतत्त्वालोक,श्रावकाचार संग्रह आदि साहित्य भी हैं जिनमें योग और ध्यान सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होती हैं। वर्तमान में प्रचलित जैन योग-साधना (प्रेक्षाध्यान) पर विपुल मात्रा में पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं— प्रेक्षाध्यान आधार और स्वरूप,कायोत्सर्ग, श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा, चैतन्य केन्द्रप्रेक्षा, अमूर्तचिन्तन, जैन योग,लेश्याध्यान आदि ।

बौद्ध साहित्य

बौद्ध परम्परा का साहित्य बहुत ही विशाल तथा व्यापक है। बौद्ध साहित्य केवल भारतीय भाषाओं में उपलब्ध नहीं होता है, बल्कि विभिन्न विदेशी भाषाओं में भी विपुल मात्रा में उपलब्ध है। यद्यपि बुद्ध ने अपने जीवनकाल में न तो किसी ग्रन्थ की रचना की और न करायी ही, क्योंकि वे एक सच्चे धर्मोपदेशक थे और मानव को सही मार्ग दिखाना ही उनका एक मात्र उद्देश्य था। भगवान् बुद्ध ने जिस भाषा में अपना उपदेश दिया,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्कालीन समाज में वह मागही या मागधी कही जाती थी, उसे ही आज पालि के नाम से जाना जाता है।

जिस प्रकार वैदिक परम्परा का मूल साहित्य वेद है, जैन परम्परा का मूल साहित्य द्वादशांग है, उसी प्रकार बौद्ध परम्परा का मूल साहित्य त्रिपिटक है। तीनों पिटक के नाम हैं- *विनयपिटक, सुत्तपिटक* और *अभिधम्मपिटक*। भगवान् *बुद्ध* की सम्पूर्ण वाणी इन्हीं तीनों पिटकों में संकलित हैं, जिनका विभाजन कुछ इस प्रकार से है-

१. विनयपिटक को तीन विभागों में बाँटा गया है- सुत्तविभंग, खंदक, परिवार।

२. सुत्तपिटक पाँच विभागों में विभक्त है- दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय।

३. अभिधम्मपिटक जो सात उपविभागों में विभक्त है, यथा-धम्मसंगणी, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान।

यद्यपि भगवान् *बुद्ध* के सम्पूर्ण उपदेश इन तीनों विभागों में विभाजित साहित्य में आ जाते हैं, तथापि यहाँ पर कुछ प्रमुख साहित्यों का ही परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है-

ललितविस्तर

ललितविस्तर बौद्ध संस्कृति का उत्कृष्टम महाकोश है जो मिश्रित संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इसे *वैपूल्यसूत्र* या *महावैपूल्यसूत्र* भी कहा गया है। यह ग्रन्थ २७ अध्यायों में विभक्त है जिसमें *बुद्ध* के जन्म से प्रथम उपदेश तक का जीवन दर्शन-निबद्ध है, साथ ही तत्कालीन शुद्धि-रुचिर-लोकजीवन से सम्बन्धित विभिन्न संदर्भों की विभिन्न झलकियाँ भी देखने को मिलती हैं। आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी किया है।

यद्यपि यह पद्यमय रचना है, तथापि इसमें पुरानी परम्पराओं का भी दर्शन होता है। महात्मा *बुद्ध* की प्रारम्भिक ध्यान-साधना का अवलोकन इसमें किया जा सकता है। इसकी रचना प्रथम शती ई० पूर्व मानी जाती है।

विसुद्धिमग्गो

आचार्य *बुद्धघोष* द्वारा रचित यह ग्रन्थ पालि साहित्य की अमूल्य धरोहर है, जिसमें आचार्य *बुद्धघोष* ने साधकों के लिए योगाभ्यास की युक्तियों को सरल एवं सुबोध भाषा में निबद्ध किया है। बौद्ध धर्म का ऐसा कोई भी अंग नहीं जिसका प्रतिपादन *विसुद्धिमग्गो* में न किया गया हो। जैसा कि ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही *बुद्धघोष* ने यह स्पष्ट किया है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारों आगमों के बीच स्थित होकर यह *विसुद्धिमग्ग* उनके यथार्थ अर्थ को प्रकाशित करेगा।

सम्पूर्ण विसुद्धिमग्ग तीन भागों तथा तेईस परिच्छेदों में विभक्त है। जिसके प्रथम भाग में शील,[४३] धुताङ्ग,[४४] कर्मस्थान ग्रहण करने की विधि,[४५] कसिण,[४६] अशुभ कर्मस्थान,[४७] षड् अनुस्मृति[४८] आदि का विवेचन किया गया है। द्वितीय भाग जिसके ११वें परिच्छेद में समाधि निर्देश[४९] है, साथ ही ब्रह्मविहार निर्देश[५०] का भी वर्णन है। तृतीय भाग जिसके अन्तर्गत प्रज्ञाभूमि-निर्देश, दृष्टि-विशुद्धि-निर्देश, ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि निर्देश तथा प्रज्ञा भावना आदि निर्देश निरूपित किया गया है।

इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० की ४थी शती है, ऐसा माना जाता है।

अभिधम्मत्थसंगहो

इस ग्रन्थ के रचयिता बर्मा निवासी आचार्य *अनिरुद्ध* माने जाते हैं। आचार्य *अनिरुद्ध* का समय ४थी से ५वीं शताब्दी माना जाता है। आचार्य *अनिरुद्ध* आचार्य *बुद्धघोष* और आचार्य *वसुबन्धु* के प्रायः समकालीन थे। *अभिधम्मत्थसंगहो* पालि भाषा में निबद्ध है तथा तृतीय पिटक *अभिधम्म* का प्रवेश-द्वार माना जाता है। कहा भी गया है- जिस प्रकार हिमालय विस्तार में अत्यधिक लम्बे-चौड़े बीहड़ जंगलों के कारण दुःप्रवेश है, उसी प्रकार इस पिटक की दशा है। जिस प्रकार नक्शों और चार्टों के द्वारा जंगल में सहज ही प्रवेश किया जा सकता है, उसी प्रकार *अभिधम्मत्थसंगहो* को स्वायत्त कर लेने पर *अभिधर्म* में प्रवेश करना सुगम है।

अभिधम्मत्थसंगहो नौ परिच्छेदों में विभक्त है। इसके प्रथम छः परिच्छेदों में चित्त, चैत्तसिक रूप और निर्वाण का वर्णन प्राप्त होता है। बाद के तीन परिच्छेदों में बौद्ध धर्म के कुछ जटिल प्रश्नों का समाधान किया गया है। कुल नौ परिच्छेद इस प्रकार हैं- चित्त संग्रह, चैतसिकसंग्रह, पण्णिकसंग्रह, वीथिसंग्रह, वीथिमुक्तसंग्रह, रूपसंग्रह, समुच्चयसंग्रह, प्रत्ययसंग्रह तथा कर्मस्थानसंग्रह । कालान्तर में इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें *विभाविनी* और *परमत्थदीपनी* टीकाएँ विद्वता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। अभी धर्मानन्द कोशाम्बी ने नवनीता टीका लिखकर इस ग्रन्थ के गम्भीर तथ्यों को सरल एवं सुबोध बना दिया है।

बोधिचर्यावतार

इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य *शान्तिदेव* हैं, जिनका समय सातवीं शताब्दी माना जाता है। सर्वप्रथम इसका रूसी संस्करण निकला था। यह महायान बौद्ध धर्म में बोधि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा पूर्णज्ञान तक पहुँचने के मार्ग को प्रशस्त करनेवाला अनुपम ग्रन्थ है। बाद में इसी का सन् १९०२ में ही लावले पुंसे ने पेरिस से फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित करवाया था। अब तो इसका इटालियन, जर्मन, हिन्दी आदि अनुवाद भी हो गया हैं।

यह नौ अध्यायों में विभक्त है। जिसके अन्तर्गत प्रथम अध्याय में बोधिचित्त प्राप्त करने के लाभ का आख्यान है।[५१] द्वितीय अध्याय में पाप का स्वीकरण एवं बुद्ध की पूजा की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय अध्याय में धर्म-दीक्षा से पूर्व आवश्यक आधारभूत तत्त्वों के अवलम्बन तथा मूल्य पर रोशनी डाली गयी है। चतुर्थ अध्याय में पूर्व में अर्जित बोधिचित्त की विचारधारा की रक्षा तथा नित्य आचार के पालन पर बल दिया गया है। पंचम अध्याय में साधक के कर्तव्याकर्तव्य तथा आचार के सतत् चिन्तन की आवश्यकता पर बल दिया गया है।[५२] ऐसे ही षष्ठ अध्याय में क्षान्तिपारमिता, सप्तम अध्याय में वीर्यपारमिता, अष्टम अध्याय में ध्यानपारमिता तथा नवम अध्याय में साधना की चरम भूमि प्रज्ञापारमिता का निरूपण किया गया है।

अर्थविनिश्चयसूत्र

इस ग्रन्थ के मूल लेखक कौन हैं और इसका रचनाकाल क्या है? इसकी स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती। हाँ! इस ग्रन्थ की उपलब्धि का श्रेय महामहिम पं० राहुल सांकृत्यायन को जाता है। ऐसे ८वीं शताब्दी में नालन्दा के प्रौढ़ भिक्षु एवं आचार्य वीर श्रीदत्त द्वारा की गयी इसकी निबन्धन नामक टीका उपलब्ध होती है। इसके अतिरिक्त दो प्राचीन संस्करण जिनकी भाषा तिब्बती है, उपलब्ध होते हैं। प्रथम की व्याख्या तिब्बती भाषा में तथा द्वितीय की व्याख्या में तिब्बती के साथ-साथ संस्कृत भी है। इस ग्रन्थ की व्याख्याविधि प्रश्नोत्तर है।

इसके अन्तर्गत ध्यान एवं उसके अंग पर विशेष प्रकाश डाला गया है। प्रतिपाद्य विषय निम्नलिखित हैं- स्कन्ध, उपादान स्कन्ध, धातु, आयतन, प्रतीत्यसमुत्पाद, आर्यसत्य, इन्द्रिय, आरूप्य समापत्ति, ब्रह्मविहार, प्रतिपत्, समाधि, सम्यक् प्रहाण, ऋद्धिपाद, पञ्चेन्द्रिय, बल, बोध्यंग, अष्टांगिकमार्ग, आनापानस्मृति, स्रोतापत्ति, तथागतबल, वैशारध, प्रतिसंवित, महापुरुष लक्षण और अनुव्यंजन।

अभिधर्मामृत

अभिधर्मामृत आचार्य *घोषक* द्वारा रचित ग्रन्थ है, जो मूलत: चीनी भाषा में अनुदित है। यह सर्वप्रथम विश्वभारती शान्तिनिकेतन से शान्तिभिक्षु शास्त्री के निर्देशन में संस्कृत भाषा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में प्रकाशित हुआ। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से १५ अध्यायों में विभक्त इसमें दानशील, लोक, धातु एवं गति, कर्म तथा उसके भेद, स्कन्ध धातु, आयतन, संस्कार, प्रतीत्यसमुत्पाद, अनास्रव, पुद्गल, ज्ञान, ध्यान, समाधि, बोधिपाक्षिक धर्म, चार आर्यसत्य आदि विषय मुख्य हैं। ध्यान एवं चित्त की वृत्तियों का अध्ययन १०वें से १३वें अध्याय तक देखने को मिलता है।

अभिधर्मकोश

बौद्ध साहित्य में *अभिधर्मकोश* का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसे बौद्ध परम्परा की दोनों शाखाओं में समान रूप से मान्यता प्राप्त है। इसके रचनाकार आचार्य *वसुबन्धु* हैं, जिनका समय चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध और पाँचवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इसकी भाषा पालि है तथा इसमें कुल मिलाकर ६०० कारिकाएँ हैं, जो आठ परिच्छेदों में विभक्त हैं और जिनमें क्रमशः धातु, इन्द्रिय, लोक, कर्म, अनुशय, ज्ञान, पुद्गल और ध्यान इन विषयों पर विस्तार से चर्चा की गयी है।

इस ग्रन्थ पर स्वयं *वसुबन्धु* ने भी भाष्य लिखा है। बाद में चलकर चीनी विद्वान् परमार्थ एवं ह्वेनसांग ने इसका अनुवाद किया है। परन्तु इसकी विस्तृत व्याख्या *अभिधर्मकोशभाष्य* में की गयी है, जिसे आचार्य *यशोमित्र* ने किया है। इतना ही नहीं आधुनिक विद्वानों ने भी इसे सम्पादित कर एक नया रूप दिया है।

दीघनिकाय

दीघनिकाय सुत्तपिटक का पहला उपविभाग है। दीर्घ आकारों के सुत्तों (सूत्रों) का संग्रह होने के कारण इसे दीघनिकाय कहा गया है। आकार की दृष्टि से जो बुद्धोपदेश बड़े हैं वे इस निकाय में संग्रहीत हैं। यह ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है यथा-सीलक्खन्ध, महावग्ग और पाटिकवग्ग। महामहोपाध्याय पं० राहुल सांकृत्यायन ने इस ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद किया है। इसमें कुल मिलाकर चौंतीस (३४) सुत्त हैं, जिनमें सीलक्खन्ध में १ से १२ सुत्त, महावग्ग में १३-२३ और पाटिकवग्ग में २४-३४ सुत्त हैं। सीलक्खन्ध की कुछ पंक्तियाँ गाथाओं में हैं, कुछ गद्य में हैं। इसी प्रकार महावग्ग और पाटिकवग्ग में अधिकांश सुत्त गद्य-पद्य के मिश्रित रूप हैं।

विषय प्रतिपादन की दृष्टि से प्रथम सुत्त (ब्रह्मजालसुत्त) में शाश्वतवाद, नित्यता-अनित्यता, उच्छेदवाद आदि का निरूपण किया गया है।[५३] द्वितीय सुत्त (सामञ्ञलसुत्त) में शील, समाधि और प्रज्ञा को विवेचित किया गया है।[५४] इसी प्रकार महावग्ग भाग के २२वें सुत्त में कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना आदि का वर्णन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आया है।[५५] २५वें सुत्त में अशुद्ध और शुद्ध तपस्या को निरूपित किया गया है।[५६] कहा गया है कि जब तपस्वी तप करता है, तब वह उस तप से न तो संतुष्ट होता है और न परिपूर्ण संकल्प, वह न घमण्ड करता है, न बेसुध होता है और न प्रमाद करता है तो वह वहाँ परिशुद्ध रहता है।[५७]

मज्झिमनिकाय

मज्झिमनिकाय का सभी निकायों में अपना अनुपम स्थान है, जिसके १४वें सुत्त को छोड़कर प्रत्येक भाग में दस-दस सुत्त हैं। चूँकि इसमें मध्यम आकार के सुत्तों का संग्रह है, इसीलिए इसका नाम *मज्झिमनिकाय* पड़ा।[५८] राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी में अनुवाद कर इस निकाय को "बुद्धवचनामृत" नाम से विभूषित किया है। यह पन्द्रह भागों में विभक्त है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत १५२ सुत्त संग्रहीत हैं। इसका हिन्दी अनुवाद पं० राहुल सांकृत्यायन ने किया है।[५९]

ग्रन्थ के प्रथम भाग के आक्खेयसुत्त में भिक्षुओं को शील सम्पन्न तथा प्रतिमोक्ष रूपी संयम से संयमित होकर विचार करने का निर्देश दिया गया है। चौथे भाग के महा-अस्सपुरसुत्त तथा चूलअस्सपुरसुत्त में भिक्षुओं के कर्तव्यों को प्रकाशित किया गया है।[६०]पाँचवे भाग के महादेवल्लसुत्त में वेदना, संज्ञा, शील, समाधि और प्रज्ञा के महत्त्व को बतलाया गया है। सातवें भाग के चूलमालूक्यसुत्त में आध्यात्मिकता के प्रति उदासीनता दिखाते हुए चूलमालुक्य द्वारा पूछे गये लोक शाश्वत है या अशाश्वत आदि दस प्रश्नों को अव्याकृत बताते हुए भगवान् ने इन सब प्रश्नों को वैराग्य, निरोध, शान्ति, परमज्ञान तथा निर्वाण आदि के लिए अनावश्यक बताया है।[६१]

उपर्युक्त साहित्य के अतिरिक्त *इतिवुत्तक, महावग्ग, मिलिन्दपञ्ह, विभंग, शिक्षा समुच्चय* आदि साहित्य में योग के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। वर्तमान में प्रचलित बौद्ध साधना-विधि (विपश्यना) पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हैं जिनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं— आनापानसती, विपश्यना साधना, बौद्ध साधना पद्धति, प्रज्ञा के प्रकाश में सम्यक् दृष्टि आदि।

सन्दर्भ

१. सासिज्जई जेण तयं सत्थं तं चाऽविसेसियं नाणं।
आगम एवं य सत्थं आगमसत्थं तु सुयनाणं ॥ विशेषावश्यकभाष्य, ५५९
२. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः ॥ स्याद्वादमंजरी, २८
३. आप्तोपदेशः शब्दः । न्यायसूत्र, १/१/७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. सुयसत्त ग्रन्थ सिद्धंतपवयणे आणवयण उपएसे पण्णवण आगमे या एकट्ठा पंजावासुत्ते। अनुयोगद्वार -४, उद्धृत-अनुयोगद्धारसूत्र, सम्पा०- मधुकर मुनि, प्रस्तावना, पृ०-३१
५. तत्त्वार्थभाष्य - १/२०
६. सर्वश्रुतात् पूर्वं क्रियते इति पूर्वाणि उत्पादपूर्वाऽदीनि चतुर्दशः। स्थानांगसूत्र (अभयदेव वृति), १०/१
७. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, प्रस्तावना - पृ०७०
८. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, डॉ० हीरालाल जैन, पृ०-११६
९. वही, पृ०- १२० १०. समाधितन्त्र (पूज्यपाद), ३३
११. मूलाचार (हिन्दी अनु०) आर्यिकारत्न, ज्ञानमती जी, प्रस्तावना, पृ०-८१
१२. दुविहा य तवाचारो वाहिर अब्भतरो मुणेयव्वो।
एक्कक्को विय छद्धा जधाकमं सं परूवेमो॥३४५॥
पायच्छित्तं विणयं वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं
झाणं च विउस्सग्गो अब्भतरओ तवो एसो ॥३६०॥
१३. अट्टं च रुद्दसहियं दोण्णिवि झाणाणि अप्पसत्थाणि।
धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि ॥३९४॥
१४. तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलाल संघवी) पृ०- ६-७
१५. वही, ६/१ १६. वही, ६/३-४
१७. वही, ६/१९-२४ १८. वही, ९/१९-२० १९. वही, ९/२७-२८,२९
२०. ध्यानशतक - (अनु०) मुनि दुलहराज, प्रस्तावना।
२१. गणधरवाद - प्रस्तावना, पृ०-४५
२२. अट्टं रूद्धं धम्मं सुक्कं झाणई । गाथा - ५
२३. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० -११८
२४. मित्राताराबलादीप्रा - स्थिराकान्ताप्रभापरा
नामानि योगदृष्टिनां लक्षणं च निबोधत,१३
२५. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास,भाग -४, पृ०-२३७
२६. योगबिन्दु, ३१ २७. वही, १७, १८
२८. तत्त्वानुशासन - प्रस्तावना, पृ०-३९
२९. मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तचित्तो वशी स्थिरः।
जिताक्ष संवृत्तो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥ ४/६
३०. उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोरन्तर्मुहूर्तत:
ध्यानमाहुरथैकाग्रचिन्तारोधो बुधोत्तमाः ॥ २५/१५
३१. वही,२५/२४, २६/२, ३३/५, ४२/५
३२. अनित्याद्याः प्रशस्यन्ते द्वादशैता मुमुक्षुभिः।
या मुक्ति सौधसोपानराजयोऽत्यन्तवन्धुराः॥२/७
३३. प्राणायामस्ततः कैश्चिदाश्रितो ध्यान-सिद्धये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्यो नेतरथा कर्तुं मनः पवन-निर्जयः ।। ५/१

३४. पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बन बुधैः।। ७/८

३५. स्वर्गापवर्ग-हेतुर्धर्म-ध्यानमिति कीर्तितं यावत् ।
अपवर्गैकनिदानं शुक्लमनः कीर्त्यते ध्यानम् ।।११/१

३६. भगवती आराधना- (अनु०) पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रस्तावना, पृ०-११

३७. वही,पृ०- १०

३८. जैन आगम साहित्य-मनन और मीमांसा, पृ०-५९२

३९. भगवती आराधना-भाग-१-४

४०. वही, ५ ४२. वही, ६

४२. अट्टे चउप्पयारे रुद्दे य चउव्विधे य जे मेदा।
ते सव्वे परिजाणदि संथारगओ तओ खवओ ।।१६९६।।
धम्मं चदुप्पयारं सुक्कं च चदुव्विधं किलेसहरं ।
संसारदुक्खभीओ दुण्णि वि ज्झाणाणि सो ज्झादि।।१६९४।।

४३. विसुद्धिमग्गो - प्रथम भाग - पृ०- २८-१४१

४४. वही, पृ०- १४३-१८५ ४५. वही, पृ०- १८७-२५१

४६. वही, पृ०- २५३-३७२ ४७. वही, पृ०- ३७३-४०८

४८. वही, पृ०- ४०९-५०२ ४९. वही, द्वितीय भाग -७३३-८०९

५०. वही, पृ०- ६२७-६९९

५१. अशुचिप्रतिमामिमां गृहीत्वा जिनरत्नप्रतिमां करोत्यनर्घां।
रसजातमतीव वेधनीयं सुदृढ़ं गृह्णत बोधिचित्तसंज्ञं ।।१०।।

५२. यथा चपलमध्यस्थो रक्षति व्रणमादरात।
एवं दुर्जनमध्यस्थो रक्षेच्चित्तव्रणं सदा ।।१९।।

५३. दीघनिकाय (अनु०) - पृ०- १-१३ ५४. वही, पृ०-२४-३२

५५. वही, पृ०-१९०-१९३ ५६. वही, पृ०-२२७-२२९

५७. वही, पृ०-२२९

५८. पालि साहित्य का इतिहास, भरत सिंह उपाध्याय, पृ०-१४८

५९. आंक्खेय्यसुत्त - ६ (म०नि०) ६०. महाअस्सुरसुत्त,३९,२

६१. चूलमालुंक्य, ६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ अध्याय

जैन एवं बौद्ध योग का तत्त्वमीमांसीय आधार

दर्शन के पमुख तीन पक्ष होते हैं- तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और आचारमीमांसा। ये एक-दूसरे के पूरक तथा अनुकूल होते हैं। इनकी अनुकूलता से ही ज्ञात होता है कि ये एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। यदि ऐसा नहीं हो तो कोई भी दर्शन आत्मघाती सिद्ध होगा। इस बात की स्पष्टता के लिए भारतीय दर्शन की कुछ शाखाओं को देखा जा सकता है-

चार्वाक दर्शन में सिर्फ भौतिक तत्त्वों को ही मान्यता प्राप्त है। इसमें ईश्वर आदि आध्यात्मिक तत्त्व नहीं हैं। इसमें आध्यात्मिक तत्त्वों को अस्वीकार किया गया है। यह केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है, क्योंकि भौतिक तत्त्वों का प्रत्यक्षीकरण होता है। इतना ही नहीं इसका यह भी मानना है कि शरीर के नष्ट होते ही उसके साथ रहनेवाली चेतना समाप्त हो जाती है, शेष कुछ नहीं रह जाता। अत: वर्तमान जन्म के अतिरिक्त पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मरनेवाले व्यक्ति के लिए न मोक्ष, न स्वर्ग और न नरक होता है। जो कुछ है वह वर्तमान जीवन ही है, वर्तमान शरीर ही है। इस प्रकार चार्वाक दर्शन अपनी आचारमीमांसा के क्षेत्र में सुखवादी तथा तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में भौतिकवादी है। इसका मानना है कि जब तक जीओ, सुखपूर्वक जीओ, ऋण लेकर भी घी मिल सके तो बिना संकोच के खाओ ताकि शरीर पुष्ट हो, स्वस्थ हो और तुम्हें दैहिक सुख मिले, क्योंकि शरीर नष्ट हो जानेवाला है, इसका फिर आना-जाना संभव नहीं है।[१] चूँकि चार्वाक दर्शन की तत्त्वमीमांसा भौतिकवादी है इसलिए उस पर आधारित प्रमाणमीमांसा प्रत्यक्षवादी तथा आचारमीमांसा सुखवादी है। चित्त एवं उसकी वृत्तियों पर चिन्तन नहीं हुआ है।

पातंजल योग की तत्त्वमीमांसीय व्याख्या में चित्त की वृत्तियाँ होती हैं- क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट । क्लिष्ट वृत्तियाँ अविद्या तथा अज्ञान उत्पन्न करती हैं, जिससे बंधन होता है। अत: आचारमीमांसा में योग को प्रधानता देते हुए कहा गया है- *'योगश्चित्तवृत्ति निरोध:'*। अर्थात् चित्तवृत्ति को रोकना योग है। योग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अद्वैतवेदान्त की तत्त्वमीमांसा कहती है- *"ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या"*। अर्थात् ब्रह्म ही मात्र सत् है और जो जगत के रूप में दिखाई पड़ता है वह मिथ्या है, भ्रम है। वह माया के कारण होता है। माया अज्ञान है, अविद्या है। आत्मा स्वतंत्र है, मुक्त है, किन्तु माया से आच्छादित हो जाने के कारण जीव के नाम से जानी जाती है और बन्धन की भागी हो जाती है। संसार व्यवहार रूप है जो असत् है, सिर्फ परमार्थ या ब्रह्म ही सत् है। जब तक जीव व्यवहार में घुला-मिला होता है तब तक वह बन्धन में होता है और व्यवहार से ऊपर उठकर जब वह परमार्थ से मिल जाता है तब उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अत: अद्वैतवेदान्त की तत्त्वमीमांसा यह बताती है कि संसार को मिथ्या मानों और अपने तथा ब्रह्म की एकता को पहचानों। जो तुम हो वही ब्रह्म है, जो ब्रह्म है वही तुम हो। यहाँ द्वैत नहीं सिर्फ अद्वैत है।

जैन दर्शन में भी ऐसी ही प्रक्रिया देखी जाती है अर्थात् उसमें भी तत्त्वमीमांसा से ज्ञानमीमांसा और ज्ञानमीमांसा से आचारमीमांसा होते हुए धर्म के क्षेत्र में आया जाता है। जैन दर्शन में द्रव्य को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। द्रव्य के प्रधानत: दो प्रकार हैं- अस्तिकाय और अनस्तिकाय। अस्तिकाय के पुन: दो विभाग देखे जाते हैं- जीव और अजीव। जीव स्वभावत: स्व-प्रकाशित और पर-प्रकाशक होता है। जीव स्वतंत्र होता है। वह अनन्त चतुष्टय का धारक होता है। अत: सभी जीव समान होते हैं। अब प्रश्न उठता है कि जब सभी जीव समान होते हैं तो फिर अनेक प्रकार के जीव क्यों होते हैं? कोई जीव विकसित रूप में होता है तो कोई अविकसित रूप में। ऐसा क्यों? इसका उत्तर जैन आचारमीमांसा देती है- जीवों में जो अन्तर देखे जाते हैं, वे कर्मानुसार होते हैं। कर्मानुसार ही कोई छोटा शरीर पाता है तो कोई बड़ा शरीर पाता है। जैन आचारमीमांसा अहिंसा का प्रबल समर्थन करती है। कहा गया है- *"अहिंसा परमो धर्म:"*, ऐसा क्यों? चूँकि हिंसा से कष्ट होता है। *आचारांग* में कहा गया है- सभी जीव सुख चाहते हैं, दु:ख कोई नहीं चाहता, सभी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता।[२] चूँकि हमें कष्ट होता है जब कोई किसी प्रकार से हम पर घात करता है तो हमें भी समझना चाहिए कि यदि हम किसी पर घात करेंगे तो उसको भी वैसा ही कष्ट होगा जैसा हमें होता है, क्योंकि सभी जीव समान हैं, यह तत्त्वमीमांसा बताती है।

बौद्ध दर्शन में तत्त्वमीमांसीय समस्याओं की अवहेलना हुई है। *बुद्ध* ने उन लोगों को नासमझ कहा जो अपने को तत्त्वमीमांसीय समस्याओं में उलझा लेते हैं। उनका कहना है कि तत्त्वमीमांसा से कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं होता और न तो पूर्ण ज्ञान होता है। जिस प्रकार अंधों को हाथी का आंशिक ज्ञान प्राप्त होता है, क्योंकि वे हाथी के किसी एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंग को ही छू पाते हैं, सम्पूर्ण हाथी को एक साथ नहीं छू पाते; उसी प्रकार तत्त्वमीमांसक आंशिक ज्ञान में ही उलझे रहते हैं। तत्त्वमीमांसा एक जाल है जिसमें व्यक्ति दिन व दिन फँसता जाता है, उससे निकल नहीं पाता। उनके इस विचार की अभिव्यक्ति *ब्रह्मजालसुत्त* में देखी जा सकती है।[३] एक बार श्रावस्ती के जेतवन में विहार के अवसर पर मालुक्यपुत्र ने *बुद्ध* से लोक के शाश्वत-अशाश्वत, अन्तवान-अनन्तवान होने तथा जीव-देह की भिन्नता-अभिन्नता के विषय में दस मेण्डक प्रश्नों को पूछा था, जिसे *बुद्ध* ने अव्याकृत कहकर उसकी जिज्ञासा को शान्त कर दिया था।[४] इसी प्रकार *पोट्ठपाद* परिव्राजक ने जब ऐसे ही प्रश्न किए तब *बुद्ध* ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा था- "न यह अर्थ युक्त है, न धर्म युक्त है, न निरोध के लिए, न उपशम के लिए, न सम्बोधित परमार्थज्ञान के लिए और न निर्वाण के लिए है। इसलिए मैंने इसे अव्याकृत कहा है तथा मैंने व्याकृत किया है दुःख के हेतु को, दुःख के निरोध को, तथा दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद को।"[५] इस प्रकार *बुद्ध* ने आर्यसत्य यानी आचारमीमांसा से अपना चिन्तन शुरु किया। किन्तु जब वे दूसरे आर्यसत्य का प्रतिपादन करते हैं तो उसमें प्रतीत्यसमुत्पाद आ जाता है जो बताता है कि एक के बाद दूसरा कारण उत्पन्न होता है और जिससे परिवर्तनशीलता का बोध होता है। आगे चलकर परिवर्तनशीलता क्षणिकवाद का रूप ले लेती है अर्थात् हर क्षण परिवर्तन होता है। फिर अनात्मवाद तथा शून्यवाद का सिद्धान्त आ जाता है। इस तरह तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त प्रस्फुटित होते हैं जो बौद्धाचार को प्रभावित करते हैं। निर्वाण की व्याख्या पर पूर्णतः बौद्ध तत्त्वमीमांसा का प्रभाव है। मध्यममार्ग को अपनाने की बात इसलिए है कि प्रतीत्यसमुत्पाद में बताया गया है कि प्रत्येक वस्तु नित्य नहीं है, नष्ट होती है और नष्ट होकर पुनः जन्म लेती है। इस मान्यता में शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद दोनों का खण्डन किया गया है, क्योंकि शाश्वतवाद मानता है कि जो नित्य है वह समाप्त नहीं होता और उच्छेदवाद मानता है कि वस्तु नष्ट होती है पर पुनः उत्पन्न नहीं होती है।

जैन एवं बौद्ध दोनों ही दर्शनों में ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया गया है। इसलिए दोनों ही अपनी आचारमीमांसा में यह मानते हैं कि व्यक्ति अपनी साधना, तपस्या, त्याग के आधार पर देवत्व की उँचाई तक पहुँच सकता है। वह सर्वज्ञ हो सकता है, केवली हो सकता है। ईश्वरवाद में ईश्वर ऊपर से अवतरित होता है या उतरता है, किन्तु जैन एवं बौद्ध दर्शनों में मानव कर्म के बल पर ऊपर की ओर ईश्वर की उँचाई तक चढ़ता है। यदि तत्त्वमीमांसा में ये दोनों दर्शन ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर लिए होते तो इनका मानव इतना समर्थ नहीं बन सकता था। मानव में यह समर्थता योग-साधना के द्वारा ही आती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन योग का तत्त्वमीमांसीय आधार

सत्

जैन तत्त्वमीमांसा का आधारभूत सिद्धान्त सत् या द्रव्य का विवेचन है। जैन दर्शन में सत्, तत्त्व, अर्थ, द्रव्य, पदार्थ, तत्त्वार्थ आदि शब्द लगभग एक ही अर्थ में व्यवहृत हुए देखे जाते हैं। सत् या तत्त्व (Reality) के विषय में दर्शनों में मतैक्य नहीं है। बौद्ध दर्शन के अनुसार 'सत्' निरन्वय क्षणिक है तो सांख्य के अनुसार चेतन तत्त्वरूप पुरुष कूटस्थ-नित्य तथा अचेतन तत्त्वरूप प्रकृति परिणामी-नित्य अर्थात् नित्यानित्य है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म एकमात्र सत्य है तो जैन दर्शन के अनुसार तत्त्व सापेक्षत: नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, कूटस्थ तथा परिवर्तनशील है। जैनदर्शन का सत् अनन्त धर्मोंवाला है। इन अनन्त धर्मों में से कुछ स्थायी होते हैं जो सदा वस्तु के साथ होते हैं, जिन्हें गुण कहते हैं। कुछ धर्म ऐसे होते हैं जो बदलते रहते हैं, जिन्हें पर्याय कहते हैं। सोना में सोनापन गुण तथा अंगूठी, कर्णफूल आदि बाह्यरूप पर्याय हैं। पर्याय अस्थायी हैं। एक पर्याय के नष्ट होने पर दूसरा उत्पन्न होता है । इसी आधार पर सत् को परिभाषित करते हुए *उमास्वाति* ने कहा है- सत् उत्पाद, व्यय या विनाश और स्थिरता युक्त होता है।[६] आगे चलकर इसे ही दूसरे रूप में परिभाषित किया गया है- गुण और पर्यायवाला द्रव्य है।[७] इसमें उत्पाद और व्यय के स्थान पर पर्याय आ गया और ध्रौव्य के स्थान पर गुण। उत्पाद और व्यय परिवर्तन का सूचक है तथा ध्रौव्य नित्यता का। परन्तु उत्पाद एवं व्यय के बीच एक प्रकार की स्थिरता रहती है, जो न तो कभी नष्ट होती है और न उत्पन्न ही। इस स्थिरता को ध्रौव्य एवं तद्भावाव्यय[८] भी कहते हैं। यही नित्य का लक्षण है। आचार्य *कुन्दकुन्द* ने द्रव्य की व्याख्या कुछ इस प्रकार की है — जो अपरित्यक्त स्वभाववाला है; उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है; गुण और पर्याययुक्त है, वही द्रव्य है।[९] यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित जान पड़ता है कि कहीं-कहीं द्रव्य और सत् को एक-दूसरे से भिन्न माना गया है।

अनुयोगद्वार में तत्त्व का सामान्य लक्षण द्रव्य तथा विशेष लक्षण जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य माना गया है।[१०] इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्य और तत्त्व कमोवेश अलग-अलग तथ्य नहीं हैं। इस संदर्भ में डा० मोहन लाल मेहता के विचार कुछ इस प्रकार हैं- जैन आगमों में सत् शब्द का प्रयोग द्रव्य के लक्षण के रूप में नहीं हुआ है। वहाँ द्रव्य को ही तत्त्व कहा गया है और सत् के स्वरूप का सारा वर्णन द्रव्य-वर्णन के रूप में रखा गया है।[११]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य के भेद

द्रव्य के वर्गीकरण को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है,परन्तु सभी विद्वान् मुख्य रूप से द्रव्य के दो भेद मानते हैं- जीव और अजीव।[१२] चैतन्य धर्मवाला जीव कहलाता है तथा उसके विपरीत धर्मवाला अजीव। इस तरह सम्पूर्ण लोक दो भागों में विभक्त हो जाता है। चैतन्य लक्षणवाला द्रव्य-विशेष जीव-विभाग के अन्तर्गत आ जाता है और जिसमें चैतन्यता नहीं है उसका समावेश अजीव विभाग के अन्तर्गत हो जाता है। परन्तु जीव-अजीव के भेद-प्रभेद करने पर द्रव्य के छः भेद हो जाते हैं। जीव-द्रव्य अरूपी है अर्थात् जिन्हें इन्द्रियों से न देखा जा सके वह अरूपी है, अतः जीव या आत्मा अरूपी है । अजीव के भी दो भेद हैं- रूपी और अरूपी । रूपी अजीव द्रव्य के अन्तर्गत पुद्गल आ जाता है। अरूपी अजीव द्रव्य के पुनः चार प्रकार हैं- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अद्धासमय (काल)। इस प्रकार द्रव्य के कुल छः भेद हो जाते हैं - जीव, पुद्गल, अधर्म, धर्म, आकाश और काल।[१३] इनमें प्रथम पाँच अस्तिकाय द्रव्य कहलाते हैं तथा काल अनस्तिकाय है।

जीवद्रव्य

तत्त्वार्थसूत्र में जीव का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि उपयोग जीव का लक्षण है।[१४] उपयोग का अर्थ होता है-बोधगम्यता। अर्थात् जीव में बोधगम्यता होती है और बोधगम्यता वहीं देखी जाती है जहाँ चेतना होती है। अतः कहा जा सकता है कि चेतना जीव का लक्षण है। यदि उपयोग शब्द का व्यावहारिक लक्षण लें तो भी यही ज्ञात होता है कि चेतना जीव का लक्षण है। जिसमें चेतना नहीं होगी वह भला किसी चीज की उपयोगिता को क्या समझेगा? उपयोग में ज्ञान और दर्शन सन्निहित होते हैं।[१५] उपयोग के दो प्रकार हैं- ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोग। ज्ञान सविकल्पक होता है। दर्शन निर्विकल्पक होता है। अतः पहले दर्शन होता है फिर इसका समाधान ज्ञान में होता है अर्थात् विषयवस्तु क्या है? यह प्रश्न उपस्थित होता है, तत्पश्चात् समाधान।

ज्ञानोपयोग

ज्ञानोपयोग के दो प्रकार हैं-स्वभाव ज्ञान तथा विभाव ज्ञान।[१६] जिस ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा से होता है, जिसे इन्द्रिय की आवश्यकता नहीं होती उसे स्वभाव ज्ञान कहते हैं। इसे ही केवलज्ञान भी कहते हैं। इस ज्ञान में मिथ्यात्व की कोई भी आशंका नहीं रहती। यह ज्ञान की पूर्णता की स्थिति होती है। विभाव ज्ञान पुनः दो भागों में विभाजित होता है- सम्यक्-ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान। सम्यक्-ज्ञान के निम्नलिखित चार भेद हैं -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मतिज्ञान - जो ज्ञान इन्द्रिय तथा मन की सहायता से उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान कहलाता है। यथा रूप, रंग, स्वाद, गंध, आदि का बोध होना।

श्रुतज्ञान- आप्तपुरुष के वचन सुनने अथवा शास्त्रों में पढ़ने से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। जैसे महावीर के वचन आगमों में मिलते हैं।

अवधिज्ञान- आत्मा से रूपी पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान अवधिज्ञान है।

मन:पर्याय ज्ञान- मन के विविध पर्यायों को जानना मन:पर्याय ज्ञान कहलाता है।

मिथ्याज्ञान के भी तीन प्रकार हैं

मत्यज्ञान-मति सम्बन्धी गलत ज्ञान मत्यज्ञान कहलाता है।

अश्रुतज्ञान- श्रुत सम्बन्धी गलत ज्ञान अश्रुतज्ञान कहलाता है।

विभंग ज्ञान- अवधि सम्बन्धी गलत ज्ञान को विभंग ज्ञान कहते हैं।

दर्शनोपयोग

दर्शनोपयोग के भी दो भेद होते हैं-स्वभावदर्शन तथा विभावदर्शन। स्वभावदर्शन का सम्बन्ध आत्मा से होता है जो सहज एवं स्वाभाविक होता है, साथ ही प्रत्यक्ष एवं पूर्ण भी होता है। इसे केवलदर्शन भी कहा जाता है। विभावदर्शन के तीन भेद होते हैं- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन तथा अवधिदर्शन।

चक्षुदर्शन - चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से जो निर्विकल्प एवं निराकार बोध होता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। यथा-रात में बहुत दूर कुछ दिखाई देना । जिसमें ऐसा कुछ भी बोध नहीं होता जिससे यह स्पष्ट हो कि क्या है?

अचक्षुदर्शन - चक्षु के अलावा जो इन्द्रियाँ हैं उनसे तथा मन से जो निर्विकल्प एवं निराकार बोध होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं। यथा-दूर की कोई आवाज का कान तक पहुँचना। किसकी आवाज है? यह जानकारी नहीं होती, परन्तु सिर्फ आवाज आती है।

अवधिदर्शन - आत्मा से रूपी पदार्थों का दर्शन होना अवधिदर्शन कहलाता है।

इस तरह दर्शनोपयोग के कुल चार भेद हुए-केवलदर्शन, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव का स्वरूप

जैन मान्यता के अनुसार सभी वस्तु में गुण और पर्याय होते हैं। जीव में भी गुण और पर्याय हैं। चेतना जीव का गुण है और जीव के विभिन्न रूप उसके पर्याय हैं। पर्याय की विभिन्न अवस्थाएँ भाव कही जाती हैं। जीव के पाँच भाव इस प्रकार हैं-औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक।[१७]

औपशमिक - उपशम का अर्थ होता है-दब जाना। जब सत्तागत कर्म दब जाते हैं, उनका उदय रुक जाता है, फलस्वरूप जो आत्मशुद्धि होती है वह औपशमिक भाव है। यथा- पानी में मिली हुई गन्दगी का बर्तन की तल में बैठ जाना।

क्षायिक - क्षय से क्षायिक बना है। कर्मों के पूर्णत: क्षय हो जाने से जो आत्मशुद्धि होती है, वह क्षायिक भाव है। जिस प्रकार पानी से गन्दगी पूर्णत: दूर हो जाती है और पानी स्वच्छ हो जाता है। उसी प्रकार कर्मों के सर्वांशत: क्षय हो जाने से आत्मा पूर्णरूपेण शुद्ध हो जाती है। इसी स्थिति को क्षायिकभाव कहते हैं।

क्षायोपशमिक - क्षय और उपशम के संयोग से क्षायोपशमिक भाव बनता है अर्थात् कुछ कर्मों का क्षय हो जाना और कुछ कर्मों का दब जाना। यथा-कोदों को धो देने से उसकी मादकता कम हो जाती है, किन्तु कुछ मादकता रह ही जाती है। इस प्रकार कर्मों के क्षय और उपशम से जो भाव बनता है वह क्षायोपशमिक भाव कहलाता है।

औदयिक - दबे हुए कर्मों का उदित हो जाना औदयिक भाव है। जिस प्रकार पानी के पात्र के तल में बैठी हुई गंदगी पात्र के हिल जाने से पुन: ऊपर आ जाती है। उसी प्रकार औपशमिक भाव फिर से उदित हो जाते हैं, क्रियाशील हो जाते हैं।

पारिणामिक - स्वाभाविक ढंग से द्रव्य के परिणमन से जो भाव बनता है, वह पारिणामिक भाव कहलाता है।

उपर्युक्त पाँचों भाव जीव के स्वरूप हैं। जीव के सभी पर्याय इन भावों में से किसी न किसी भाववाले ही होते हैं। लेकिन पाँचों भाव सभी जीवों में एक साथ नहीं हो सकते हैं।

जीव के विभाग

जीव को मुख्यत: दो भागों में विभाजित किया जाता है- संसारी तथा मुक्त।[१८] जो जीव शरीर धारण कर कर्मबन्धन के कारण नाना योनियों में भ्रमण करता है वह सांसारिक जीव कहलाता है और जो सभी प्रकार के कर्मबन्धनों से छूट जाता है वह मुक्त जीव कहलाता है। संसारी जीव शरीर से भिन्न नहीं होता, यथा-दूध में पानी, तिल में तेल, ये एक से प्रतीत होते हैं, वैसे ही संसार-दशा में जीव और शरीर एक लगते हैं। लेकिन ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारी आत्माएँ कर्मबद्ध होने के कारण अनेक योनियों में परिभ्रमण करती हैं, उनका फल भोगती हैं।[१९] मुक्त आत्माओं का इन सबसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। उनका शरीर, शरीरजन्य क्रिया तथा जन्म और मृत्यु कुछ भी नहीं होता। वे आत्मस्वरूप हो जाती हैं, अतएव उन्हें सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है।[२०] वे सभी कर्मों को त्यागकर लोकाग्र में निवास करती हैं।

संसारी जीव को दो भागों में विभाजित किया गया है- त्रस और स्थावर।[२१] जिसमें गति होती है वह त्रस जीव कहलाता है और जिसमें गति नहीं होती है वह स्थावर जीव कहलाता है। स्थावर जीवों में जल, अग्नि, वायु, पृथ्वी तथा वनस्पति आते हैं। इन सभी में एकेन्द्रिय स्पर्श बोध होता है।[२२] त्रस जीवों के चार प्रकार होते हैं- दो इन्द्रियवाले जीव, तीन इन्द्रियवाले जीव, चार इन्द्रियवाले जीव और पाँच इन्द्रियवाले जीव। दो इन्द्रिय प्राप्त जीवों को स्पर्श के साथ रस का भी बोध होता है। इनमें कृमि, जलौका आदि की गिनती की जाती है। तीन इन्द्रिय प्राप्त जीवों को स्पर्श, रस तथा गन्ध का बोध होता है। इनमें चींटी, कुंथु, खटमल आदि आते हैं। चार इन्द्रिय प्राप्त जीवों को स्पर्श, रस, गन्ध तथा रूप का बोध होता है। इनमें भौंरे, मक्खी, बिच्छू आदि आते हैं। पाँच इन्द्रिय प्राप्त जीवों को स्पर्श, रस, गन्ध, रूप तथा ध्वनि का बोध होता है। इनमें मनुष्य, पशु-पक्षी, देव, नारक इत्यादि आते हैं। मनुष्य को मन होता है, अतः इन्हें समनस्क कहते हैं तथा पशु, पक्षी आदि बिना मनवाले होते हैं, अतः इन्हें अमनस्क कहते हैं।

जीव के जन्म-भेद

जीव की चार गतियाँ होती हैं-मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारक तथा तीन जन्म होते हैं- सम्मूर्छन, गर्भ तथा उपपात। माता-पिता के बिना ही उत्पत्ति स्थान में स्थित औदारिक पुद्गलों को सर्वप्रथम शरीर रूप में परिणत करना सम्मूर्छन जन्म कहलाता है। उत्पत्ति स्थान में स्थित शुक्र और शोणित पुद्गलों को सर्वप्रथम शरीर के लिए ग्रहण करना गर्भजन्म कहलाता है। उत्पत्ति स्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को पहले-पहल शरीर रूप में परिणत करना उपपात जन्म कहलाता है।[२३] जरायुज, अण्डज, पोतज आदि प्राणियों का गर्भजन्म होता है और नारक देवों का उपपात जन्म होता है। शेष सभी प्राणियों का सम्मूर्छन जन्म होता है।

वादिदेव सूरि के विचार

वादिदेवसूरि ने संसारी आत्मा के स्वरूप को बताते हुए कहा है कि आत्मा प्रत्याक्षादि प्रमाणों से प्रमाणित, चैतन्यस्वरूप, परिणामी, कर्ता, साक्षात भोक्ता, स्वदेह परिमाण, प्रत्येक शरीर में भिन्न तथा पौद्गलिक कर्मों के साथ होता है।[२४]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा प्रत्याक्षादि प्रमाणों से प्रमाणित होता है - *विशेषावश्यकभाष्य* में भगवान् *महावीर* ने *गौतम* के द्वारा आत्मा की सत्ता पर संशय प्रकट करने पर कहा है- *''हे गौतम!* यदि संशयी ही नहीं हो तो मैं हूँ या नहीं हूँ।'' यह संशय कहाँ से उत्पन्न होता है? यदि तुम स्वयं ही अपने खुद के विषय में सन्देह कर सकते हो तो फिर किसमें संशय न होगा।[२५] यहाँ पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्टे जैन दर्शन के निकट प्रतीत होते हैं।

आत्मा चेतनायुक्त है- न्याय-वैशेषिक चेतना को आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं। नैयायिकों की यह मान्यता है कि जिस प्रकार अग्नि के संयोग से घट में लाल रंग उत्पन्न हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा में चेतना गुण उत्पन्न होता है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, ज्ञान आदि आत्मा के गुण हैं।[२६] किन्तु जैन दर्शन तो चेतना को आत्मा का स्वभाव मानता है।

आत्मा कूटस्थ है - ऐसा बहुत से लोग मानते हैं, किन्तु जैन दर्शन यह मानता है कि जीव परिणामी होता है। इसमें परिवर्तन होता है, क्योंकि जीव में गुण और पर्याय होते हैं। चेतना इसका गुण है, किन्तु जीव में जो बच्चा, युवा, बूढ़ी स्त्री, पुरुष आदि भिन्नताएँ देखी जाती हैं, ये सब जीव के पर्याय हैं, जो बदलते रहते हैं। अतः यह परिणामी है।

आत्मा कर्ता है - जैन दर्शन के अनुसार जिस समय हम जीव को परिणामी मान लेते हैं उसी समय वह कर्ता भी सिद्ध हो जाता है। जीव के साथ कुछ परिवर्तन देखे जाते हैं, जैसे - वह कभी गाता है, कभी रोता है, कभी बैठता है, कभी सोता है। यदि जीव यह सब नहीं करता है तो कौन करता है? अतः जीव कर्ता है।

आत्मा भोक्ता है - जीव सुख-दुःख का भोग करता है।

जीव स्वदेह परिमाण है - जीव अपने को शरीर के अनुसार विस्तृत अथवा संकुचित करके रखता है। कर्म के अनुसार उसे चींटी का शरीर मिले अथवा हाथी का, दोनों में ही वह रह लेता है। इससे यह ज्ञात होता है कि जीव में चेतना के साथ-साथ विस्तार भी होता है।

आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है - जैसा कि *अद्वैतवेदान्त* की मान्यता है कि आत्मा एक आध्यात्मिक तत्त्व है, जो एक है। किन्तु माया या भ्रम के कारण हमें अनेक रूपों में दिखाई पड़ती है। यहाँ जैनदर्शन की मान्यता है कि यदि सभी जीव एक ही होते तो जो भिन्नताएँ हमें देखने को मिलती हैं, अनुभव करते हैं, यह कैसे होता है? कोई रोता है, कोई हँसता है, कोई गाता है इत्यादि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा पौद्गलिक कर्मों के साथ होता है - जैसा कि चार्वाकी कर्म की सत्ता में विश्वास नहीं करते। परन्तु जैन मान्यतानुसार कर्म है और पौद्गलिक है। यह जीव के साथ होता है। कर्मों के कारण ही सुख-दु:ख आदि विभेद देखे जाते हैं। कर्मों से प्रभावित होकर ही जीव सांसारिक बन्धन में पड़ा रहता है और कर्मों से छूट जाने पर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

अजीव

जिसमें बोधगम्यता, चेतना आदि का अभाव होता है वह अजीव कहलाता है। अजीव शब्द से ही प्रतीत होता है कि जो कुछ जीव में हैं उसका अभाव होना। अजीव के चार प्रकार हैं- १. धर्म, २. अधर्म, ३. आकाश, ४. पुद्गल।

धर्म - जो अजीव, पुद्गल आदि की गति में सहायता प्रदान करता है उसे धर्म तत्त्व कहते हैं।[२७] जैसे मछली पानी में स्वत: तैरती है, किन्तु पानी के अभाव में वह कदापि नहीं तैर सकती। यदि उसे उस स्थान पर रख दिया जाए जहाँ पानी न हो तो निश्चित ही उसकी गति रुक जायेगी। पानी स्वयं मछली को तैरने के लिए तैयार नहीं करता, फिर भी पानी के अभाव में मछली तैर नहीं सकती। यही गति तत्त्व है।

अधर्म - अधर्म अगति अथवा स्थिति में सहायक होता है।[२८] जीव और पुद्गल जब स्थिति की दिशा में पहुँचनेवाले होते हैं तब अधर्म उनकी सहायता करता है। यह सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त होता है। इसके बिना स्थिति नहीं हो सकती, जिस प्रकार धर्म के बिना गति नहीं हो सकती। चलता हुआ पथिक छाया को देखकर विश्राम करने लगता है। छाया पथिक को बुलाती नहीं है, फिर भी छाया देखकर पथिक विश्राम करता है। इसलिए यहाँ छाया स्थिति का या अगति का कारण बनती है।

आकाश - अवगाह या अवकाश देनेवाला तत्त्व आकाश कहलाता है।[२९] इसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा काल आश्रय पाते हैं। आकाश का काम अन्य सभी को आश्रय देना है। इसके दो भाग हैं-लोकाकाश तथा अलोकाकाश। आकाश के जिस भाग में धर्म-अधर्म तथा पुण्य एवं पाप के फल नहीं होते उसे अलोकाकाश कहते हैं।

पुद्गल - अन्य दर्शन जिसे जड़ तत्त्व कहते हैं, जैन दर्शन में वह पुद्गल कहलाता है। पुद्गल शब्द 'पुद्' और 'गल' के संयोग से बना है। जिसमें पुद् का अर्थ होता है 'पूरण' या 'वृद्धि' तथा गल का अर्थ होता है 'गलन'। इस प्रकार जो द्रव्य पूरण और गलन के द्वारा बदलता रहता है उसे पुद्गल कहते हैं।[३०] यह रूपी होता है। इसके चार धर्म होते हैं-स्पर्श, रस, गंध और वर्ण।[३१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल

परिवर्तन का जो कारण हो वह अद्धासमय या काल कहलाता है। जैन ग्रन्थों में काल की व्याख्या दो दृष्टियों से की गयी है- व्यवहार और परमार्थ। प्रत्येक द्रव्य परिवर्तित होता रहता है। परिवर्तनों के होते हुए भी उसकी जाति का विनाश नहीं होता। इस प्रकार के परिवर्तन परिणाम कहलाते हैं। इन परिणामों का जो कारण है वह काल है। यह व्यावहारिक दृष्टि से काल की व्याख्या है। प्रत्येक द्रव्य और पर्याय की प्रतिक्षण भावी स्वसत्तानुभूति वर्तना है। इस वर्तना का कारण काल है। यह काल की पारमार्थिक व्याख्या है।

पुद्गल तथा आत्मा

मुक्त जीव का सम्बन्ध पुद्गल से नहीं रह जाता, किन्तु संसारी जीव हमेशा ही पुद्गल के साथ होता है, पुद्गल से प्रभावित होता है। संसारी आत्मा का पुद्गल के साथ संयोग इसलिए होता है कि कर्म पौद्गलिक है। कर्म की पौद्गलिकता इस बात से प्रमाणित होती है कि जीव या आत्मा को उनसे सुख-दुःख का अनुभव होता है और जिसका अनुभव होता है वह पौद्गलिक होता है, जैसे - खाद्य पदार्थ । अतः आत्मा और पुद्गल का सम्बन्ध अनादि है। *गोम्मटसार* के *जीवकाण्ड* में कहा गया है कि पुद्गल ही शरीर-निर्माण का कारण है।[३२] आहारक वर्गणा से औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर और आहारक शरीर तीन प्रकार के शरीर बनते हैं तथा श्वासोच्छवास का निर्माण होता है। मनोवर्गणा से मन निर्माण होता है। कर्म वर्गणा से कार्मण शरीर बनता है। शरीर, भाषा, मन आदि सबको जैनाचार्यों ने भौतिक तत्त्व (पुद्गल) माना है।

औदारिक शरीर - तिर्यञ्च और मनुष्य का स्थूल शरीर औदारिक शरीर कहलाता है। उदर से युक्त होने के कारण इसका नाम औदारिक पड़ा है। दूसरे शब्दों में जिस शरीर का छेदन-भेदन किया जा सके वह औदारिक है। रक्त, मांस आदि इस शरीर के लक्षण होते हैं।

वैक्रिय शरीर- देवगति एवं नरकगति में उत्पन्न होनेवाले जीव वैक्रिय शरीरवाले होते हैं। विभिन्न आकारों में परिवर्तित होना, जैसे - कभी छोटा, कभी मोटा, कभी पतला आदि रूपों को धारण करना इस शरीर की विशेषता होती है। इसमें रक्त, मांस आदि का सर्वथा अभाव रहता है।

आहारक शरीर - मुनिजनों को जब किसी विषय पर सन्देह होता है तो वे उस सन्देह को दूर करने के लिए अपनी विशेष लब्धि से छोटा-सा शरीर धारण कर लेते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूर तक जाना और शंका-समाधान करके पुन: अपने स्थान पर आ जाना, इस शरीर की विशेषता है।

तैजस शरीर - यह एक प्रकार के विशिष्ट पुद्गल परमाणुओं (तेजो वर्गणा) से बनता है। यह औदारिक शरीर और कार्मण शरीर के बीच की एक आवश्यक कड़ी है। पं० सुखलालजी के शब्दों में जो शरीर तेजोमय होने से खाये हुए आहार आदि के परिपाक का हेतु और दीप्ति का निमित्त हो वह तैजस है। अन्न पाचन कार्य के अतिरिक्त इसका अन्य कार्य शाप और अनुग्रह भी है।[३३]

कार्मण शरीर - यह आन्तरिक सूक्ष्म शरीर है जो मानसिक, वाचिक और कायिक सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का मूल है। यह आठ प्रकार के कर्मों से बनता है। उपर्युक्त सभी प्रकार के शरीर में हम इन्द्रियों द्वारा मात्र औदारिक शरीर का ही ज्ञान कर सकते हैं। बाकी के शरीर इतने सूक्ष्म होते हैं कि हमारी इन्द्रियाँ उनका ग्रहण नहीं कर सकतीं। कोई वीतरागी ही उनका प्रत्यक्ष कर सकता है। ये शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते हैं।[३४] तैजस और कार्मण शरीर तो प्रत्येक जीव के साथ रहते हैं। अधिक से अधिक एक साथ चार शरीर हो सकते हैं।[३५] जब जीव के तीन शरीर होते हैं तो तैजस, कार्मण और औदारिक या तैजस, कार्मण और वैक्रिय और जब चार होते हैं तो तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रिय या तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक होते हैं। पाँच शरीर एक साथ नही होते, क्योंकि वैक्रिय लब्धि और आहारक लब्धि का प्रयोग एक साथ नहीं हो सकता है।

कर्म सिद्धान्त

कर्मवाद का एक सामान्य नियम है-पूर्वकृत कर्मों के फल को भोगना तथा नए कर्मों का उपार्जन करना। इसी परम्परा में बन्धा हुआ प्राणी जीवन व्यतीत करता है, किन्तु प्रश्न उठता है कि कर्मवाद में कहीं पर व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता के उपयोग का भी अवसर मिलता है अथवा वह मशीन की तरह पूर्व कर्मों के फल को भोगता हुआ तथा नये कर्मबन्ध को प्राप्त करता हुआ गतिशील रहता है। यदि प्राणी को कहीं कोई स्वतंत्रता न हो और वह मशीन की तरह ही कर्म के द्वारा चालित हो तब तो कर्मवाद और नियतिवाद तथा पुरुषार्थवाद में अन्तर क्या रहेगा? किन्तु इच्छा-स्वातंत्र्य का जिस रूप में निरूपण जैन परम्परा में हुआ है वह इस प्रकार है-

१. किए कर्मों का फल कर्ता को भोगना ही पड़ता है।

२. पूर्वकृत किये कर्मों के फल को वह शीघ्र या देर से भोग सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. बाह्य परिस्थिति एवं अपनी आन्तरिक शक्ति को ध्यान में रखते हुए प्राणी नए कर्मों का उपार्जन रोक सकता है।

४. किन्तु ऐसा भी नहीं है कि प्राणी के मन में जो आये वही करे।

इन बातों से ऐसा लगता है कि कर्मवाद मे इच्छा-स्वातंत्र्य तो है, किन्तु सीमित है। यहाँ नियतिवाद में बंधे हुए व्यक्ति की तरह कर्मवादी पूर्णरूपेण परतन्त्र नहीं है।

कर्म का स्वरूप

जैन परम्परा में कर्म को पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड माना गया है। कर्म वह है जिसके कारण साधन तुल्य होने पर भी फल का तारतम्य अथवा अन्तर मानव जगत में दृष्टिगत होता है। उस तारतम्य अथवा विविधता के कारण का नाम कर्म है। प्रत्येक प्राणी का सुख-दुःख तथा तत्-सम्बन्धी अन्यान्य अवस्थाएं उसकी कर्म की विचित्रता एवं विविधता पर आधारित होती हैं।[३६] सम्पूर्ण लोक कर्मवर्गणा तथा नो-कर्मवर्गणा इन दोनों प्रकार के परमाणुओं से पूर्ण है। जीव अपने मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों से इन परमाणुओं को ग्रहण करता रहता है। मन, वचन, और काय की प्रवृत्ति तभी होती है जब जीव के साथ कर्म सम्बद्ध हो । जीव के साथ कर्म तभी सम्बद्ध होता है जब मन, वचन और काय की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार प्रवृत्ति से कर्म और कर्म से प्रवृत्ति की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। कर्म और प्रवृत्ति के इस कार्य-कारणभाव को दृष्टि में रखते हुए पुद्गल परमाणुओं के पिण्डरूप कर्म को द्रव्यकर्म तथा राग-द्वेषादि रूप प्रवृत्तियों को भावकर्म कहा गया है। द्रव्यकर्म और भावकर्म का कार्य-कारण भाव मुर्गी और अण्डे के समान अनादि है।[३७]

कर्म की पौद्गलिकता

अन्य परम्पराओं में कर्म को संसार अथवा वासना या क्रिया रूप में निरूपित किया गया है। किन्तु जैन दर्शन कर्म को भौतिक पदार्थ मानता है। भौतिक पदार्थ के लिए जैन मतावलम्बी पुद्गल शब्द का प्रयोग करते हैं। कर्म की पौद्गलिकता की पुष्टि के लिए जैन दार्शनिकों ने प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं-

१. कर्म से आत्मा पर आवरण पड़ जाता है और वह बन्धन में आ जाता है। आत्मा चैतन्य होता है। यदि कर्म भी चैतन्य होता तो वह आत्मा का गुण होता, उसके लिए बन्धन का कारण नहीं बनता। अतः कर्म भौतिक है, पौद्गलिक है।

२. शरीर का कारण कर्म है। शरीर पौद्गलिक होता है। इसलिए उसका कारण भी पौद्गलिक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. कर्म मूर्त है, क्योंकि वह सुख-दु:ख का कारण होता है। भोजन आदि ग्रहण करने से हमें सुख तथा शस्त्र के आघात से दु:ख होता है। भोजन तथा शस्त्र मूर्त होते हैं। इसलिए कर्म भी मूर्त होता है। किन्तु भोजन अथवा शस्त्रादि से कर्म अधिक बलवान होता है। वह जीव के साथ चिपक जाता है।

४. इन्द्रियों से जो भी बोध प्राप्त होते हैं, वे सभी मूर्त होते हैं। अत: उनका कारण कर्म भी मूर्त तथा पौद्गलिक होता है।

कर्म, आत्मा तथा शरीर

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है, किन्तु यहाँ एक आशंका उत्पन्न होती है कि कर्म पौद्गलिक एवं मूर्त होता है तथा आत्मा अभौतिक एवं अमूर्त। फिर भी दोनों के बीच सम्बन्ध होता है। यह कैसे? जैन दर्शन के अनुसार योग कर्म और आत्मा को सम्बन्धित करता है। योग तीन प्रकार का है- मनसा, वाचा और कर्मणा। योग की प्रवृत्तियों के कारण ही कर्म आत्मा की ओर आकर्षित होता है और उससे चिपक जाता है। मुनि नथमल के शब्दों में-"अमूर्तज्ञान पर मूर्त मादक द्रव्य का असर होता है, वह अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध हुए बिना नही हो सकता।" इससे जाना जाता है कि विकारी अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त का सम्बन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं आती।[३८]

जिस प्रकार कर्म और जीव का सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है उसी प्रकार कर्म और शरीर का सम्बन्ध भी अनादिकाल से चला आ रहा है। इन दोनों के बीच वही सम्बन्ध है जो बीज और अंकुर के मध्य होता है। बीज से अंकुर होता है तथा अंकुर विकसित होकर बीज पैदा करता है। इसी प्रकार कर्म के कारण शरीर होता है और शरीर के कारण कर्म होता है।

कर्मबन्ध के हेतु

आत्मा और कर्म के सम्बन्ध के फलस्वरूप आत्मा में परिवर्तन होता है, जिसे बन्ध कहते हैं। आत्मा कर्म से सम्बन्धित होता है, किन्तु क्यों दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित होता है? इसके लिए दर्शनों में मतभेद है। बौद्ध दर्शन वासना या संस्कार को कर्मबन्ध का कारण बताता है। न्याय-वैशेषिक ने मिथ्याज्ञान को कर्मबन्ध का हेतु माना है। इसी तरह सांख्य ने यह माना है कि प्रकृति और पुरुष को अभिन्न समझने का ज्ञान कर्मबन्ध है। वेदान्त दर्शन में अविद्या को कर्मबन्ध का कारण बताया गया है। जैन दर्शन में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद,कषाय और योग को कर्मबन्ध का कारण स्वीकार किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर धारण करनेवाला जीव ही प्रमाद और योग के कारण बन्धन में आता है। अत: प्रमाद और योग बन्धन का कारण है। इसी तरह *स्थानांग* में भी कषाय यानी क्रोध, मान, माया और लोभ को कर्मबन्ध का कारण माना गया है।[३९]

कर्मबन्ध की प्रक्रिया और प्रकार

लोक में सर्वत्र कर्म-पुद्गल होते हैं, ऐसी जैन दर्शन की मान्यता है। जब जीव मन, वचन और काय से किसी प्रकार की प्रवृत्ति करता है तो उसके अनुकूल कर्म-पुद्गल उसकी ओर आकर्षित होते हैं। उसकी प्रवृत्ति में जितनी तीव्रता या मन्दता होती है उसके अनुसार ही पुद्गलों की संख्या अधिक या कम होती है। इस कर्मबन्ध के चार प्रकार माने गये हैं-

प्रदेशबन्ध - जीव के द्वारा ग्रहण किये गये कर्म-पुद्गलों का उसके साथ कर्म के रूप में बन्ध जाना प्रदेशबन्ध कहलाता है। इसको कर्म का निर्माणक या व्यवस्थाकरण माना गया है।

प्रकृतिबन्ध - प्रदेशबन्ध में कर्म-परमाणुओं के परिमाण पर विचार किया जाता है, किन्तु प्रकृति-बन्ध में कर्म के स्वभावानुकूल जीव में जितने प्रकार के परिवर्तन होते हैं उन्हें विवेचित किया जाता है। यह स्वभाव व्यवस्था है। स्वभाव या कार्यभेद के कारण कर्मों के आठ भाग बनते हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र तथा अन्तराय। इनके भी भेद-उपभेद देखे जाते हैं-

ज्ञानावरणीय कर्म - इसकी पाँच उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं- १. मतिज्ञानावरण, २. श्रुतज्ञानावरण, ३. अवधिज्ञानावरण ४. मन:पर्यायज्ञानावरण और ५. केवलज्ञानावरण।

दर्शनावरणीय कर्म - इसकी नौ उत्तर प्रकृतियाँ हैं- १. चक्षुदर्शनावरण, २.अचक्षुदर्शनावरण, ३. अवधिदर्शनावरण, ४. केवलदर्शनावरण ५. निद्रा, ६. निद्रा-निद्रा, ७. प्रचला, ८. प्रचला-प्रचला और (९) स्त्यानगृद्धि।

वेदनीय कर्म - इसकी दो उत्तर प्रकृतियाँ हैं- १. सातावेदनीय तथा २. असातावेदनीय।

मोहनीय कर्म - इसकी भी मुख्य दो ही उत्तर प्रकृत्तियाँ हैं- १. दर्शन मोहनीय तथा २. चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद होते हैं- (क) सम्यक्त्व मोहनीय (ख) मिथ्यात्व मोहनीय तथा (ग) मिश्र मोहनीय। चारित्र मोहनीय के दो भेद होते हैं (क) कषाय मोहनीय तथा (ख) नोकषाय मोहनीय। कषाय मोहनीय के चार भेद हैं- क्रोध, मान, माया, लोभ। कषाय की तीव्रता और मन्दता के कारण इन चार में से प्रत्येक के चार भेद होते हैं- अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन। इस प्रकार कषाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोहनीय के १६ भेद हो जाते हैं। नोकषाय के नौ भेद होते हैं- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। ये कुल मिलाकर मोहनीय कर्म के २८ भेद या उत्तर प्रकृतियाँ हैं- दर्शन मोहनीय ३ + कषाय मोहनीय १६ + नोकषाय मोहनीय ९।

आयुष्यकर्म- इसकी उत्तर प्रकृतियाँ चार हैं- १. देवायु, २. मनुष्यायु, ३. तिर्यञ्चायु तथा ४. नरकायु।

नामकर्म - इसकी उत्तर प्रकृतियाँ मुख्यत: चार हैं- १. पिण्ड प्रकृतियाँ २. प्रत्येक प्रकृतियाँ ३. त्रस दशक तथा ४. स्थावर दशक। इनमें से प्रत्येक की क्रमश: ७५, ८, १० एवं १० उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं। ये कुल मिलाकर १०३ होती हैं।

गोत्रकर्म - इसकी उच्च व नीच ये ही दो प्रकृतियाँ हैं।

अन्तरायकर्म - इसकी पाँच उत्तर प्रकृतियाँ हैं- १. दानान्तराय, २. लाभान्तराय, ३. भोगान्तराय, ४. उपभोगान्तराय तथा ५. वीर्यान्तराय।

स्थितिबन्ध - यह कर्म की काल मर्यादा को इंगित करता है। कोई भी कर्म अपनी काल मर्यादा के अनुसार ही किसी जीव के साथ रहता है। जब उसका समय समाप्त हो जाता है तब वह जीव से अलग हो जाता है। यही कर्मबन्ध की स्थिति होती है।

अनुभाग बन्ध- यह कर्मफल की व्यवस्था है। कषायों की तीव्रता और मन्दता के अनुकूल ही कर्मों के फल भी प्राप्त होते हैं। कषायों की तीव्रता से अशुभ कर्मफल अधिक एवं बलवान होते हैं। कषायों की मन्दता से शुभ कर्म-फल अधिक एवं बलवान होते हैं।

कर्मबन्ध की ये चार अवस्थायें साथ ही होती हैं, किन्तु आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए प्रदेशबन्ध को पहला स्थान दिया गया है, क्योंकि जब तक कर्म और आत्मा सम्बन्धित नहीं होंगे तब तक अन्य व्यवस्थायें संभव नहीं हो पायेंगी।

कर्म की विविध अवस्थायें

बन्धन, परिवर्तन, सत्ता, उदय, क्षय इत्यादि के आधार पर कर्म की ग्यारह अवस्थाएँ मानी गयी हैं[४०]-

१. **बन्धन-** कर्म और आत्मा का मिलकर एक रूप हो जाना बन्धन है।

२. **सत्ता-** बन्ध कर्म-परमाणु उस समय तक आत्मा के साथ रहते हैं जब तक निर्जरा या कर्मक्षय की स्थिति न आ जाए। कर्म का इस प्रकार आत्मा के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ रहना सत्ता है।

३. **उदय-** कर्म की वह अवस्था जब वह अपना फल देता है, उदय है।

४. **उदीरणा-** नियत समय से पहले कर्मफल देना उदीरणा है।

५. **उद्वर्तना-** कषायों की तीव्रता या मन्दता के कारण उसके फल में वृद्धि हो जाना उद्वर्तना है। यह उत्कर्षण की स्थिति है।

६. **अपवर्तना-** यह अवस्था उद्वर्तना के विपरीत है। स्थिति विशेष के कारण कर्मफल अपवर्तना कहलाती है। यह अपकर्षण की स्थिति है।

७. **संक्रमण-**एक प्रकार के कर्म-पुद्गलों की स्थिति का सजातीय दूसरे प्रकार के कर्म-पुद्गलों की स्थिति में परिवर्तित हो जाना संक्रमण है।

८. **उपशमन-**कर्म की वह अवस्था जिसमें उदय तथा उदीरणा संभव नहीं होती, उपशमन है। उपशमन में कर्म दबा हुआ रहता है।

९. **निधत्ति-** इस अवस्था में यद्यपि उद्वर्तना या अपवर्तना की असंभावना नहीं रहती, फिर भी उदीरणा और संक्रमण का अभाव रहता है।

१०. **निकाचन-** कर्म जिस रूप में बन्ध हुआ उसी रूप में उसे अनिवार्य रूप से भोगना निकाचन कहलाता है।

कर्मबन्ध का छूटना

कर्मबन्धन जीव द्वारा किये गये प्रयास से छूट भी जाता है। इसके लिए जैन दर्शन में रत्नत्रय— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र का प्रतिपादन किया गया है जिनकी चर्चा पूर्व के अध्याय में की गयी है। इनके पालन करने से जीव कर्मों का क्षय करता है और मोक्ष की उपलब्धि करता है। कर्मबन्ध की दो स्थितियाँ हैं-आस्रव तथा बन्ध। कर्म-पुद्गलों का जीव के पास आना आस्रव है तथा जीव को प्रभावित कर देना बन्धन है। किन्तु इसके बाद की दो स्थितियाँ मोक्ष से सम्बन्धित हैं, वे हैं– संवर और निर्जरा। जीव में आते हुए नए कर्मों को रोकना संवर है और आये हुए कर्मों को भोगकर समाप्त करना अर्थात् क्षय करना निर्जरा है। जीव इस अवस्था में कैवल्य प्राप्त करके सर्वज्ञ हो जाता है, जो जीवन्मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था में कुछ कर्म रह जाते हैं जिनके कारण जीव का शरीर उसके साथ रहता है। जब शरीर भी नष्ट हो जाता है तब जीव विदेहमुक्त या पूर्ण मुक्त हो जाता है। उसका कर्म से सम्बन्ध सदा-सदा के लिए छूट जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। जो अनादि होता है उसका अन्त नही होता। फिर कर्मबन्ध से आत्मा किस प्रकार छूटती है। इस समस्या का समाधान करते हुए मुनि नथमल कहते हैं—

अनादि का अन्त नहीं होता, यह सामुदायिक नियम है और जाति से सम्बन्ध रखता है, व्यक्ति विशेष पर लागू नहीं भी होता। प्राक्भाव अनादि है, फिर भी उसका अन्त होता है। स्वर्ण और मृत्तिका, घी और दूध का सम्बन्ध अनादि है फिर भी वे पृथक् होते हैं। ऐसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सम्बन्ध का अन्त होता है। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि इसका सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा अनादि है, व्यक्तिश: नहीं। आत्मा से जितने कर्म पुद्गल चिपटते हैं, वे सब अवधि सहित होते हैं । कोई भी एक कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ घुल-मिलकर नहीं रहता । आत्मा मोक्षोचित सामग्री पा, अनास्रव बन जाती है, तब नये कर्मों का प्रवाह रुक जाता है, संचित कर्म तपस्या द्वारा टूट जाते हैं, आत्मा मुक्त हो जाती है।[४१] इस तरह जैन चिन्तकों ने जीव और अजीव इन दो मौलिक तत्त्वों के बीच सम्बन्ध माना है। यही सम्बन्ध जीव और उसके अनन्त चतुष्टयरूप का घात करता है और वह बन्धन में आ जाता है। कर्म-पुद्गल से युक्त जीव मनसा, वाचा, काया से कर्म करते हैं और निरंतर कर्म-पुद्गल का बन्धन करते रहते हैं। योग के द्वारा इस कर्मबन्ध की प्रक्रिया को रोककर पुन: शुद्धभाव को प्राप्त किया जा सकता है। कर्मबन्ध को रोकना एवं कर्मक्षय की प्रक्रिया को अपनाना तभी सम्भव है जब व्यक्ति इन अवधारणाओं को भली-भाँति समझ सके ।

बौद्ध योग का तत्त्वमीमांसीय आधार

तत्त्वमीमांसा दार्शनिकों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय रहा है, परन्तु भगवान् बुद्ध प्राय: इसके प्रति उदासीन रहे हैं । इसका यह अर्थ नहीं किया जा सकता है कि बौद्ध विचारणा में तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी चिन्तन नहीं हुआ है। उनका सम्पूर्ण दार्शनिक चिन्तन चार आर्य सत्य पर आधारित है और उसी आर्य सत्य में तत्त्वमीमांसीय अवधारणा भी सन्निहित है।

आर्य सत्य

भगवान् बुद्ध ने जिन बातों को जीवन के लिए उपयोगी समझा उन्हें आर्य सत्य के नाम से सम्बोधित किया। वे *महापरिनिब्बानसुत्त* में कहते हैं — भिक्षुओं! इन चार आर्य-सत्यों को भली-भाँति न जान पाने के कारण ही मेरा और तुम्हारा संसार में जन्म-मरण और दौड़ना दीर्घकाल से जारी रहा। इस आवागमन के चक्र में हम सभी दु:ख भोगते रहे, विभिन्न योनियों में भटकते रहे। अब इसका ज्ञान हो गया। दु:ख का समूल विनाश हो गया, अब आवागमन नहीं होना है।[४२] 'आर्य-सत्य' नाम की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि जिन सत्यों को केवल आर्य ही समझते हैं, उन्हें आर्य कहते हैं। आर्य कौन होते हैं? इसके सम्बन्ध में आचार्य *वसुबन्धु* ने *अभिधर्मकोशभाष्य* में कहा है कि वे आँख की तरह होते हैं जिन्हें छोटे से कष्ट का भी अनुभव होता है, जैसे आँख में ऊन की एक छोटी कणिका पड़ जाने से ही उसे कष्ट पहुँचता है। अन्य लोग हथेली की तरह होते हैं जिन्हें बड़ा से बड़ा कष्ट भी उद्विग्न नही कर पाता। हथेली पर एक कणिका क्या बल्कि मोटा-सा धागा भी पड़ा हो तो उसे क्या कष्ट होगा?[४३]

आर्य सत्य चार हैं, जिनका प्रथम उपदेश भगवान् *बुद्ध* ने सारनाथ में अपने पाँच शिष्यों को दिया था। चार आर्य सत्य निम्न हैं-

१. सर्व दुःखम्	-	संसार दुःख से परिपूर्ण है।
२. दुःख समुदय	-	दुःख के कारण हैं।
३. दुःख निरोध	-	दुःखों का नाश संभव है।
४. दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद	-	दुःख नाश के उपाय।

ये चार आर्य सत्य ही तथागत–धर्म और दर्शन के मूलाधार हैं। ऐसी मान्यता है कि भगवान् *बुद्ध* ने इन सत्यों को सर्वप्रथम संसार के सामने प्रस्तुत किया, परन्तु *व्यासभाष्य* में स्पष्ट रूप से आया है कि अध्यात्मशास्त्र चिकित्साशास्त्र की तरह चतुर्व्यूह है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोग–हेतु, आरोग्य अर्थात् रोग का नाश तथा भैषज्य अर्थात् रोग को दूर करने की दवा है, उसी प्रकार अध्यात्मशास्त्र में भी संसार यानी दुःख, संसार–हेतु यानी दुःख के कारण, मोक्ष यानी दुःख का नाश तथा मोक्षोपाय- ये चार सत्य बताये गये हैं।[४४] जिस प्रकार वैद्य अपनी दवा के प्रयोग से रोगी के रोगों का नाश कर देते हैं, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी भी उपाय बतलाकर संसार के दुःखों का नाश कर देते हैं, वैद्यकशास्त्र की इस समता के कारण ही *बुद्ध* महाभिषक वैद्यराज कहे गये हैं।[४५]

प्रथम आर्य सत्य–संसार दुःख से परिपूर्ण है

संसार में चारों ओर दुःख ही दुःख व्याप्त है। जन्म लेना दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, शोक दुःख है, विलाप करना दुःख है, पीड़ा होना दुःख है, चिन्तित होना, व्यग्र होना, परेशान होना दुःख है, इच्छा की पूर्ति न होना दुःख है, प्रिय से वियोग दुःख है, अप्रिय का संयोग दुःख है। संक्षेप में यदि कहा जाए तो पंच उपादान या शरीर ही दुःख है।[४६] अतः यह संसार भव-ज्वाला से प्रदीप्त भवन के समान है, परन्तु मूढ़-जन इसके स्वरूप को न जानकर ही तरह-तरह के भोग-विलास की सामग्री एकत्र करते हैं। परिश्रम से पैदा की गयी भोग सामग्री सुख तो क्या दुःख ही पैदा करती है। *धम्मपद* में कहा गया है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह संसार जलते हुए भवन के समान है, तब इसमें हँसी क्या हो सकती है?[४७] अतः बुद्ध ने इस संसार में प्रथम सत्य के रूप में दुःख को प्रतिपादित किया। यह वह दुःख है जिसे साधारणजन प्रतिदिन अनुभव करते हैं, परन्तु उससे उद्विग्न नहीं होते। उसके सामने सिर झुकाकर खड़े हो जाते हैं। किन्तु विवेकी पुरुष की दृष्टि में यह संसार दुःखमय है।

द्वितीय आर्य सत्य–दुःख के कारण हैं

दुःख की उत्पत्ति सकारण है, अकारण नहीं। संसार में ऐसी कोई भी घटना नहीं होती जिसका कोई कारण न हो। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है और प्रत्येक कारण कार्य होता है। इसी कार्य-कारण नियम-सूत्र में सारा संसार बन्ध है। अतः यदि दुःख की सत्ता है तो फिर इसका कारण भी होगा। दुःख के कारण पर प्रकाश डालते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा है कि हे भिक्षुओं! दुःख समुदय दूसरा आर्य सत्य है। दुःख का वास्तव हेतु तृष्णा है जो बारम्बार प्राणियों को उत्पन्न करती है, विषयों के राग से युक्त है तथा उन विषयों का अभिनन्दन करनेवाली है। यहाँ और वहाँ सभी जगहों पर अपनी तृप्ति खोजती रहती है। यह तृष्णा तीन प्रकार की है- कामतृष्णा, भवतृष्णा तथा विभवतृष्णा।[४८]

कामतृष्णा - जो तृष्णा नाना प्रकार के विषयों की कामना करती है।

भवतृष्णा - इस संसार की सत्ता बनाये रखनेवाली तृष्णा भवतृष्णा है।

विभवतृष्णा- विभव का अभिप्राय होता है संसार का नाश। संसार के नाश की इच्छा उसी प्रकार दुःख उत्पन्न करती है, जिस प्रकार उसके शाश्वत होने की अभिलाषा। तृष्णा का समावेश द्वादशनिदान में ही हो जाता है। बुद्ध ने दुःख के कारणों की एक लम्बी शृंखला प्रस्तुत की है जिसे दुःख-समुदय का बारह अंग कहा जाता है। जो निम्नलिखित है-

१. अविद्या– अविद्या का अर्थ होता है- विद्या का अभाव अर्थात् अज्ञान। आर्य सत्यों के ज्ञान का अभाव ही सही मायने में अज्ञान है, जिसके कारण मनुष्य दुःखद को सुखद, विनाशी को अविनाशी तथा अनात्म को आत्म समझ बैठता है। परन्तु जब वस्तुओं के दुःखद, विनाशी और अनात्म रूप का ज्ञान हो जाता है तो व्यक्ति का वस्तु के प्रति मोह भंग हो जाता है। अज्ञान से मोह और मोह से ममता उत्पन्न होती है। अतः अज्ञान या अविद्या ही सभी अनर्थों की जड़ है।

२. संस्कार– पूर्वजन्म के कर्मों का जो प्रभाव वर्तमान जीवन तक आता है उसे संस्कार कहते हैं। तात्पर्य है संस्कार पूर्वजन्म की कर्मावस्था है जिसके कारण हमने पाप-पुण्य रूप कर्म किये और परिणामस्वरूप अच्छा या बुरा फल भोग रहे हैं। कर्म के आधार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर संस्कार के तीन विभाजन किये गये हैं- काय-संस्कार, मन-संस्कार और वाक्-संस्कार। संस्कार की उत्पत्ति यथार्थ ज्ञान के अभाव के कारण होती है।

३. विज्ञान – व्यक्ति पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार माता के गर्भ में आकर सर्वप्रथम चैतन्य की अवस्था को प्राप्त करता है। चैतन्य प्राप्ति की यह अवस्था ही विज्ञान है। विज्ञान संस्कार के कारण होता है।

४. नामरूप – गर्भ-क्षण से लेकर शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं की रचना का समय ही नामरूप कहलाता है। इसे माता के गर्भ में प्रतिसन्धि की अवस्था भी कहते हैं। नामरूप विज्ञान के कारण होता है।

५. षडायतन – पाँच इन्द्रिय और एक मन षडायतन कहलाता है। यह उस अवस्था का सूचक है जब भ्रूण माता के गर्भ से बाहर आता है, उसके अंग-प्रत्यंग बिल्कुल तैयार हो जाते हैं, परन्तु अभी तब वह उन्हें प्रयुक्त नहीं करता। षडायतन नामरूप के कारण होता है।

६. स्पर्श – यह इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क या संयोग की अवस्था है। यह शैशव की वह अवस्था है जब शिशु बाह्य जगत के पदार्थों के साथ सम्पर्क में आता है। वह अपनी इन्द्रियों के प्रयोग से बाहरी विषयानुभूति की अवस्था को समझने का प्रयत्न करता है, किन्तु स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है। स्पर्श षडायतन के कारण होता है।

७. वेदना – अनुभव करने का नाम ही वेदना है। इन्द्रिय और विषयों के सम्पर्क से हमें अनुभव प्राप्त होता है। यह शिशु की वह दशा है जब वह पाँच-छह वर्षों के अनन्तर सुख-दुःख की भावना से परिचित होता है। स्पर्श से बाह्य जगत का ज्ञान उत्पन्न होता है और वेदना से अन्तर्जगत का ज्ञान जाग्रत होता है। दस वर्ष तक बालक के शरीर व मन की प्रकृतियाँ बढ़ती हैं, परन्तु अभी उसे विषय सुखों का ज्ञान नहीं होता। सुख-दुःख, न सुख, न दुःख इसकी तीन अवस्थाएँ हैं। वेदना स्पर्श से उत्पन्न होती है।

८. तृष्णा – यह विषयों के प्रति आसक्ति है। हमारी इन्द्रियों का जब विषयों से सम्पर्क होता है तो हम सुखकर विषयों को ग्रहण करना चाहते हैं तथा दुःखकर विषयों का त्याग करना चाहते हैं। इसके तीन प्रकार बताये गये हैं- कामतृष्णा, भवतृष्णा तथा विभवतृष्णा। जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। बौद्ध दर्शन के अनुसार ये तीन आसक्तियाँ मुख्य हैं। इस आसक्तियों के कारण ही मनुष्य लौकिक एवं पारलौकिक सुख के पीछे दौड़ता है। विषय भोग में वह थकता नहीं। अन्ततः विषय ही व्यक्ति का भोग कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। भोग के प्रति लिप्सा ही तृष्णा है तथा इसका क्षय ही निर्वाण है। सच्चासुख तो भोग से विरक्त होने में है। तृष्णा वेदना के कारण होती है।

९. उपादान – उपादान का अर्थ होता है तृष्णा की बहुलता। युवक की बीस या तीस की अवस्था में विषय की कामना प्रबल-इच्छाओं की परिपूर्ति के लिए उद्योग करता है। यही उपादान है । उपादान तृष्णा के कारण होता है। मनुष्य चार प्रकार के उपादानों को ग्रहण करता है-कामोपादान, दृष्टियुपादान, शीलोपादान, आत्मोपादान।

१०. भव – यह वह अवस्था है जब आसक्ति के वश में होकर मनुष्य विभिन्न प्रकार के भले-बुरे कर्मों का अनुष्ठान करता है। इन्हीं कर्मों के कारण मनुष्य को नया जन्म मिलता है। नवीन जन्म का कारण वर्तमान जीवन में सम्पादित कार्यकलाप ही होता है। पूर्वजन्म के संसार के समान ही 'भव' होता है। यही पुनर्जन्म है। यह चक्र अनादि एवं अनवरत चलता रहता है। भव उपादान के कारण होता है। इसका अन्त ही निर्वाण है।

११. जाति – जाति अर्थात् जन्म। भविष्य जन्म में मनुष्य की वह दशा जब वह माता के गर्भ में आता है और अपने दुष्कृत या सुकृत फलों को भोगने की योग्यता पाता है। अत: जाति को पंचस्कन्धों के स्फुरण की अवस्था माना गया है। यही व्यक्ति का वस्तुत: शरीर धारण है। भव और जाति में बड़ा सूक्ष्म भेद है। भव पूर्वजन्म को ग्रहण करना है। व्यक्ति भव चक्र में पड़कर शरीर धारण करता है। इसी शरीर धारण करने की क्रिया का नाम जाति है। यह भव के कारण होता है।

१२. जरा-मरण – उत्पन्न स्कन्धों के परिपाक का नाम 'जरा' तथा उसके विनाश का नाम 'मरण' है। यदि हम सामान्य तौर पर कहें तो जरा का अर्थ बुढ़ापा है और मरण का अर्थ है मृत्यु। जो जन्म लेता है वह बुढ़ापा को प्राप्त होता है तथा एक दिन मरता है। जन्म लेने के बाद उसके अंगों-प्रत्यंगो का निर्माण होता है तथा निर्माण के बाद क्षय प्रारम्भ हो जाता है। यही क्षय या विनाश जरा कहलाती है। इस तरह जन्म और मरण की धारा निरन्तर चलती रहती है। यही बन्धन है, इससे छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

इस प्रकार समझना चाहिए कि सभी दु:खों का कारण अविद्या है। अविद्या से जरा-मरण तक बारह कड़िया हैं, जिनमें अविद्या और संस्कार का सम्बन्ध पूर्वजन्म से होता है तथा जाति और जरा-मरण का सम्बन्ध भविष्य जीवन से होता है। शेष आठ वर्तमान जन्म से सम्बन्धित होते हैं। इनकी संख्या के आधार पर इन्हें द्वादशनिदान कहते हैं। भव यानी संसार की सारी गतिविधियाँ इन्हीं पर आधारित होती हैं। इसीलिए इन्हें भव चक्र कहते हैं। इन्हें प्रतीत्यसमुत्पाद भी कहा जाता है, क्योंकि बारह कड़ियों में से एक के बाद दूसरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के उत्पन्न होने की प्रक्रिया देखी जाती है। इस 'भव-चक्र' को बौद्धानुयायी माला बनाकर घूमाते रहते हैं ताकि संसार की नश्वरता हमेशा ध्यान में रहे।

उपर्युक्त वर्णित द्वादशनिदान जन्म-मरण चक्र का ही नाम प्रतीत्यसमुत्पाद है जो बौद्ध दर्शन का आधारपीठ है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ होता है- सापेक्ष कारणतावाद। प्रतीत्य अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर और समुत्पाद अर्थात् अन्य वस्तु की उत्पत्ति यानी किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति प्रतीत्यसमुत्पाद है। *माध्यमिकवृत्ति* में कहा गया है—इस चीज के होने पर यह चीज होती है अर्थात् जगत की वस्तुओं या घटनाओं में सर्वत्र यह कार्य-कारण का नियम जागरुक है।[४९] तात्पर्य यह है कि कारण के रहने से ही कार्य होगा अर्थात् अविद्या के रहने पर ही संस्कार होगा। संस्कार के रहने से ही विज्ञान होगा और विज्ञान के रहने से ही नामरूप। इस प्रकार जन्म ग्रहण करने से ही जरा तथा मरण होगा। अत: संसार में जो भी कार्य है वह अकारण नहीं है, किसी भी घटना की उत्पत्ति स्वत: नहीं होती। सबका होना प्रत्यय या कारण के अधीन है। अत: प्रत्यय या कारण का सिद्वान्त ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। प्रतीत्यसमुत्पाद के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ साम्तानी ने कहा है- प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम अटल और अमिट है। संसार के सभी तत्त्व नियम के वशीभूत हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों ही कालों में यह नियम निर्बाध लागू होता है। यह अनादि और अनन्त है।[५०]

प्रतीत्यसमुत्पाद की शृंखला का प्रारम्भ अविद्या से होता है, अत: अविद्या सर्वथा विचारणीय प्रत्यय है। अविद्या के कारण ही प्राणियों का नाना योनियों में संसरण, आवागमन होता है। किन्तु जन्म-मृत्यु का मूल कारण एकमात्र अविद्या ही है ऐसा स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता है । आचार्य *बुद्धघोष* ने कहा है कि प्रकृतिवादियों (सांख्याचार्यों) की प्रकृति के समान अविद्या लोक का मूल कारण नहीं है, क्योंकि अविद्या के आरम्भ का पता नहीं चलता, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इसके पहले अविद्या न थी, इसके बाद वह उत्पन्न हुई[५१]। इससे यह स्पष्ट होता है कि *बुद्ध* ने आदिकाल की खोज का प्रयत्न ही नहीं किया और चार आर्य सत्य सम्बन्धी अज्ञान रूपी अविद्या को मानव की दु:ख परम्परा की जननी घोषित कर दिया। इस प्रकार अविद्या और तृष्णा से संचालित मनुष्य नाना योनियों में भटकता रहता है, किन्तु अविद्या के नष्ट होने से तृष्णा भी स्वयं नष्ट हो जाती है एवं संस्कार भी अनुत्पादक हो जाते हैं। इस तरह भवचक्र की परम्परा विघटित हो जाती है। प्रतीत्यसमुत्पाद पर ही बौद्ध दर्शन के अन्य सिद्धान्त भी आधारित हैं, यथा-अनात्मवाद, क्षणभंगवाद, शून्यवाद आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय आर्यसत्य–दुःखों का नाश संभव है

जब दुःख के कारण की जानकारी हो जाती है तब तो यह समझना ही चाहिए कि कारणों के नाश हो जाने पर दुःख का भी नाश होना संभव है। दुःख नाश की स्थिति को ही दुःख-निरोध कहते हैं। यही निर्वाण है। इस अवस्था को प्राप्त करने से जन्म का स्रोत बन्द हो जाता है। स्रोत के बन्द होने से संसार सर्वदा के लिए छूट जाता है। शरीर धारण करने से ही दुःख का अनुभव होता है, परन्तु जब शरीर धारण की प्रक्रिया ही समाप्त हो जाती है तो शरीर एवं संसारजन्य क्लेश का क्षय हो जाता है। जैसा कि हमलोगों ने ऊपर देखा कि अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, जाति से जरा-मरण यानी दुःख की उत्पत्ति होती है। यदि हम इसे निरोध करने की दृष्टि से देखें तो अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध होता है, संस्कार के निरोध से विज्ञान का निरोध होता है, विज्ञान के निरोध से नामरूप का निरोध होता है, नामरूप के निरोध से षडायतन का निरोध होता है, षडायतन के निरोध से स्पर्श निरुद्ध होता है, स्पर्श के निरोध से वेदना निरुद्ध हो जाती है, वेदना के निरोध से तृष्णा निरुद्ध होती है, तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध होता है, उपादान के निरोध से भव निरुद्ध हो जाता है, भव के निरोध से जाति निरुद्ध हो जाती है और जाति के निरोध से जरा-मरण निरुद्ध हो जाता है। यही दुःखनिरोध का क्रम बताया गया है।

इस निरोध की अवस्था का नाम ही निर्वाण है। निर्वाण प्राप्तकर मनुष्य जन्म ग्रहण नहीं करता, अमर हो जाता है। तृष्णा के नाश हो जाने से इसी जीवन में, जीवित काल में ही मनुष्य उस अवस्था को प्राप्त कर लेता है जिसे निर्वाण नाम से पुकारा जाता है।

चतुर्थ आर्यसत्य–दुःखनाश के उपाय

यह निर्वाण-मार्ग है। बुद्ध के समय अनेक प्रकार की विचारधाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। उन्हें देखते हुए तथा साधना के समय प्राप्त विभिन्न अनुभवों के आधार पर बुद्ध ने मध्यममार्ग का प्रतिपादन किया। दुःख से मुक्त होने के लिए व्यक्ति को दो मार्गों का त्याग करना चाहिए-

१. आत्मा को नित्य समझकर नाना प्रकार के सुखों की कामना करना तथा

२. शरीर की अवहेलना करके अर्थात् तप की प्रक्रिया में शरीर को क्षीण करके निर्वाण प्राप्त करने का प्रयास।

इन दो अन्तों का त्याग कर बीच के मार्ग को अपनाना ही बुद्ध का उपदेश था जिसे उन्होंने अष्टांगिक मार्ग के नाम से उद्बोधित किया। इसके आठ अंग निम्नलिखित हैं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वाक्, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यक्-आजीव, सम्यक्- व्यायाम, सम्यक्-स्मृति, सम्यक्-समाधि। इन सबकी चर्चा पूर्व के अध्याय में की जा चुकी है।

अनात्मवाद

भगवान् *बुद्ध* अनात्मवादी थे। अर्थात् आत्मा के अस्तित्व में उनका विश्वास नहीं था। उन्होंने आत्मा की सत्ता की अवहेलना करते हुए *मज्झिमनिकाय* में कहा है कि जो यह मेरी आत्मा अनुभव करनेवाली है, अनुभव का विषय है और जहाँ-तहाँ अपने बुरे कर्मों के विषयों को अनुभव करती है, यह मेरी आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील है, अनन्त वर्षों तक वैसी ही रहेगी–हे भिक्षुओं! यह भावना बिल्कुल बालधर्म है।[५२] हम जिसे नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अपरिवर्तनशील समझते हैं, वह अनित्य, अध्रुव, अशाश्वत और परिवर्तनशील है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सारे धर्म अनात्म हैं।[५३] इतना ही नहीं *बुद्ध* ने चक्षु आदि इन्द्रियाँ, उनके विषय, उनसे होनेवाले ज्ञान, मन, मानसिक धर्म और मनोविज्ञान आदि सबको अनित्य, दुःखात्मक तथा अनात्म घोषित किया है। पर, मन में सवाल उत्पन्न होता है कि 'आत्मा' जिसे नित्य ध्रुव माना गया उसे *बुद्ध* ने अनात्म घोषित किया, आखिर क्यों? इसकी स्पष्टता भगवान् *बुद्ध* और भिक्षु *बच्चगोत्त* के बीच हुई वार्तालाप से होती है। एक समय *बच्चगोत्त* ने पूछा- भगवन्! प्रकृति किस तरह स्थित है- क्या आत्मा है? यह सुनकर *बुद्ध* चुप रह गये। तब *बच्चगोत्त* ने दूसरा प्रश्न पूछा-भगवन्! क्या आत्मा नित्य है? *बुद्ध* पुनः चुप ही रहे। *बुद्ध* को चुप रहते देखकर *बच्चगोत्त* तो चला गया, किन्तु उनके शिष्यों में श्रेष्ठ *आनन्द* ने *बुद्ध* से उनके मौन रहने का कारण पूछा। तब *बुद्ध* ने कहा- हे *आनन्द*! यदि मैं यह उत्तर देता कि आत्मा नित्य है, तो इससे उन श्रमणों और ब्राह्मणों के सिद्धान्त का समर्थन होता जो स्थिरता या नित्यता में विश्वास करते हैं।.....यदि मैं यह कहता कि आत्मा नहीं है तो उन श्रमणों और ब्राह्मणों के सिद्धान्त का समर्थन होता है जो शून्यवाद में विश्वास करते हैं।[५४]

आचार्य *नागार्जुन* ने कहा है कि जो आत्मा को देखता है उसी पुरुष का 'अहं' के लिए सदा स्नेह बना रहता है, स्नेह से तृष्णा उत्पन्न होती है जो दोषों को ढ़क लेती है। गुणदर्शी पुरुष इस विचार से कि 'विषय मेरे हैं', साधनों को ग्रहण करता है। अतः जब तक यह आत्माभिनिवेश है तब तक यह संसार है। आत्मा के रहने पर ही 'पर' का ज्ञान होता है। 'स्व' और 'पर' के विभाग से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और राग-द्वेष के कारण ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। अतः इनको हटाने से ही सभी दोषों का निराकरण हो सकता है[५५]। इस तरह *बुद्ध* ने सर्व अनात्म का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है और आत्मा को सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोषों का मूल बताया है। परन्तु भगवान् बुद्ध के अनात्मवाद से यह नहीं समझना चाहिए कि उन्होंने आत्मा की सत्ता का सर्वथा निषेध किया है। उन्होंने नित्य, शाश्वत, ध्रुव और अपरिवर्तनशील आत्मा की सत्ता का निषेध करते हुए कहा है कि आत्मा कोई नित्य कूटस्थ वस्तु नहीं है, बल्कि खास कारणों से, स्कन्धों के योग से उत्पन्न एक शक्ति है जो अन्य बाह्य भूतों की भाँति उत्पन्न एवं विलीन होती रहती है। उन्होंने दीपशिखा का उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया है। हम समझते हैं कि एक दीपक रातभर जलता रहता है, परन्तु वस्तुस्थिति यह होती है कि पहले प्रहर की दीपशिखा जो समाप्त हो चुकी रहती है, से दूसरे प्रहर की दीपशिखा भिन्न होती है। इस प्रकार दीपशिखा प्रतिक्षण बदलती रहती है, पर हमें एक-सी प्रतीत होती है। ठीक यही बात आत्मा के साथ लागू होती है।

आत्मा, जीव, सत्ता, पुद्गल, मन, चित्त, विज्ञान आदि शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची तथा समानार्थक हैं। बौद्धानुयायी आत्मा के लिए विशेष शब्द 'सन्तान' शब्द का प्रयोग करते हैं। यद्यपि बुद्ध ने आत्मा की स्वतंत्र एवं नित्य सत्ता को स्वीकार नहीं किया है, फिर भी उन्होंने मानसिक वृत्तियों को सहर्ष स्वीकार किया है। हमारी मानसिक वृत्तियाँ जैसे-आँखें कोई खट्टी चीज देखती हैं और जिह्वा से पानी टपकने लगता है, नाक दुर्गन्ध सूँघती है और हाथ नाक पर पहुँच जाता है। जबकि हम जानते हैं कि आँख और जिह्वा एक-दूसरे से भिन्न हैं फिर भी वे किसी न किसी रूप में मिले हुए हैं, एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। अत: कहा जा सकता है कि दोनों को मिलानेवाला कोई तीसरा है और वह है-मन। मन एवं मानसिक वृत्तियों से ही आत्मा का पता चलता है। इस प्रकार बुद्ध ने आत्मा की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया है जो रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान आदि पंचस्कन्धों का समुदायमात्र है। इन्हीं पंचस्कन्धों को हम आत्मा के नाम से पुकारते हैं। रूप के अन्तर्गत पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच विज्ञप्ति और इनसे सम्बन्धित विषय आते हैं। सुख-दु:ख एवं उदासीन भाव वेदना के अन्तर्गत आते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि प्रिय वस्तु के संसर्ग से सुख तथा अप्रिय वस्तु के संसर्ग से दु:ख आदि की प्राप्ति से चित्त की जो विशेष अवस्था होती है, वही वेदना है। किसी वस्तु के विषय में जो निश्चित ज्ञान होता है उसके गुणों के आधार पर हम उसका नामकरण करते हैं, वही संज्ञा है। संज्ञा का कार्य संज्ञानन या पहचान कराना है। हमें नील, पीत, रक्त, श्वेत आदि रूप से वस्तु का संज्ञानन होता है, यही संज्ञा है। संस्कार के अन्तर्गत मानसिक शक्तियाँ आती हैं जो रूप, वेदना और संज्ञा के बीच सामंजस्य उत्पन्न करती हैं। संस्कार के तीन प्रकार हैं– काय-संस्कार, वाक्-संस्कार और चित्त-संस्कार। कायिक धर्म, आश्वास-प्रश्वास आदि काय-संस्कार है। वितर्क, विचार ही वचन या वाक्-संस्कार है। संज्ञा और वेदना चित्त-संस्कार कहलाती है। विज्ञान में बाह्य एवं आभ्यंतर अर्थात् बाह्य वस्तुओं का ज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा 'अहं' के ज्ञान का समावेश होता है।

उपर्युक्त पाँच स्कन्धों के संघात के कारण ही मनुष्य या आत्मा का बोध होता है। संघात् रूपी आत्मा के विषय में *भदन्त नागसेन* ने राजा *मिलिन्द* को रथ का उदाहरण देकर बहुत ही सुगमता से समझाया है, जो इस प्रकार है- राजा *मिलिन्द* ने *भदन्त नागसेन* से पूछा कि आपके ब्रह्मचारी आपको *नागसेन* नाम से पुकारते हैं, तो यह *नागसेन* क्या है? क्या ये केश *नागसेन* है? क्या रोयें *नागसेन* हैं? इसी तरह तमाम सवाल राजा *मिलिन्द* ने *नागसेन* से किये। जिसके जवाब में *नागसेन* ने संघातवाद को सामने रखते हुए राजा से पूछा-राजन् क्या आप पैदल चलकर आये हैं या रथ पर सवार होकर ? राजा ने उत्तर दिया-भन्ते। मैं पैदल नहीं रथ पर आया हूँ। तब भदन्त *ने नागसेन* से पूछा-रथ क्या है? क्या धुरी रथ है? क्या चक्के रथ हैं? क्या रस्सी रथ है आदि-आदि। सभी का जवाब राजा ने नकारात्मक रूप में दिया। तब *नागसेन* ने कहा-राजन! जिस प्रकार चक्का, धुरी आदि अलग-अलग रूप में रथ नहीं हैं, बल्कि सभी का समन्वित रूप रथ है, उसी प्रकार न तो रूप आत्मा है, न वेदना आदि ही, बल्कि पंचस्कन्धों का संघात् ही आत्मा है।[५६] इसी तरह मेरे केश इत्यादि के आधार पर केवल व्यवहार के लिए *'नागसेन'* ऐसा एक नाम कहा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धों ने आत्मा की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या बौद्धों ने आत्मा को नित्य माना है या अनित्य? बौद्धमत के अनुसार यह तो सत्य है कि आत्मा अनित्य है, क्योंकि वे क्षणिकवाद में विश्वास रखते हैं। क्षणिकवाद की यह मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण बदल रही है। अत: मन, जीव, आदि भी क्षण-क्षण बदलते रहते हैं। परन्तु बौद्धों ने संतति-प्रक्रिया को नित्य माना है। संतति-प्रक्रिया अर्थात् कार्य-कारण की प्रक्रिया। उनका कहना है कि मन क्षणिक है, पर परवर्ती मन का कारण भी है। जिस प्रकार माता-पिता की बहुत-सी बातें पुत्र-पौत्रों में आती हैं, उसी प्रकार पूर्वमन अपने अनुभवों का बीज या संस्कार अगले मन के लिए छोड़ जाता है।

दूसरा प्रश्न यह है कि बौद्ध मतानुसार आत्मा कर्ता-भोक्ता है या नहीं। यदि हम संतति-प्रक्रिया की दृष्टि से देखें तो जीव या आत्मा कर्ता एवं भोक्ता दोनों हैं, क्योंकि एक नामरूप से दूसरे नामरूप की उत्पत्ति होती है। *संयुक्तनिकाय* में कहा गया है कि पूर्वकालीन नामरूप से उत्तरकालीन नामरूप की उत्पत्ति हुई। अत: दूसरा जो पहले से उत्पन्न हुआ, पहले नामरूप के किये कर्मों को भोगता है।[५७] परन्तु *धम्मपद* में कुछ और ही कहा गया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि कर्ता और भोक्ता एक ही जीव है। कहा गया है- पाप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करनेवाले को ही उसका फल भोगना पड़ता है।[५८] इस संसार में कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ चले जाने से मनुष्य फल से बच जाये।[५९] जो पाप है उसे आत्मा ने किया है, वह आत्मा से ही उत्पन्न है।[६०] यद्यपि *धम्मपद* की ये उक्तियाँ शाश्वत आत्मा की ओर इंगित करती हैं, परन्तु जहाँ तक मैं समझती हूँ ये उक्तियाँ सन्तान रूप को ही मान्यता देने वाली हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् *बुद्ध* न तो पूर्णत: आत्मवादी हैं और न पूर्णत: अनात्मवादी ही। जैसे अपने बच्चे को दाँत से पकड़कर ले जाती हुई व्याघ्री न तो अपने बच्चे को अति निष्ठुरता से दाँतों से दबाती है और न अति शिथिलता से ही। उसी प्रकार *बुद्ध* यह पूछे जाने पर कि आत्मा है या नहीं, विधेयात्मक या निषेधात्मक उत्तर नहीं देते। दरअसल शाश्वत और उच्छेदवाद, इन दो अन्तों की पूर्व मान्यता को भगवान् *बुद्ध* ने समन्वयरूप प्रदान करते हुए मध्यममार्ग को प्रशस्त किया। इसलिए कहा जा सकता है कि *बुद्ध* का अनात्मवाद भी मध्यममार्गी है।

क्षणभंगवाद

क्षणिकवाद बौद्धदर्शन का मौलिक सिद्धान्त है। *बुद्ध* ने अनित्यवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और कहा कि क्षणिकता तो सिर्फ चेतना में है। किन्तु उनके शिष्यों ने उनके आंशिक क्षणिकवाद को पूर्ण क्षणिकवाद में परिणत कर दिया। शिष्यों ने माना कि केवल चेतना ही नहीं बल्कि शरीर भी क्षणिक है, सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं। प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण बदलती रहती हैं। क्षणिकवाद का अर्थ ही है— किसी वस्तु का अस्तित्व सनातन नहीं है। किसी भी वस्तु का अस्तित्व कुछ काल तक ही रहता है। जिस प्रकार एक प्रवाह दूसरे प्रवाह को जन्म देता है, दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को, उसी प्रकार एक क्षण दूसरे को तथा दूसरा तीसरे को जन्म देती है। यही प्रवाह-नित्यता है, क्षणिक सन्तान है। इस प्रवाह-नित्यता या क्षणिक-सन्तान को ही हम भ्रमवश सनातन या शाश्वत मान लेते हैं। वस्तुत: कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं हैं, सभी अनित्य हैं, क्षणिक हैं, परिणामी हैं। परिणाम या परिवर्तन वस्तु का स्वभाव है। वस्तु में क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है, जो आज है, वह कल नहीं, कल का स्वरूप दूसरा होगा। नदी के प्रवाह की भाँति सभी वस्तु सतत् परिवर्तन की अवस्था में हैं। क्षणिकवाद के अनुसार किसी भी पदार्थ का अस्तित्व (Existence) केवल एक क्षण (One moment) के लिए होता है। उस एक क्षण की अवधि पलक गिरने के समय से भी कम मानी जाती है। क्षणिकवाद के दृष्टिकोण में एक जीवित-प्राणी के जीवन का समय बहुत छोटा होता है। एक रथ का पहिया घूमने के समय हाल के एक विशेष बिन्दु पर ही घूमता है और ठहरने के समय भी एक विशेष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिन्दु पर ठहरता है, ठीक उसी प्रकार एक जीवित प्राणी का जीवन केवल विचार के रहने के समय तक ही रहता है। जैसे ही वह विचार समाप्त होता है, जीवित प्राणी भी समाप्त समझा जाता है।[६१]

जैसा कि पूर्व में हमने देखा कि प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु-प्रत्ययवाद का सिद्धान्त है। अर्थात् इसके होने पर ऐसा होता है, इसके नहीं होने पर ऐसा नहीं होता।[६२] यह कार्य - कारण सिद्धान्त ही सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता, सभी धर्मों की क्षणभंगुरता प्रमाणित करता है। बौद्ध दार्शनिकों का मानना भी है कि *'सर्वे पदार्थाः क्षणिकाः सत्वात्'* अर्थात् सत्व हेतु से सभी पदार्थ क्षणिक सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तु की सत्ता कारण से ही उत्पन्न होती है अर्थात् कारण पर निर्भर है। यदि भाव कारण से उत्पन्न होता है तो वह कार्य है और यदि कार्य है तो वह अवश्य विनाशी है। जिसकी उत्पत्ति है उसका विनाश अवश्यम्भावी है। कारण और कार्य तो पूर्व और उत्तर क्षण हैं। पूर्व क्षण का विनाश होने पर ही उत्तर क्षण की उत्पत्ति हो सकती है। वह उत्तर क्षण भी अपने उत्तर क्षण को जन्म देता है। इस प्रकार सम्पूर्ण संसार के भाव केवल अनित्य क्षणों की सन्तति है। *शान्तिरक्षित* का कहना है कि अभाव या विनाश तो भाव के साथ ही उत्पन्न होता है। भाव तो चल है और चल होने के कारण वह विनाश-स्वरूप है।[६३] क्षणिकवाद के परवर्ती बौद्ध-चिन्तकों ने सत्ता (Reality) को परिभाषित करते हुए कहा है कि अस्तित्व उसी का है जिसमें कार्य करने की क्षमता है। *अर्थक्रियाकारित्वम् सत्* अर्थात् यह अर्थ क्रियाकारित्व ही परिवर्तनशीलता कहलाती है। इसे दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जिसमें परिवर्तन की क्षमता है, कार्य करने की क्षमता है, उसी का अस्तित्व है। अतः परिवर्तनशीलता ही वस्तु का धर्म है। अपनी इस मान्यता को प्रमाणित करने के लिए बौद्धानुयायी बीज का उदाहरण देते हैं। बीज में अंकुर देने, पौधा उत्पन्न करने की क्षमता है इसलिए उसका अस्तित्व है, क्योंकि बीज में स्थायित्व नहीं है। यदि उसे स्थायी मान लिया जाय और ऐसा समझा जाये कि एक से अधिक क्षणों तक यह उत्पन्न करने की क्रिया कर सकता है या करता है, प्रत्येक क्षण में यह समान रूप से पौधा उत्पन्न कर सकता है तब तो बीज का स्थायित्व मान्य होगा अन्यथा उसका स्थायित्व भंग होगा। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता कि कोई भी बीज प्रत्येक क्षण में समान रूप से पौधा उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, क्योंकि बीज जब घर में रखा हुआ होता है तब तो उसमें पौधा नहीं निकलता। उसमें पौधा तब उत्पन्न होता है जब उसे मिट्टी में डाला जाता है। घर में या कपड़े में बीज से पौधा नहीं निकलता। अतः मिट्टी में डालने पर बीज से पौधा का अंकुरित होना, बीज में होनेवाले परिवर्तन को बताता है। यदि कोई ऐसा कहे कि बीज चाहे घर में रहे अथवा खेत में, पौधा उत्पन्न करने की क्षमता उसमें सदा स्थायी रूप से बनी रहती है और वह किसी खास क्षण में नहीं बल्कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमेशा ही स्थायी रूप से पौधे को उत्पन्न कर सकती है, तो इस तर्क को क्षणिकवादी मानने को तैयार नहीं होते। उनके अनुसार यदि बीज में पौधा पैदा करने की क्षमता स्थायी रूप से रहती है और किसी भी क्षण वह पौधा पैदा कर सकता है तब तो उसे मिट्टी में डालने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। घर में बीज से पौधा का न निकलना तथा मिट्टी में डालने पर बीज से पौधा का निकल जाना यह प्रमाणित करता है कि बीज प्रत्येक क्षण बदलता रहता है।

अत: स्पष्ट होता है कि सभी वस्तुएँ कारणोत्पन्न हैं तथा उत्पन्न होने से विनाशी हैं। उत्पत्ति और विनाश से सभी वस्तुओं की अनित्यता सिद्ध होती है। जन्म और मरण संसार का स्वभाव है। यहाँ कोई वस्तु नित्य नहीं है, सभी अनित्य हैं, क्षणिक हैं। इस प्रकार क्षण और क्षणिक वस्तु में कोई भेद नहीं, वस्तु का स्वरूप ही क्षणिक है। अत: वह विनाशी है।[६४]

कर्म सिद्धान्त

सामान्यतया 'कर्म' शब्द का अर्थ क्रिया से लिया जाता है। प्रत्येक शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक हलन-चलन को क्रिया कहते हैं। बौद्ध परम्परा में भी प्रत्येक मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रिया को कर्म नाम से विभूषित किया गया है। जो शुभ तथा अशुभ या कुशल और अकुशल दोनों हो सकते हैं। यद्यपि बौद्ध परम्परा में शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रियाओं के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग ज्यादा हुआ है, परन्तु वहाँ चेतना को प्रधानता देते हुए कहा गया है-चेतना ही कर्म है। भगवान् बुद्ध ने कहाँ है—भिक्षुओं! चेतना ही कर्म है, ऐसा मैं कहता हूँ, चेतना के द्वारा ही कर्म को करता है, काया से, वाणी से तथा मन से।[६५] चेतना को कर्म कहने से बौद्धानुयायियों का अभिप्राय यह नहीं है कि दूसरे सभी कर्म बेकार हैं, बल्कि वहाँ भी कर्म के सभी पक्षों पर समान रूप से विचार किया गया है। डॉ० सागरमल जैन के शब्दों में—आश्रय, स्वभाव और समुत्थान की दृष्टि से तीनों प्रकार के कर्मों का अपना-अपना विशिष्ट स्थान है। आश्रय की दृष्टि से काय कर्म ही प्रधान है, क्योंकि मन-कर्म एवं वाक्-कर्म भी काया पर आश्रित हैं। स्वभाव की दृष्टि से वाक्-कर्म ही प्रधान है, क्योंकि काय और मन स्वभावत: कर्म नहीं हैं, कर्म उनका स्व-स्वभाव है। यदि समुत्थान (आरम्भ) की दृष्टि से विचार करें तो मन-कर्म ही प्रधान है, क्योंकि सभी कर्मों का आरम्भ मन से है। बौद्ध दर्शन में समुत्थान कारण को प्रमुखता देकर ही यह कहा गया है कि चेतना ही कर्म है।[६६]

भगवान् बुद्ध ने कर्म के दो भेद बतलाये हैं- चेतना कर्म और चेतयित्वा कर्म।[६७] इसमें चेतना मानसिक कर्म है और चेतना से उत्पन्न होने के कारण शेष दोनों वाचिक और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायिक कर्म चेतयित्वा कर्म कहे गये हैं।[६८] ये शुभ तथा अशुभ या कुशल और अकुशल दोनों हो सकते हैं।

कुशल कर्म – *अभिधम्मत्थसंगहो* में – १. श्रद्धा २. अप्रमत्तता यानी स्मृति ३. पाप–कर्म के प्रति लज्जा ४. पाप–कर्म के प्रति भय ५. अलोभ यानी त्याग ६. अद्वेष अर्थात् मैत्री ७. समभाव ८. शरीर का हलकापन ९. मन की मृदुता १०. शरीर की मृदुता ११. मन की सरलता, शरीर की सरलता आदि को कुशल चैतसिक कर्म कहा गया है।[६९]

अकुशल कर्म – कायिक, वाचिक और मानसिक आधार पर दस प्रकार के पापों या अकुशल कर्मों[७०] का वर्णन बौद्ध साहित्य में मिलता है–

१. प्राणातिपात–हिंसा, २. अदत्तादान–चोरी, ३. कामेसुमिच्छाचार–कामभोग सम्बन्धी दुराचार, ४. मृषावाद–असत्य भाषण, ५. पिसुनावाचा–पिशुन वचन, ६. फरुसावाचा–कठोर वचन, ७. सम्फलाप–व्यर्थ आलाप, ८. अभिज्जा–लोभ, ९. व्यापाद–मानसिक हिंसा या अहित चिन्तन, १०. मिच्छादिट्ठी–मिथ्या दृष्टिकोण।

इस प्रकार बौद्ध परम्परा के कर्म सिद्धान्त में कर्म शब्द का अर्थ क्रिया की अपेक्षा ज्यादा विस्तृत है। उसमें क्रिया, क्रिया के उद्देश्य और उसके फल–विपाक तीनों ही सन्निहित हैं। जैसा कि आचार्य नरेन्द्रदेव ने भी लिखा है कि केवल चेतना (आशय) और कर्म ही सकल कर्म नहीं हैं। कर्म के परिणाम का भी विचार करना होगा।[७१]

कर्मों की अवस्था

कर्म की अवस्थाओं का निरूपण करते हुए उसके चार प्रकार बताये गये हैं-

१. जनक— यह कर्म दूसरा जन्म करवाने में सहायक होता है। २. उपस्थम्भक— यह दूसरे कर्म का फल देने में सहायक होता है। उपपीलक— यह दूसरे कर्म की शक्ति को क्षीण करता है। उपघातक— यह दूसरे कर्म का विपाक रोककर अपना फल देता है। *महाकर्म विभंग* में भी कर्म एवं उसके फल देने की योग्यता पर विचार किया गया है। कर्म की कृत्यता और उपचितता के सम्बन्ध को लेकर कर्म का चतुर्विध वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है[७२], जो इस प्रकार है-

१. कृत नहीं, पर उपचति— इसके अन्तर्गत वे कर्म आते हैं जो कार्य रूप में परिणत नहीं हो पाते, किन्तु वासनाओं के तीव्र आवेग में आकर कर्म-संकल्प ले लिये गये हों। यथा– किसी व्यक्ति ने क्रोध के वशीभूत होकर किसी को मारने का संकल्प ले लिया हो, लेकिन वह उसे कार्यान्वित न किया हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. कृत व उपचित— इसके अन्तर्गत वे सभी कर्म आ जाते हैं जो संकल्पपूर्वक किये जाते हैं।

३. कृत, पर उपचित नहीं— इसके अन्तर्गत वे कर्म आते हैं जो संकल्पपूर्वक नहीं किये जाते या जो सहसाकृत, भ्रान्तिवश हो जाते हैं, वे उपचित नहीं होते।

४. न कृत न उपचित— इसके अन्तर्गत स्वप्नावस्था में किये गये कर्म आते हैं।

कर्म-फल

बौद्ध दर्शन में कर्म-फल के संक्रमण की धारणा स्वीकार की गयी है। कहा गया है– यद्यपि कर्म (फल) का विप्रणाश नहीं होता, तथापि कर्म-फल का समतिक्रम (संक्रमण) हो सकता है।[७३] विपच्यमान कर्मों का समतिक्रम (संक्रमण) हो सकता है। विपच्यमान कर्म वे होते हैं जिनको बदला जा सकता है अर्थात् जिनका समतिक्रमण (संक्रमण) हो सकता है, यद्यपि फल भोग अनिवार्य है।[७४] आचार्य नरेन्द्रदेव भी बौद्ध दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि कर्म स्वकीय है, जो कर्म करता है वही (सन्तान-प्रवाह की अपेक्षा से) उसका फल भोगता है।[७५] कर्मफल की नित्यता एवं अनित्यता पर विचार करते हुए आचार्य *नागार्जुन* का कहना है कि यदि कर्म परिपक्व होकर फल देने के समय तक बना रहता है तो वह नित्य होगा, अनित्य नहीं और यदि कर्मफल देने के समय तक समाप्त हो जाता है, तो वह फल नहीं देगा। इस प्रकार यदि हम कर्म को नित्य मानते हैं तो वह असंस्कृत होगा, जो कभी समाप्त नहीं होता और न कभी फल ही देता है। और, यदि उसे संस्कृत मानते हैं तो वह परिपक्व होकर फल नहीं देगा। अत: यह प्रतीत होता है कि कर्मफल का स्वभाव निश्चित नहीं। *नागार्जुन* का कहना है कि कर्म तो नि:स्वभाव है। नि:स्वभाव वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती वह अनुत्पन्न होता है और अनुत्पन्न का विनाश नहीं होता।[७६] यदि हम कर्म को नि:स्वभाव नहीं सस्वभाव मानते हैं, तो हमें उसे शाश्वत मानना पड़ेगा।[७७] जैसा सर्वविदित है कि शाश्वत की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वह नित्य होता है और नित्य अकृत होता है। अत: नित्य, अकृत, अकारण होता है। यहाँ *नागार्जुन* का मानना है कि अकारण कर्म का फल या बिना किए हुए कर्म का फल तो 'अकृत्याभ्यागत' दोष है।[७८] इस प्रकार यदि अकारण, अकृत या नित्य कर्म को स्वीकार कर लिया जाता है तो यह भी स्वीकार करना होगा कि बिना किये कर्म का फल मिलता रहेगा। हमें फल के लिए शुभ-अशुभ कर्म की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। फलत: निर्वाण की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति भी बिना ब्रह्मचर्य का निर्वाह किये ही अपने को कृतकृत्य समझेगा। अत: कर्म नि:स्वभाव है। अब प्रश्न उठता है कि यदि कर्म ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नि:स्वभाव है तो कर्म करनेवाले शरीर का भी स्वभाव नहीं होगा,[७९] क्योंकि शरीर को कर्म-क्लेश का कर्ता कहा जाता है। जब कर्म-क्लेश ही नि:स्वभाव है तो शरीर भी नि:स्वभाव होगा। अत: *नागार्जुन* का कहना है कि क्लेश, कर्म, कर्ता और कर्मफल सभी स्वप्न, मृगमरीचिका, गन्धर्व-नगर के समान अस्तित्वविहीन है।[८०]

यद्यपि आचार्य *नागार्जुन* ने कर्म-फल की परीक्षा करके यह प्रमाणित किया है कि यह एक मृगमरीचिका है तथापि यह अस्तित्वविहीन है। परन्तु इस बात से नकारा भी नहीं जा सकता कि भगवान् *बुद्ध* ने कर्म की सत्ता को स्वीकार नहीं किया है। *सुत्तनिपात* में स्वयं *बुद्ध* ने कहा है- किसी का कर्म नष्ट नहीं होता। कर्ता उसे प्राप्त करता ही है। पाप कर्म करनेवाला परलोक में अपने को दु:खों में पड़ा पाता है। संसार कर्म से चलता है, प्रजा कर्म से चलती है। रथ का चक्का जिस प्रकार से बँधा रहता है उसी प्रकार प्राणी कर्म से बँधे रहते हैं।[८१] इसी को आचार्य नरेन्द्रदेव निम्न रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं- जीव-लोक और भाजन-लोक (विश्व) की विचित्रता ईश्वरकृत नहीं है। कोई ईश्वर नहीं है जिसने बुद्धिपूर्वक इसकी रचना की हो। लोकवैचित्र्य कर्मज है, यह सत्वों के कर्म से उत्पन्न होता है।[८२] जिससे यह प्रतीत होता है कि भगवान् *बुद्ध* ने कर्मवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। जिसका स्पष्ट वर्णन *मज्झिमनिकाय* में मिलता है- एक बार शुभ माणवक ने भगवान् *बुद्ध* से प्रश्न किया, हे *गौतम!* क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है कि मनुष्य होते हुए भी मनुष्य रूपवाले में हीनता और उत्तमता दिखाई पड़ती है? हे *गौतम!* यहाँ मनुष्य अल्पायु देखने में भी आते हैं और दीर्घायु भी, बहुरोगी भी, अल्परोगी भी, कुरूप भी, रूपवान भी, दरिद्र भी, धनवान भी, निर्बुद्धि भी, प्रज्ञावान भी? हे *गौतम!* क्या कारण है कि प्राणियों में इतनी हीनता और प्रवीणता दिखाई पड़ती है? इसका उत्तर देते हुए भगवान् *बुद्ध* ने कहा- हे माणवक! प्राणी कर्म स्वयं (कर्म ही जिनका अपना), कर्म-दायाद, कर्म योनि, कर्मबन्धु और प्रतिशरण है। कर्म ही प्राणियों को इस हीनता और उत्तमता में विभक्त करता है।[८३]

अत: कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म-दर्शन में कर्म को चैतसिक प्रत्यय के रूप में स्वीकार किया गया है और यह माना गया है कि कर्म के कारण ही आचार, विचार एवं स्वरूप की यह विविधता है। परन्तु, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बौद्ध-परम्परा में कर्म अपना किस प्रकार कार्य करता है और इसका काल स्वभाव से क्या सम्बन्ध है इसका विस्तृत विवेचन नहीं मिलता।

यद्यपि जहाँ तक तत्त्वमीमांसा की बात है तो जैन दर्शन तत्त्वमीमांसा से चलकर आचारमीमांसा पर आता है और बौद्ध दर्शन आचारमीमांसा से चलकर तत्त्वमीमांसा पर जाता है। बौद्ध दर्शन में तत्त्वमीमांसा को उतना महत्त्व नहीं दिया गया है जितना कि जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन में दिया गया है। जैन दर्शन में तत्त्वमीमांसा उसका आधार स्वरूप है, जबकि बौद्ध दर्शन में आचारमीमांसा के परिणामस्वरूप तत्त्वमीमांसा उपस्थित होती है जिसे महात्मा बुद्ध के बाद के बौद्धाचार्यों ने महत्त्व दिया है। परन्तु दोनों ही दर्शनों में बन्धन और मोक्ष महत्त्वपूर्ण पक्ष के रूप में स्वीकार किये गये हैं और मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति के लिए योग को महत्त्व दिया गया है। जैन दर्शन में योग सम्यक्-चारित्र के अन्तर्गत प्रतिष्ठित है, जबकि बौद्ध दर्शन में सम्यक्-समाधि के रूप में अष्टांगिक मार्ग में मान्य है।

इस प्रकार जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं में योग की तत्त्वमीमांसीय व्याख्या के क्रम में चैत्तसिक एवं अचैत्तसिक सत्ताओं के सम्बन्ध की बात की गयी है। जैन परम्परा में जीव और अजीव ये दोनों मूल तत्त्व माने गये हैं। इन दोनों में जब सम्बन्ध होता है तब दु:ख-सुख भोग की अनादि परम्परा का प्रारम्भ होता है। यह परम्परा तब तक अविछिन्न रूप से प्रवाहमान रहती है जब तक कि ये दोनों पुन: अपने मूल रूप में न आ जायें। चैत्तसिक (जीव) तत्त्व को संसाराभिमुख होने में कर्मपुद्गल (अजीव) तत्त्व का सहयोग मिलता है और आस्रव-द्वार को संवर रूपी कपाट से बंदकर, कर्मों को निर्जरित कर जीव शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है। बौद्ध परम्परा में दु:ख का कारण अविधा को माना गया है। अविद्या के कारण संस्कार तथा जन्म-जरा-मरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इन सब से मुक्ति पाने के लिए अष्टांगिक मार्ग का विधान मिलता है।

सन्दर्भ

१. यावज्जीवेत सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:।।
२. आचारांग, १/४/१/१३२
३. भारतीय दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त, डॉ० बी०एन० सिन्हा, पृष्ठ-११८
४. चूलमालुंक्य सुत्त, ६३, मज्झिमनिकाय (अनु०) पृ०-२५३-५५
५. पोट्ठपाद सुत्त, १/९, दीघनिकाय, पृ०-७१
६. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। तत्त्वार्थसूत्र,५/२९
७. गुणपर्यायवद् द्रव्यम् । वही, ५/३७
८. तद्भावाव्ययं नित्यम् । वही, ५/३०
९. अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं।
गुणवं च सपज्जायं, जं तं दव्वं तिवुच्चंति।। प्रवचनसार, २/९५
१०. अविसेसिए दव्वे, विसेसिए जीव दव्वे य। अनुयोगद्वारसूत्र, १२३
११. जैन धर्म-दर्शन, डॉ० मोहनलाल मेहता, पृ०-१२०
१२. विसेसिए जीवदव्वे अजीव दव्वे य। अनुयोगद्वारसूत्र, १२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. जैन धर्म-दर्शन डा० मोहनलाल मेहता, पृ०- १३९
१४. उवयोगो लक्षणम् । तत्त्वार्थसूत्र, २/८
१५. स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः । तत्त्वार्थसूत्र, २/९
१६. णाणुवओगो दुविहो, सहावणाणं विहावणाणं ति। नियमसार, १०
१७. औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च । तत्त्वार्थसूत्र, २/१
१८. संसारिणो मुक्ताश्च। तत्त्वार्थसूत्र, २/१०
१९. आत्म रहस्य, रतनलाल जैन, पृ०-३०
२०. जैन दर्शन मनन और मीमांसा, मुनि नथमल, पृ०-२५२
२१. संसारिणस्त्रसस्थावराः। तत्त्वार्थसूत्र, २/१२
२२. स्याद्वादमंजरी, २९
२३. तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलाल संधवी), पृ०- ६७
२४. प्रमाता प्रत्यक्षादि प्रसिद्ध आत्मा।
चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्त्ता साक्षात् भोक्ता स्वदेह- परिमाणः प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौदगलिकादृष्टवांश्चायम् । प्रमाणनयतत्त्वालोक- ७/५५-५६
२५. विशेषावश्यकभाष्य, १५५७।
२६. न्यायसूत्र, १/१/९
२७. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५/१/१९
२८. नियमसार, ३०
२९. आकाशस्यावगाहः। तत्त्वार्थसूत्र , ५/१८
३०. पूरणगलनान्वर्थसंज्ञात्वात् पुद्गलाः । तत्वार्थराजवार्तिक , ५/१/२४
३१. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः । तत्त्वार्थसूत्र , ५/२३
३२. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा, ६०६-६०८ ।
३३. तत्त्वार्थ सूत्र, पृ०- ७१
३४. तत्त्वार्थसूत्र, २/३८
३५. वही, २/३९-४४
३६. आचारांगसूत्र, ३/१/१०८, व्याख्याप्रज्ञप्ति, १२/५/३७
३७. जैन धर्म-दर्शन, डॉ० मोहनलाल मेहता, पृ०- ४४५
३८. जैन दर्शनः मनन और मीमांसा, मुनि नथमल, पृ०- २७८
३९. स्थानांगसूत्र, ४/९२
४०. Studies in Jaina Phiosophy p. 254
४१. जैन दर्शनः मनन और मीमांसा, मुनि नथमल, पृ०- ३०१
४२. दीघनिकाय (महापरिनिब्बानसुत्तं), २/३
४३. उर्णापक्ष्म यथैव हि करतलसंस्थं न वेद्यते पुम्भिः।
अक्षिगतं तु तथैव हि जनयत्यरतिं च पीडां च।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करतलसदृशो बालों न वेत्ति संस्कारदुःखतापक्ष्म।
अक्षि सदृशस्तु विद्वांस्तेनैवोद्वेज्यते गाढ़मि् ति ।। अभिधर्मकोशभाष्य, पृ०-३२९

४४. यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्युहं - रोगो, रोगहेतुः आरोग्यं, भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्युहम् तद् यथा संसारः संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपाय इति। - व्यासभाष्य २/१५

४५. बौद्ध दर्शन-मीमांसा, पृ०-४७

४६. इदं खो पन भिक्खवे दुक्खं अरियसच्चं। जाति पि दुक्खा, जरा पि दुक्खा, मरणं पि दुक्खं, सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा पि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो पि दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तं पि दुक्खं, संख्यित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धा दुक्खा। मज्झिमनिकाय भाग १ पृ०-६५

४७. को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति। धम्मपद, १४६

४८. इदं खो पन भिक्खवे दुक्खसमुदयं अरियसच्चं । यायं तण्हा पोनोब्भविका नन्दीरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी, सेय्यथी कामतण्हा भवतण्हा विभवतण्हा । मज्झिमनिकाय, भाग-१, पृ०-६५

४९. अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादयमुतपद्यते इति इदं प्रत्ययार्थः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः। माध्यमिकवृत्ति, पृ०- ९, उद्धृत -बौद्ध- दर्शन-मीमांसा, पृ.- ६०

५०. उद्धृत-भारतीय दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त, पृ०-१२५

५१. कस्मा पनेत्थ अविज्जा आदितो वुत्ता? किं प तिवादीनं पकति विय अविज्जापि अकारणं मूलकारणं लोकास्साति? न अकारणं । आसव समुदया अविज्जा समुदयो ति हि अविज्जाय करण बुत्तं। विसुद्धिमग्ग, १७/३६, उद्धृत-बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ०-३९२

५२. मज्झिमनिकाय (मूलपरियाय सुत्त), १/१/१

५३. चुलसच्चकसुत्त, मज्झिमनिकाय, १/४/५

५४. भारतीय दर्शन, सिंह एवं सिंह, पृ०-२१५

५५. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ०-६९

५६. मिलिन्दप्रश्न (हिन्दी) पृ०-३१-३४

५७. संयुक्तनिकाय, १२,१६, १२-२४

५८. धम्मपद- ६१

५९. न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्जे न पव्वतानं विवरं पविस्स ।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो यत्थाट्ठितो मुञ्चेय्य पापकम्मा।। वही, १२७

६०. अत्तना व कतं पापं अत्तजं अतसम्भवं ।
अभिमन्थति दुम्मेधं वजिरं वस्ममयं मणि ।। वही, १६१

६१. भारतीय दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त - पृ०-१३३

६२. अस्मिन् सति इदं भवति, अस्मिन् असति इदं न भवति। विसुद्धिमग्गो, १७/११

६३. यो हि भावः क्षणस्थायी विनाश इति गीयते। तत्त्वसंग्रह, ३७५

६४. उत्पादानन्तरास्थायि स्वरूपं यच्च वस्तुनः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदुच्यते क्षण: सोऽस्ति यस्य तत् क्षणिकं मतम् ।।
असत्यप्यर्थभेदे च सोऽस्त्यस्येति न बाध्यते।
इच्छारचितसंकेतमात्रभावि हि वाचकम् ।। तत्त्वसंग्रह, ३८८-३८९

६५. अंगुत्तरनिकाय- उद्धृत, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ०-४६३
६६. जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० सागरमल जैन, पृ०-१०
६७. तत्र यच्चेतनेत्युक्तं कर्म तं मानस स्मृतम् ।
चेतयित्वा च यत्तूक्तं तत् कायिक कायम् ।। माध्यमिककारिका (नागार्जुन), १७/३
६८. बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ०-२५०
६९. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग-१. पृ०- ४७
७०. वही, पृ०-४८०
७१. बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ०-२५५
७२. Development of moral philosophy in India, Suranma Dasgupta P-167-174
७३. बौद्ध धर्मदर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ०-२७५
७४. जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ०-२७
७५. बौद्ध धर्मदर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ०-२७७
७६. कर्मनोत्पद्यते कस्मात् नि:स्वभावं यतस्तत: ।
यस्माच्च तदनुत्पन्नं न तस्माद्धिप्रणश्यति ।। माध्यमिककारिका, १७/२१
७७. तिष्ठत्यापाककालाच्चेत् कर्म तन्नित्यतामियात् ।
निरुद्धं चेन् निरुद्धं सत् कि फलं जनयिष्यति ।। वही, १७/६
७८. अकृताभ्यागममयं स्याकर्माकृतकं यदि ।
अब्रह्मचर्य वासश्च दोषस्तत्र प्रसत्यते ।। वही, १७/२३
७९. कर्मक्लेशाश्च देहानां प्रत्यया: समुदाहता: ।
कर्मक्लेशाश्च ते शून्या यदि देहेषु का कथा ।। वही, १७/२७
८०. क्लेशा: कर्माणि देहाश्च कर्त्तारश्च फलानि च ।
गन्धर्वनगराकारा मरीचिस्वप्न संनिमा ।।वही, १७/३३
८१. सुत्तनिपात वासेट्ठ सुत्त, ६०-६१
८२. बौद्ध धर्मदर्शन, पृ०- २५०
८३. मज्झिमनिकाय, ३/४/५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचम अध्याय

योग-साधना का आचार पक्ष

योग-साधना का आधार आचार होता है, क्योंकि आचार से ही साधक के संयम में वृद्धि होती है, समता का विकास होता है। फलतः साधक आध्यात्मिक उँचाईयों को छू पाता है। योग के लिए आचार एक आवश्यक अंग है। हमारी भारतीय परम्परा में यह कहा गया है कि व्यक्ति का जैसा आचार होता है वैसा ही उसका विचार भी होता है। आचार और विचार दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, इसलिए इन दोनों के परिपालन से ही सम्यक् चारित्र का उत्कर्ष होता है। लेकिन जब तक मन वासनाओं से निवृत्त नहीं हो जाता तब तक न चित्त स्थिर हो सकता है, न धर्मध्यान हो सकता है और न योग ही सध सकता है। मन के कारण ही इन्द्रियाँ चंचल होती हैं, रोगादि प्रकृतियों की वृद्धि होती है तथा कर्म-प्रकृतियों का बन्धन होता है। चंचल मन को सर्वथा स्थिर करना योग का प्रथम कार्य है, क्योंकि चंचल मन द्वारा किया गया कार्य चाहे पुण्य प्रकृति का हो या पाप प्रकृति का हो, दोनों मे ही संसार बन्धन होता है। इसलिए वासनाओं से विमुक्ति तथा ब्रह्मचर्य को योग में आवश्यक माना गया है। अतः सम्यक्-योग-साधना के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है—चित्त की शुद्धता।

जैन परम्परा

जैन परम्परा में सम्यक्-चारित्र को योग-साधना का मूल आधार माना गया है। *योगशास्त्र* में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र को मोक्ष का कारण माना गया है।[१] इनमें चारित्र का स्थान प्रमुख है, क्योंकि चारित्र ज्ञान और दर्शन की सिद्धि का कारण है।[२] सम्यक्-चारित्र के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि संसार के कारणभूत रागद्वेषादि की निवृत्ति के लिए कृत संकल्प विवेकी पुरुष का काय और वचन की बाह्य क्रियाओं से एवं आभ्यन्तर मानस क्रियाओं से विरक्त होकर स्वरूपावस्थिति प्राप्त करना सम्यक्-चारित्र है।[३] चारित्र की दृढ़ता एवं सम्पन्नता के लिए जैन दर्शन मे विभिन्न व्रतों, क्रियाओं, विधियों, नियमों-उपनियमों का विधान किया गया है जिसके अन्तर्गत तप, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि प्रमुख हैं। परन्तु ध्यान का स्थिरीकरण मन की स्थिरता पर निर्भर करता है। जिस साधक ने मन को अपने अधीन कर लिया उसके लिए संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जिसे वश में नही किया जा सके।[४] अतः मन को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वश में करना ही सम्यग्योग का प्रथम सोपान है। कहा भी गया है मन की समाधि योग का हेतु तथा तप का निदान है, क्योंकि मन को केन्द्रित करने के लिए तप आवश्यक है, तप शिवशर्म का, मोक्ष का मूल कारण है।[५]

ध्यान और मन का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। ध्यान का स्थिरीकरण मन की स्थिरता पर ही निर्भर करता है। आचार्य *हेमचन्द्र* ने मन की चार अवस्थाओं का वर्णन किया है- १. विक्षिप्त मन २. यातायात मन ३. श्लिष्टमन और ४. सुलीन मन।[६]

प्रथम दो अवस्थाओं में अर्थात् विक्षिप्त और यातायात में मन स्वभाव से चंचल होता है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि प्रथम अवस्था में चंचलता अधिक होती है और द्वितीय अवस्था में चंचलता प्रथमावस्था की अपेक्षा थोड़ी कम होती है। अत: इन दोनों की शान्ति के लिए अभ्यास आवश्यक है। इसी प्रकार श्लिष्ट मन की अवस्था यातायात के बाद प्रारम्भ होती है। श्लिष्ट अवस्था में मन का निरोध होने से चित्तवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं तथा साधक को आन्तरिक शक्ति का आभास होने लगता है। सुलीनावस्था में साधक आत्मलीन हो जाता है तथा उसे परमानन्द की स्वानुभूति होने लगती है।[७]

मन या चित्तशुद्धि के उपाय

जैन ग्रन्थ *षोडशक* में चित्तशुद्धि के पाँच प्रकारों[८] का वर्णन आया है। चित्तशुद्धि के बिना साधक साधना में संलग्न हो ही नहीं सकता। अत: योग-साधना के आधारभूत तत्त्व के रूप में चित्तशुद्धि की आवश्यकता पर बल दिया गया है। चित्तशुद्धि के पाँच प्रकार हैं-

प्रणिधान – आचार-विचार को संतुलित रखते हुए निम्न कोटि के जीवों के प्रति राग-द्वेष की भावना का न रखना प्रणिधान कहलाता है।

प्रवृत्ति – निर्दिष्ट व्रत-नियमों या अनुष्ठानों का एकाग्रतापूर्वक सम्यक् पालन करना प्रवृत्ति है।

विघ्नजय – यम-नियम आदि का पालन करते समय उपस्थित बाह्य एवं आन्तरिक कठिनाईयों पर विजय प्राप्त करना विघ्नजय कहलाता है। दूसरी भाषा में कह सकते हैं कि योग-साधना के दौरान आनेवाले विघ्नों पर विजय पाना विघ्न-जय है।

सिद्धि – सिद्धि अवस्था में साधक को सम्यक्-दर्शनादि की प्राप्ति होती है और वह आत्मानुभव में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं करता। कषाय से उत्पन्न उसकी सारी चंचलता नष्ट हो जाती है और वह निम्नवर्ती जीवों के प्रति दया, आदर-सत्कार आदि का ख्याल रखने लगता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनियोग – इस अवस्था में साधक में धार्मिक वृत्तियों की क्षमता आ जाती है तथा निरन्तर आत्मिक विकास होने लगता है। फलतः साधक मे परोपकार, कल्याण आदि भावनाओं की वृद्धि होती है। वृद्धि की यही अवस्था विनियोग[९] कहलाती है।

इनके अतिरिक्त विभिन्न व्रतों, क्रियाओं, विधियों, नियमों-उपनियमों आदि का विधान किया गया है जिनमें, आसन, प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार, ध्यान आदि प्रमुख माने गये हैं। कहा भी गया है कि ध्यानादि उत्तरोत्तर चित्त की शुद्धि करते हैं इसलिए ये चारित्र ही है।[१०]

जैन परम्परा दो प्रकार की आचारसंहिताओं का विधान करती है- एक श्रावकों की और दूसरी श्रमणों की, क्योंकि दोनों की साधना-भूमि अथवा जीवन-व्यवहार अलग-अलग हैं। मुनि जहाँ बाह्य एवं आभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्यागी होता है वहीं श्रावक कुछ परिग्रहों का त्यागी होता है। इसलिए दोनों के लिए अलग-अलग आचार का विधान किया गया है। श्रमणों की तुलना में श्रावकों को परिस्थिति एवं काल की अपेक्षा से मर्यादित व्रत-नियमों का पालन करना पड़ता है, फिर भी योग-साधना के लिए उसे पूरी छूट है। मुनि या श्रमण तो पूर्ण विरक्त या गृहत्यागी होते हैं जिससे वे योग-साधना करने में सक्षम होते हैं,लेकिन एक श्रावक के सर्वत्यागी बनने में शंका उपस्थित होती है, क्योंकि जीवकोपार्जन के लिए उसे विविध उद्योग आदि का आलम्बन लेना पड़ता है। ऐसे तो श्रमण की भाँति वह भी सम्पूर्ण परिग्रह से मुक्त होकर योग-साधना में संलग्न हो सकता है। इन्हीं दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए जैन परम्परा में दो आचार संहिताओं का विधान किया गया है। एक का नाम है श्रावकाचार तो दूसरे का नाम है श्रमणाचार।

श्रावकों की आचार-संहिता

जैनागमों में श्रावक के लिए विभिन्न शब्दों के प्रयोग देखने को मिलते हैं, यथा- देशसंयमी, गृहस्थ, श्राद्ध ,उपासक, अणुव्रती, देशविरत, आगारी आदि।[११] श्रावकों के प्रकारों को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कोई श्रावक के दो भेद को मानते हैं, तो कोई तीन और कोई चार। जैसे *धर्मामृत* में श्रावक के तीन प्रकार बताये गये हैं १- पाक्षिक—जो निर्ग्रन्थ धर्म में श्रद्धा रखता है। २. नैष्ठिक—जो श्रावक धर्म का पालन करता है और ३. साधक—जो आत्मध्यान में लीन रहता हुआ संलेखना लेता है।[१२] *चारित्रसार* में श्रावक को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[१३] इसी प्रकार *धर्मबिन्दु* में आचार्य *हरिभद्र* ने सामान्य-विशेष के रूप में श्रावक के दो भेद बताये हैं।[१४]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावक-धर्म के विषय में भी मतैक्यता नहीं है। डॉ० मोहनलाल मेहता ने अपनी पुस्तक जैन आचार में उल्लेख किया है कि *उपासकदशांग, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डक-श्रावकाचार* आदि में संलेखना सहित बारह व्रतों के आधार पर श्रावक-धर्म का प्रतिपादन किया गया है। वहीं आचार्य *कुन्दकुन्द* ने *चारित्र प्राभृत* में, *स्वामीकार्तिकेय* ने *द्वादशानुप्रेक्षा* में एवं आचार्य *वसुनन्दि* ने *वसुनन्दिश्रावकाचार* में ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर श्रावक-धर्म का निरूपण किया है।[१५]

श्रावक के बारह व्रत

योगशास्त्र में श्रावक के बारह व्रत इस प्रकार कहे गये हैं- पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत।[१६] आचार्य *कुन्दकुन्द* ने ग्यारह प्रतिमाओं के साथ ही बारह व्रतों का उल्लेख किया है।[१७] परन्तु कहीं-कहीं पाँच अणुव्रतों को मूलगुण मानते हुए मद्य, माँस एवं मधु का त्याग भी मूलगुण के अन्तर्गत रखा गया है।[१८]

अणुव्रत

जिस प्रकार सर्वविरत श्रमण के लिए पाँच महाव्रत का विधान किया गया है, उसी प्रकार श्रावक के लिए पाँच अणुव्रतों का विधान है। कहा जा सकता है कि जैसे महाव्रतों के अभाव में श्रमण का श्रामण्य निर्जीव-सा प्रतीत होता है, वैसे ही अणुव्रतों के अभाव में श्रावक का श्रावकत्व निष्प्राण लगता है। यही कारण है कि अणुव्रतों को श्रावक का मूलगुण कहा गया है। महाव्रतों का पालन तीन योग अर्थात् मन, वचन, कर्म तथा तीन करण यानी करना, करवाना और अनुमोदन करना, से पालन किया जाता है,[१९] जबकि अणुव्रतों का पालन तीन योग तथा दो कारण (करना और करवाना) से किया जाता है।[२०] श्रावक के मूलगुण रूपी पाँच अणुव्रत इस प्रकार हैं-

स्थूल प्राणातिपात-विरमण

गृहस्थ साधक स्थूल हिंसा अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा से विरत होता है। इसीलिए इस अणुव्रत का नाम स्थूल प्राणातिपात विरमण रखा गया है।[२१] इसे अहिंसाणुव्रत भी कहा जाता है। जैसा कि *उपासकदशांग* में कहा गया है कि मैं किसी भी निरपराध-निर्दोष स्थूल त्रस प्राणी की जान-बूझकर संकल्पूर्वक मन, वचन और कर्म से न तो स्वयं हिंसा करुँगा और न करवाउँगा।[२२]

जैन परम्परा में प्राणी दो प्रकार के माने गये हैं-स्थूल और सूक्ष्म। चूँकि सूक्ष्म प्राणी चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते, अत: गृहस्थ साधक को मात्र स्थूल प्राणियों की हिंसा से बचने का विधान है। ऐसे जैन तत्त्वज्ञान में प्राणियों के त्रस एवं स्थावर दो वर्गीकरण किये गये हैं। त्रस के अन्तर्गत वे प्राणी आते हैं जो स्वेच्छानुसार गति का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामर्थ्य रखते हैं तथा स्थावर की श्रेणी में वे जीव आते हैं जो स्वेच्छानुसार गति का सामर्थ्य नहीं रखते। यथा–पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति। यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि गृहस्थ साधक को केवल त्रस जीवों की हिंसा से ही विरत रहने का विधान क्यों है? जबकि श्रमण साधक के लिए त्रस एवं स्थावर दोनों प्रकार के प्राणियों की हिंसा से विरत रहने को कहा गया है। इसके उत्तरस्वरूप यह कहा जा सकता है कि गृहस्थ साधक आजीविकादि के उपार्जन में एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की हिंसा से बच नहीं सकता। व्रतों के पालन में उसे जो छूट दी गयी है उसका अभिप्राय यही है कि वह अपने गृहस्थ जीवन-चर्या का भली-भाँति निर्वहन कर सके। तात्पर्य है गृहस्थ साधक के लिए स्थावर जीवों की हिंसा का सर्वथा निषेध नहीं किया है और आवश्यक भी नहीं है। वह साधक पर निर्भर करता है। आचार्य *हेमचन्द्र* ने कहा है - अहिंसा धर्म का ज्ञाता और मुक्ति का अभिलाषी श्रावक स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा नहीं करे।[२३] लेकिन संकल्प के अभाव में आजीविका के लिए व्यापार एवं जीवनरक्षण के क्षेत्र में होनेवाली हिंसा से उसका व्रत दूषित नहीं होता है, क्योंकि व्यावसायिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में साधक संकल्पपूर्वक त्रस प्राणियों की हिंसा से विरत तो होता है, किन्तु क्रियाओं के सम्पादन में सावधानी रखते हुए भी अज्ञानवश त्रसादि प्राणियों कि हिंसा हो भी जाती है तो उस हिंसा से साधक का व्रत दूषित नहीं होता है।[२४]

श्रावक द्वारा सावधानीपूर्वक व्रत का पालन करते हुए भी कभी-कभी प्रमादवश दोष लगने की संभावना रहती है, अतः निम्नलिखित दोषों से साधक को बचना चाहिए।[२५]

१. बन्ध – किसी भी त्रस प्राणी को कठिन बन्धन से बाँधना या उसे किसी भी इष्ट स्थान पर जाने से रोकना, अपने अधीनस्थ व्यक्तियों को निश्चित समय से अधिक काल तक रोकना, उनसे निर्दिष्ट समय के उपरान्त कार्य लेना आदि बन्ध है।

२. वध – किसी भी प्राणी को मारना वध है। इनके अतिरिक्त निर्दयतापूर्वक क्रोध में अपने आश्रित किसी भी व्यक्ति को मारना-पीटना, गाय, भैंस, घोड़ा, बैल आदि को लकड़ी, चाबुक पत्थर आदि से मारना, किसी पर अनावश्यक अथवा अनुचित भार डालना, किसी की लाचारी का अनुचित लाभ उठाना, किसी का अनैतिक ढंग से शोषण कर अपनी स्वार्थपूर्ति करना आदि वध का ही रूप है।

३. छविच्छेद – किसी भी प्राणी का अंगोपांग काटना छविच्छेद कहलाता है। किसी के उचित पारिश्रमिक में न्यूनता करना, कम वेतन देना, कम मजदूरी देना आदि क्रियाएँ भी छविच्छेद की ही भाँति दोषयुक्त हैं।

४. अतिभार – प्राणियों पर आवश्यकता से अधिक और उसकी शक्ति से ज्यादा काम लेना या बोझा लाद देना अतिभार है। बैल, ऊँट, अश्व आदि पशुओं पर अथवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मजदूर, नौकर आदि मनुष्यों पर उनकी शक्ति से अधिक बोझा लाद देना अतिभार है।

५. अन्नपान निरोध – नौकर आदि को समय पर खाना न देना, पूरा खाना न देना, अपने पास संग्रह होने पर भी आवश्यकता के समय किसी की सहायता न करना, अपने अधीनस्थ पशुओं एवं मनुष्यों को पर्याप्त खाना आदि न देना अन्नपान निरोध कहलाता है।

स्थूल मृषावाद–विरमण

असत्य या झूठे व्यवहार का त्याग करना स्थूल मृषावाद है। जिस प्रकार हिंसा को न करना प्राणातिपात विरमण है और उससे साधक को बचना आवश्यक है, उसी प्रकार स्थूल मृषावाद से बचना भी शक्य है। *उपासकदशांग* में गृहस्थ साधक को असत्य से विरत होने हेतु प्रतिज्ञा करते हुए वर्णित किया गया है। कहा गया है कि मैं स्थूल मृषावाद का यावत् जीवन के लिए मन, वचन और काय से त्याग करता हूँ, मैं न स्वयं मृषा भाषण करूँगा न अन्य से करवाऊँगा।[२६] स्थूल मृषा से तात्पर्य है ऐसा झूठ जिस झूठ से समाज में प्रतिष्ठा न रहे, साथियों में प्रामाणिकता न मानी जाय, लोगों में अप्रीति हो, राजदण्ड का भागी होना पड़े– ऐसा झूठ नहीं बोलना चाहिए। झूठ के कारणों का उल्लेख करते हुए श्रावक प्रतिक्रमण में पाँच प्रकार के स्थूल मृषा का निरूपण किया गया है,[२७] जो इस प्रकार है-

१. पुत्र-पुत्रियों के विवाह के निमित्त सामनेवाले पक्ष के सम्मुख झूठी प्रशंसा करना-करवाना आदि।

२. पशु-पक्षियों के क्रय-विक्रय में मिथ्या प्रशंसा का आश्रय लेना।

३. भूमि के सम्बन्ध में झूठ बोलना-बोलवाना।

४. किसी की अमानत को दबाने के लिए झूठ का सहारा लेना।

५. झूठी गवाही देना-दिलवाना, रिश्वत खाना-खिलाना आदि।

इसी को आचार्य *हेमचन्द्र* ने कन्यालीक, गो-अलीक, भूमि-अलीक, न्यासापहार तथा कूट-साक्षी आदि रूप में निरूपित किया है और कहा है कि ये सभी लोकविरूद्ध हैं, विश्वासघात के जनक हैं तथा पुण्यनाशक हैं, इसलिए श्रावकों को स्थूल असत्य से बचना चाहिए।[२८] इसी प्रकार *पुरुषार्थसिद्धयुपाय*[२९] एवं *अमितगतिश्रावकाचार*[३०] में भी असत्य के चार प्रकार बताये गये हैं- १. सद्-आलापन २. असद्-आलापन ३. अर्थान्तर और ४. निंद्य। *उपासकाध्ययन* में असत्यासत्य, सत्यासत्य, सत्य-सत्य और असत्य-असत्य आदि चार प्रकारों का उल्लेख मिलता है।[३१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधक कितनी भी सावधानीपूर्वक स्थूल मृषावाद-विरमण का पालन करे, फिर भी दोषों की संभावना बनी रहती है। *उपासकदशांग*[३२] में इन्हीं दोषों से बचने का निर्देश किया गया है। ये पाँच प्रकार के हैं, इन्हें अतिचार कहते हैं-

१. **सहसा-अभ्याख्यान** – बिना सोचे समझे किसी पर झूठा आरोप लगा देना, किसी के प्रति लोगों में गलत धारणा पैदा करना, सज्जन को दुर्जन कहना आदि सहसा-अभ्याख्यान है।

२. **रहस्य-अभ्याख्यान** – किसी की गोपनीय बात को किसी अन्य के सामने प्रकट कर देना रहस्य- अभ्याख्यान कहलाता है।

३. **स्वदार अथवा स्वपतिमंत्रभेद** – पति-पत्नी की गुप्त बातों को किसी के सामने प्रकट कर देना स्वदार या स्वपतिमंत्रभेद कहलाता है।

४. **मृषा उपदेश** – किसी भी व्यक्ति को सच-झूठ समझाकर कुमार्ग की ओर प्रेरित करना मृषा-उपदेश है।

५. **कूट लेखकरण** – झूठे लेख लिखना, झूठे दस्तावेज तैयार करना, झूठे हस्ताक्षर करना, झूठे सिक्के तैयार करना आदि कूट लेखकरण अतिचार हैं।

साधक को उपर्युक्त अतिचारों से बचने का प्रयास करना चाहिए। मुनि सुशील कुमार जी के शब्दों में—यद्यपि स्थूल असत्य और सूक्ष्म असत्य की कोई निश्चित परिभाषा देना कठिन है, तथापि जिस असत्य को दुनिया असत्य मानती है, जिस असत्य भाषण से मनुष्य झूठा कहलाता है, जो लोक निन्दनीय और राजदण्डनीय है, वह असत्य स्थूल असत्य है, श्रावक ऐसे स्थूल भाषण का त्याग करता है। झूठी साक्षी देना, झूठा दस्तावेज लिखना, किसी की गुप्त बात प्रकट करना, चुगली करना, गलत रास्ते ले जाना, आत्मप्रशंसा और परनिन्दा करना आदि स्थूल मृषावाद में सम्मिलित है।[३३]

उपर्युक्त तथ्यों की चर्चा *उपासकदशांग* के अतिरिक्त *धर्मामृत*[३४] (सागार) *पुरुषार्थसिद्धयुपाय*[३५], *अमितगतिश्रावकाचार*[३६] *योगशास्त्र*,[३७], *धर्मबिन्दु*[३८] आदि में भी मिलती है।

स्थूल अदत्तादान विरमण

अदत्तादान का अर्थ ही होता है बिना दी हुई वस्तु (अदत्त) का ग्रहण (आदान)। श्रावक के लिए ऐसी चोरी का त्याग अनिवार्य है जिसके करने से राजदण्ड भोगना पड़े, समाज में अविश्वास उत्पन्न हो, प्रामाणिकता नष्ट हो, प्रतिष्ठा को धक्का लगे। किसी के घर आदि में सेंध लगाना, किसी की गाँठ काटना, किसी का ताला तोड़ना, किसी को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लूटना, किसी की चीज बिना पूछे उठाकर रख लेना, ठगना, किसी मिली हुई वस्तु का पता लगाने की कोशिश न करना या फिर चौर्यबुद्धि से किसी की वस्तु उठा लेना अथवा अपने पास रख लेना आदि चोरी के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार की चोरी का त्याग ही जैन आचारशास्त्र में स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत के नाम से प्रसिद्ध है। *योगशास्त्र* में कहा गया है कि बिना किसी की आज्ञा से किसी वस्तु को ले लेने पर मन में अशान्ति उत्पन्न हो जाती है, दिन-रात सोते-जागते चौर्यकर्म की चुभन होती रहती है।[३९] अत: अस्तेय व्रत की सुरक्षा के निमित्त साधक को उन्हें भी छोड़ देना चाहिए। *उपासकदशांग* में निम्नलिखित पाँच[४०] अतिचारों से बचने का निर्देश दिया गया है-

(१) **स्तेनाहृत** – चोरी की वस्तु खरीदना या बेचना स्तेनाहृत है।

(२) **तस्कर प्रयोग** – चोरी करने की प्रेरणा देना, चोर को सहायता देना, तस्कर को शरण देना आदि तस्कर प्रयोग कहलाता है।

(३) **राज्यादिविरुद्ध कर्म** – राजकीय नियमों का उल्लघंन करना राज्यादि विरुद्ध कर्म कहलाता है। यथा— अवैधानिक व्यापार करना, बिना अनुमति के परराज्य की सीमा में प्रवेश करना, निषिद्ध वस्तुएँ एक स्थान से दूसरे देश में ले जाना आदि। तात्पर्य है समाज के किसी भी हितकर नियम, जिससे प्रजा के हित का तिरस्कार होता है, का उल्लंघन करना राज्यादिविरुद्ध कर्म है।

(४) **कूट तोल-कूटमान**– वस्तु के लेन-देन में न्यून या अधिक का प्रयोग करना कूट तोल-कूटमान कहलाता है। माप-तौल में बेईमानी करना भी एक प्रकार की चोरी है, अत: श्रावक को माप-तौल में प्रामाणिकता का ध्यान रखना चाहिए।

(५) **तत्प्रतिरूपक व्यवहार** – वस्तुओं में मिलावट करना तत्प्रतिरूपक व्यवहार है। बहुमूल्य वस्तुओं में अमूल्य वस्तुओं को मिलाना, शुद्ध वस्तु में अशुद्ध वस्तु मिलाना, सुपथ्य वस्तु में कुपथ्य वस्तु मिलाना और इस प्रकार अनुचित लाभ उठाना श्रावक के लिए वर्जित है।

अत: श्रावक को इन सब अतिचारों से हमेशा बचना चाहिए। जैसा कि *प्रबोधसार* में कहा गया है कि अचौर्याणुव्रती श्रावक वही है जो दूसरे की तृणमात्र वस्तु को चुराने के अभिप्राय से न अपने लिए ग्रहण करता है और न दूसरों को देता है।[४१]

स्वदार संतोष विरमण

अपनी पत्नी के अतिरिक्त शेष समस्त स्त्रियों के साथ मैथुन सेवन का मन, वचन व कायपूर्वक त्याग करना स्वदार संतोष व्रत कहलाता है। *उपासकदशांग* में वर्णन आया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि मैं स्वपत्नी संतोषव्रत ग्रहण करता हूँ ... नामक पत्नी के अतिरिक्त अवशिष्ट मैथुन का त्याग करता हूँ।[४२] *अमितगति श्रावकाचार* में कहा गया है कि श्रावक अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों को माँ, बहन एवं बेटी के रूप में देखे।[४३] इन सबके अतिरिक्त और भी कई ग्रन्थों में इस व्रत का प्रतिपादन किया गया है। जैसे- *रत्नकरण्डक श्रावकाचार,*[४४] *सर्वार्थसिद्धि,*[४५] *पुरुषार्थसिद्धयुपाय,*[४६] *स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा,*[४७] *धर्मामृत*[४८] (सागार) आदि।

अन्य व्रतों की भाँति स्वदार संतोष के भी पाँच अतिचार बतलाये गये हैं, जिनसे श्रावक को बचना चाहिए[४९]

(१) **इत्वरिक-परिगृहीता गमन** – इत्वरिक का अर्थ होता है–अल्पकाल, परिग्रहण का अर्थ होता है–स्वीकार करना, गमन का अर्थ होता है–काम-भोग सेवन, अर्थात् अल्पकाल के लिए स्वीकार की गयी स्त्री के साथ काम-भोग का सेवन करना। श्रावक के लिए ऐसे मैथुन का निषेध किया गया है।

(२) **अपरिगृहीता गमन** – वह स्त्री जिस पर किसी प्रकार का अधिकार न हो अर्थात् वेश्या, कुल्टा, वियोगिनी आदि का उपभोग करना अपरिगृहीता गमन कहलाता है।

(३) **अनंगक्रीड़ा** – प्राकृतिक रूप से काम-वासनाओं की पूर्ति न करके अप्राकृतिक रूप से वासना की पूर्ति करना अनंगक्रीड़ा कहलाता है। यथा-हस्तमैथुन, समलैंगिक मैथुन, कृत्रिम साधनों द्वारा कामाचार का सेवन करना आदि।

(४) **पर विवाहकरण**– कन्यादान में पुण्य समझकर अथवा रागादि के कारण दूसरों के लिए लड़के-लड़कियाँ ढूँढ़ना, उनकी शादियाँ कराना आदि कर्म पर विवाहकरण अतिचार है। तात्पर्य यह है कि गृहस्थ साधक को स्वसंतान एवं परिजनों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के विवाह-सम्बन्ध कराने का निषेध है।

(५) **काम-भोग तीव्राभिलाषा** – कामरूप एवं भोगरूप विषयों में अत्यन्त आसक्ति रखना अर्थात् इनकी अत्यधिक आकांक्षा करना कामयोग तीव्राभिलाषा अतिचार है।

इच्छा-परिमाण

इच्छायें अनन्त हैं। इन अनन्त इच्छाओं की मर्यादा निर्धारित करना या नियंत्रित करना ही इच्छा-परिमाण है, अर्थात् गृहस्थ को परिग्रहासक्ति से बचने के लिए परिग्रह की सीमा रेखा निश्चित की गयी है। धन-धान्यादि के संग्रह से ममत्व घटाना अथवा लोभ कषाय को कम करके संतोषपूर्वक वस्तुओं का आवश्यकता भर उपयोग करना परिग्रह परिमाण-व्रत है।[५०] मर्यादा का बन्धन संकल्प में ही नहीं होना चाहिए बल्कि व्यवहार में भी उसका प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि वस्तु-त्याग कथन निरर्थक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त चार व्रतों की भाँति इस व्रत के भी पाँच अतिचार[५१] बताये गये हैं। जिनसे श्रावक साधकों को बचना चाहिए।

(१) **क्षेत्रवास्तु-परिमाण-अतिक्रमण** – मकानों, दुकानों तथा खेतों की मर्यादा को किसी भी बहाने से बढ़ाना।

(२) **हिरण्य-सुवर्ण-परिमाण-अतिक्रमण** – सोने-चाँदी आदि के परिमाण को भंग करना।

(३) **धन-धान्य-परिमाण-अतिक्रमण** – मुद्रा, जवाहरात आदि की मर्यादा को भंग करना।

(४) **द्विपद-चतुष्पद-परिमाण-अतिक्रमण** – दास–दासी, नौकर, कर्मचारी आदि पशुधन के परिमाण का उल्लंघन करना।

गुणव्रत

अणुव्रतों की रक्षा एवं विकास के लिए जैनाचार में गुणव्रतों की व्यवस्था की गयी है। इसे दूसरी भाषा में कहा जा सकता है कि अणुव्रतों की भावनाओं की दृढ़ता के लिए जिन विशेष गुणों की आवश्यकता होती है, उन्हें गुणव्रत कहा जाता है। *धर्मामृत* (सागार) में इसके तीन भेद बताये गये हैं-(१) दिग्व्रत (२) अनर्थदण्ड और (३) भोगोपभोगपरिमाण व्रत।[५२] इनके अतिरिक्त *उपासकदशांग,*[५३] *तत्त्वार्थसूत्र,*[५४] *उपासकाध्ययन,*[५५] *चारित्रसार,*[५६] *अमितगति श्रावकाचार,*[५७] *पद्मनन्दिपंचविंशति,*[५८] *प्राभृत-संग्रह,*[५९] *स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा,*[६०] *धर्मामृत (सागार),*[६१] *योगशास्त्र,*[६२] *सर्वार्थसिद्धि,*[६३] *हरिवंशपुराण,*[६४] *वसुनन्दि श्रावकाचार*[६५], *आदिपुराण*[६६] आदि ग्रन्थों में गुणव्रत के उपर्युक्त तीन वर्गीकरण की चर्चायें हुई हैं।

परन्तु उपर्युक्त ग्रन्थों में गुणव्रत के भेदों के नाम और क्रम में अन्तर है। किसी ग्रन्थ में गुणव्रत के अन्तर्गत शिक्षाव्रत के भेद, तो किसी में शिक्षाव्रत के अन्तर्गत गुणव्रत के भेद समाहित हैं। यथा- *स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, धर्मामृत* (सागार) आदि ग्रन्थों में भोगोपभोगपरिमाणव्रत को गुणव्रत के अन्तर्गत लिया गया है तो *सर्वार्थसिद्धि, वसुनन्दि श्रावकाचार, आदिपुराण* आदि ग्रन्थों में भोगापभोगपरिमाण का उल्लेख शिक्षाव्रत में किया गया है। इसी प्रकार देशव्रत को देशावकालिक की संज्ञा देकर *रत्नकरण्डक श्रावकाचार, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा* आदि ग्रंथो में शिक्षाव्रत के अन्तर्गत रखा गया है।

१. दिग्व्रत – जिस व्रत के द्वारा दिशाओं की सीमा निर्धारित की जाती है उसे दिग्व्रत कहते हैं।[६७] मनुष्य की अभिलाषा आकाश की भाँति असीम और अग्नि की तरह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समग्र भूमण्डल पर अपना एक छत्र साम्राज्य स्थापित करना चाहती है। अपनी इसी अनन्त इच्छा को त्यागवृत्ति के द्वारा मर्यादित करना दिग्व्रत है। इसीलिए इसे दिशा-परिमाण के नाम से भी जाना जाता है। दिशा-परिमाण व्रत का उद्देश्य ही है मनुष्य की उद्दम वासनाओं को नियन्त्रित करना। इस व्रत को ग्रहण करते समय श्रावक यह संकल्प लेता है कि वह जीवनपर्यन्त अमुक् दिशा की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेगा।[६८] इसके पाँच अतिचार बताये गये हैं, जिनसे श्रावक को बचना चाहिए।

(१) **उर्ध्वदिशा-परिमाण-अतिक्रमण** – ऊँची दिशा के निश्चित परिमाण का उल्लंघन करने पर लगनेवाले दोष का नाम उर्ध्वदिशा-परिमाण-अतिक्रमण है।

(२) **अधोलिखित-परिमाण-अतिक्रमण** – नीचे की दिशा के परिमाण का उल्लंघन करने पर लगनेवाला दोष अधोदिशा- परिमाण-अतिक्रमण है।

(३) **तिर्यक्दिशा-परिमाण-अतिक्रमण** – उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम तथा उनके कोणों में गमनागमन की मर्यादा के उल्लंघन से लगनेवाला दोष तिर्यक्-दिशा परिमाण-अतिक्रमण है।

(४) **क्षेत्रवृद्धि** – मनमाने ढंग से क्षेत्र की मर्यादा को बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि अतिचार है।

(५) **स्मृत्यन्तर्धा** – सीमा का स्मरण न रहने पर लगनेवाला दोष स्मृत्यन्तर्धा अतिचार है।

(२) अनर्थदण्डव्रत

बिना किसी प्रयोजन के हिंसा करना अनर्थदण्ड कहलाता है और हिंसापूर्ण व्यापार के अतिरिक्त समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होना अनर्थदण्ड-विरमण व्रत है। अनर्थदण्ड व्रत का पालन करनेवाला गृहस्थ निरर्थक किसी की हिंसा नहीं करता और न निरर्थक वस्तु का संग्रह ही करता है, अर्थात् अनर्थदण्ड-विरमण व्रत में श्रावक निष्प्रयोजन पापपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग करता है। जैसे– (१) अपध्यान (२) प्रमादाचरण (३) हिंसादान (४) पापकर्मोपदेश

इन कार्यों को किसी भी रूप में न करना ही श्रावक के लिए श्रेयष्कर है। अहिंसादि व्रतों के सम्यक् पालन के लिए तथा आत्मविशुद्धि के लिए अनर्थदण्ड का त्याग करना चाहिए। यह त्यागरूप व्रत ही अनर्थदण्ड व्रत है,[६९] अन्य व्रतों की भाँति इसके भी पाँच अतिचार बतायें गये हैं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) **संयुक्ताधिकरण-** जिन उपकरणों के संयोग से हिंसा की संभावनायें बढ़ जाती हैं उन्हें संयुक्त रखना संयुक्ताधिकरण अतिचार है।

(२) **उपभोगपरिभोगातिरिक्त** – आवश्यकता से अधिक उपभोग एवं परिभोग की सामग्री संग्रह रखना उपभोगपरिभोगातिरिक्त अतिचार है।

(३) **मौखर्य-**असम्बद्ध एवं अनावश्यक वचन बोलना मौखर्य है।

(४) **कौरकुच्य-**विकारवर्धक चेष्टाएँ करना या देखना कौरकुच्य है।

(५) **कन्दर्प-** विकारवर्धक वचन बोलना या सुनना कन्दर्प है।

ये सब निरर्थक हिंसा के पोषक हैं, अत: श्रावक को इनसे बचना चाहिए।

(३) भोगोपभोग परिमाण

एक बार भोगने योग्य आहार आदि भोग कहलाते हैं और जिन्हें बार-बार भोगा जा सके, ऐसे वस्त्र–पात्र आदि परिभोग या उपभोग कहलाते हैं। इन पदार्थों को काम में लाने की मर्यादा बाँध लेना उपभोग-परिभोग परिमाण है। भोग-उपभोग (परिभोग) सम्बन्धी वस्तुओं के २६ प्रकार बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं-[७०]

१. अंगोछा २. मंजन ३. फल ४. मालिश का तेल ५. उबटन ६. जल ७. पहनने के वस्त्र ८. विलेपन के लिए चन्दन ९. फूल १०. आभरण ११. धूप-दीप १२. पेय १३. पक्वान्न १४. ओदन १५. सूप (दाल) १६. घृत १७. शाक १८. माधुरक (मेवा) १९. जेमन २०. पीने का पानी २१. मुखवास २२. वाहन २३. जूता २४. शय्यासन २५. सचित्त वस्तु तथा २६. खाने के अन्य पदार्थ।

भोगोपभोगपरिमाण के भी पाँच अतिचार बताये गये हैं-[७१]

१. **सचित्ताहार**–जैसे हरी सब्जी का आहार लेना, २. **सचित्तबद्धाहार**– सचित्त वस्तु से संसक्त अचित्त वस्तु, जैसे गुठली सहित आम का उपयोग, ३. **अपक्वाहार**– बिना पके हुए आहार ग्रहण, ४. **दुष्पक्वाहार**– सुरा, मदिरा आदि का सेवन ५. **तुच्छौषधिभक्षण**– जो वस्तु खाने में कम फेंकने में अधिक जाये ।

शिक्षाव्रत

जिस प्रकार विद्यार्थी पुन:-पुन: विद्या का अभ्यास करता है, ठीक उसी प्रकार श्रावक को कुछ व्रतों का अभ्यास करना पड़ता है। बार-बार यही अभ्यास शिक्षाव्रत कहलाता है। अणुव्रत और गुणव्रत जीवन भर के लिए ग्रहण किया जाता है, जबकि शिक्षाव्रत कुछ समय के लिए। शिक्षाव्रत के मुख्यत: चार भेद हैं- (१) सामायिक (२) प्रोषधोपवास (३) देशावकाशिक तथा (४) अतिथिसंविभाग[७२]।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु शिक्षाव्रत के उपर्युक्त विभाजन को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। *चारित्रपाहुड*[७३], *हरिवंशपुराण*[७४], *आदिपुराण*[७५] आदि में शिक्षाव्रत के क्रमशः सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और संलेखना चार प्रकार बताये गये हैं। इसी प्रकार *रत्नकरण्डक श्रावकाचार*[७६], *स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा*[७७], *धर्मामृत (सागार)*[७८] आदि में क्रमशः देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास एवं अतिथिसंविभाग- ये चार प्रकार बताये गये हैं।

सामायिक -- सामायिक अर्थात् समत्व का अभ्यास। अभिप्राय है कि सामायिक आत्मा का वह भाव अथवा शरीर की वह क्रिया-विशेष है जिससे मनुष्य को समभाव की प्राप्ति होती है। *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* में कहा गया है कि इन्द्रियों को स्थिर करके राग-द्वेष रूपी परिणामों को छोड़कर, समताभाव धारण करके आत्मलीन हो जाना सामायिक शिक्षाव्रत है।[७९] इनके भी पाँच अतिचार हैं जिनसे सामायिक व्रत दूषित होता है,[८०] वे हैं-

(१) मन से सावद्य भावों का चिन्तन करना।

(२) वाणी से सावद्य वचन बोलना।

(३) शरीर से सावद्य क्रिया करना।

(४) सामायिक के प्रति अनादर भाव रखना।

(५) समय पूरा किये बिना ही सामायिक पूरी कर लेना।

अतः श्रावकों को इन दोषों से बचने का प्रयास करना चाहिए।

प्रोषधोपवास – आत्मचिन्तन के निमित्त सर्वसावद्य क्रिया को त्यागकर शान्तिपूर्ण स्थान में बैठकर उपवासपूर्वक समय व्यतीत करना प्रोषधोपवास है। *योगशास्त्र* में कहा गया है कि कषायों को त्याग करके प्रत्येक चतुर्दशी एवं अष्टमी के दिन उपवास कर तप ब्रह्मचर्यादि धारण करना प्रोषधोपवास कहलाता है।[८१] व्रत के दिन साधक दिनभर धर्मस्थान या उपासनागृह में निवास करता है। इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं, जिनसे साधकों को बचना चाहिए।[८२] अतिचार निम्नलिखित हैं-

१. भूमि को बिना देखे और बिना प्रमार्जित किये मल-मूत्र आदि का उत्सर्ग अर्थात् त्याग करना।

२. पाट-चौकी आदि वस्तुएँ बिना देखे व बिना प्रमार्जित किये रखना।

३. बिना देखे व बिना पूजे बिस्तर-आसन आदि लगाना।

४ प्रोषधव्रत के प्रति आदर का न होना।

५. प्रोषध करके भूल जाना।

देशावकाशिक व्रत -- देश यानी क्षेत्र का एक अंश और अवकाश अर्थात् स्थान। दिशापरिमाण-व्रत में जीवन भर के लिए मर्यादित दिशाओं को दिन एवं रात्रि में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथोचित कुछ घंटों या दिनों के लिए नियत करना देशवकाशिक व्रत कहलाता है।[८३] इसके भी पाँच अतिचार हैं-

(१) **आयनन प्रयोग**-मर्यादित क्षेत्र के बाहर से वस्तु लाना या मँगवाना।

(२) **प्रेष्य प्रयोग**-मर्यादित क्षेत्र के बाहर वस्तु भेजना या ले जाना।

(३) **शब्दानुपात**-निर्धारित क्षेत्र के बाहर किसी को खड़ा देखकर शब्द संकेत करना।

(४) **रूपानुपात**- हाथ, मुँह, सिर आदि से संकेत करना।

(५) **पुद्गलप्रक्षेप** - बाहर खड़े हुए व्यक्ति को अपना अभिप्राय जताने के लिए कंकड़ आदि फेंकना।

अतिथिसंविभाग व्रत – अपने निमित्त बनाई हुई अपने अधिकार की वस्तु का अतिथि के लिए समुचित विभाग करना अतिथिसंविभाग है। *योगशास्त्र* में कहा गया है- त्यागियों, मुनियों आदि को खानपान, रहन-सहन आदि वस्तुयें देकर स्वयं खान-पान करना अतिथिसंविभाग व्रत है।[८४] अन्य व्रतों की भाँति इसके भी पाँच अतिचार हैं,[८५] जिनसे साधक को बचना चाहिए।

(१) **सचित्त निक्षेप**-सचित्त पदार्थों से आहारादि को ढ़कना ताकि श्रमण आदि उसे ग्रहण न कर सके।

(२) **सचित्तापिधान**-आहारादि वस्तु को सचित्त वस्तु के ऊपर रख देना।

(३) **कालातिक्रम**-भिक्षा का समय बीत जाने पर भोजन बनाना।

(४) **परव्यपदेश**-न देने की भावना से अपनी वस्तु को दूसरों की बताना।

(५) **मात्सर्य**-ईर्ष्यापूर्वक दान देना मात्सर्य है।

ग्यारह प्रतिमाएँ

प्रतिमाएँ आत्म-विकास की क्रमिक सोपान हैं, जिनके सहारे श्रावक अपनी शक्ति के अनुरूप मुनि दीक्षा ग्रहण करने की स्थिति में पहुँचता है। प्रतिमा का अर्थ होता है- प्रतिज्ञाविशेष, व्रत विशेष, तप विशेष अथवा अभिग्रह विशेष।[८६] जैनागमों में प्रतिमाओं की संख्या ग्यारह मानी गयी हैं।[८७] परन्तु श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में प्रतिमा के विषय में अन्तर देखने को मिलता है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रतिमाओं के नाम क्रमशः इस प्रकार मिलते हैं- दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, नियम, ब्रह्मचर्य, सचित्त त्याग, आरम्भ त्याग, प्रेष्य परित्याग, उद्दिष्ट त्याग एवं श्रमणभूत।[८८] जबकि दिगम्बर परम्परा में दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त त्याग, रात्रिमुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग एवं उद्दिष्ट त्याग का वर्णन मिलता है।[८९] दोनों परम्पराओं में प्रतिमा के प्रकारों को देखने से ऐसा लगता है कि दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। डा० मोहनलाल मेहता के शब्दों में—श्वेताम्बर व दिगम्बर सम्मत प्रथम चार नामों में कोई अन्तर नहीं है। सचित्त त्याग का क्रम दिगम्बर परम्परा में पाँचवाँ हैं जबकि श्वेताम्बर-परम्परा में सातवाँ हैं। दिगम्बराभिमत रात्रिमुक्तित्याग श्वेताम्बराभिमत पाँचवीं प्रतिमा नियम के अन्तर्गत समाविष्ट है। ब्रह्मचर्य का क्रम श्वेताम्बर परम्परा में छठा है, जबकि दिगम्बर-परम्परा में सातवाँ है। दिगम्बर परम्परा का अनुमतित्याग श्वेताम्बर सम्मत उद्दिष्टभक्तत्याग के ही अन्तर्गत समाविष्ट है, क्योंकि इसमें श्रावक उद्दिष्टभक्त ग्रहण करने के साथ ही किसी प्रकार के आरम्भ का समर्थन भी नहीं करता। श्वेताम्बराभिमत श्रमणभूतप्रतिमा ही दिगम्बराभिमत उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है।[९०]

दर्शन-प्रतिमा – अध्यात्ममार्ग की यथार्थता के सम्बन्ध में दृढ़ निष्ठा एवं श्रद्धा का होना दर्शन-प्रतिमा है। *रत्नकरण्डक श्रावकाचार* के अनुसार इस प्रतिमा के धारक को सर्वगुण विषयक प्रीति उत्पन्न होती है, दृष्टि की विशुद्धता प्राप्त होती है और वह पंचगुरुओं के चरणों में जाकर दृष्टि दोषों का परिहार करता है।[९१]

व्रत-प्रतिमा – गृहस्थ जीवन के पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों का निर्दोष रूप से पालन करना व्रत-प्रतिमा है। *वसुनन्दि श्रावकाचार* में कहा भी गया है कि श्रावक साधक अणुव्रतों, गुणव्रतों, शिक्षाव्रतों आदि को सम्यक् रूपेण धारण कर उनका विधिवत पालन करता है।[९२]

सामायिक-प्रतिमा – समत्व के लिए किया जानेवाला प्रयास सामायिक कहलाता है। श्रावक साधक को इस सामायिक-प्रतिमा में नियमित रूप से तीनों संध्याओं अर्थात् प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में मन, वचन और कर्म से निर्दोष रूप में समत्व की आराधना करनी होती है।[९३]

प्रोषधोपवास-प्रतिमा – प्रत्येक माह की अष्टमी और चतुर्दशी में गृहस्थी के समस्त क्रिया-कलापों से अवकाश पाकर उपवास सहित शुद्ध भावना के साथ आत्मसाधना में रत रहना प्रोषधोपवास-प्रतिमा है।[९४]

नियम-प्रतिमा – इस प्रतिमा में पूर्वोक्त प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते हुए पाँच विशेष नियमों का व्रत लिया जाता है,जो इस प्रकार है-

(१) स्नान नहीं करना (२) रात्रि भोजन नहीं करना (३) धोती की एक लांग नहीं लगाना (४) दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना और रात्रि में मैथुन की मर्यादा निश्चित करना तथा (५) अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व के दिन रात्रि-पर्यन्त देहासक्ति त्यागकर कायोत्सर्ग करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य-प्रतिमा – इसमें श्रावक दिन की भाँति रात्रि में भी ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

सचित्त आहारवर्जन-प्रतिमा – इसमें श्रावक सभी प्रकार के सचित्त आहार का त्याग कर देता है, लेकिन आरम्भी हिंसा यानी कृषि, व्यापार आदि में होनेवाली अल्प हिंसा का त्याग नहीं करता।[९५]

आरम्भत्याग-प्रतिमा – इस प्रतिमा के श्रावक साधक मन, वचन एवं काय से कृषि, सेवा, व्यापार आदि को आरम्भ करने का त्याग कर देता है, किन्तु दूसरों से आरम्भ करवाने का त्याग नहीं करता।[९६] इसे हम दूसरी भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं कि गृहस्थ उपासक यद्यपि स्वयं व्यवसाय आदि कार्यों में भाग नहीं लेता और न स्वयं कोई आरम्भ ही करता है, फिर भी वह अपने पुत्रादि को यथावसर व्यावसायिक एवं पारिवारिक कार्यों में उचित मार्गदर्शन देता रहता है।

परिग्रहत्याग-प्रतिमा – इस प्रतिमा में श्रावक अपनी सम्पत्ति पर से भी अपना अधिकार हटा लेता है तथा निवृत्ति की दिशा में एक कदम आगे बढ़कर परिग्रहविरत हो जाता है। *वसुनन्दि श्रावकाचार* में कहा गया है कि श्रावक शरीर ढँकने के लिए एक-दो वस्त्र रखकर शेष सभी प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देता है तथा मूर्च्छारहित होकर रहता है।[९७] लेकिन इसमें अनुमति देने से विरत नहीं होता।

अनुमतिविरत-प्रतिमा – इस प्रतिमा में गृहस्थ साधक ऐसे आदेशों और उपदेशों से दूर रहता है जिसके कारण किसी प्रकार की स्थावर या त्रस हिंसा की सम्भावना रहती है। वह इतना मोहमुक्त हो जाता है कि किसी प्रकार के लौकिक कार्यों में अनुमति प्रदान नहीं करता।[९८]

उद्दिष्टत्याग-प्रतिमा – इस प्रतिमा में साधक गृहस्थ होते हुए भी साधु की भाँति आचरण करता है। वह मुण्डन करा लेता है तथा स्वयं के लिए बने आहार का भी परित्याग कर देता है, सम्बन्धियों व जाति के लोगों के यहाँ से भिक्षा ग्रहण करता है। भिक्षा ग्रहण करते समय वह इस बात का ध्यान रखता है कि दाता के यहाँ पहुँचने से पूर्व जो वस्तु बन चुकी है, वही ग्रहण करना है, अन्य नहीं।

इस प्रकार प्रतिमाएँ तपोसाधना की क्रमशः बढ़ती हुई अवस्थायें हैं, अतः उत्तर-उत्तर प्रतिमाओं में पूर्व-पूर्व प्रतिमाओं के गुण स्वतः ही समाविष्ट होते जाते हैं। फलतः साधक निवृत्ति की दिशा में क्रमिक प्रगति करते हुए अन्त में पूर्ण निवृत्ति के आदर्श को प्राप्त करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षडावश्यक

षडावश्यक को श्रावक का छः आवश्यक कर्म भी कहा जाता है।[९९] श्रावक जीवन के आवश्यक कर्म हैं- (१) देवपूजा (२) गुरुसेवा (३) स्वाध्याय (४) संयम (५) तप (६) दान।

श्रमणों की आचार संहिता

श्रमण के व्रत महाव्रत कहलाते हैं, क्योंकि साधु या निर्ग्रन्थ हिंसादि का पूर्णतः त्याग करते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह योग-सिद्धि के मूल साधन हैं। ऐसे साधु सामाचारी के विषय में कहा गया है कि गुरु के समीप बैठना, विनय करना, निवास स्थान की शुद्धि रखना, गुरु के कार्यों में शांतिपूर्वक सहयोग देना, गुरु-आज्ञा को निभाना,त्याग में निर्दोषता, भिक्षावृत्ति से रहना, आगम का स्वाध्याय करना एवं मृत्यु आदि का सामना करना आवश्यक है।[१००] जहाँ तक साधु के गुणों का प्रश्न है तो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में साधु के क्रमशः २८ एवं २७ मूलगुण माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं-

दिगम्बर परम्परा[१०१]	**श्वेताम्बर परम्परा**[१०२]
पंच महाव्रत	पंच महाव्रत
पंचेन्द्रियों का संयम	पंचेन्द्रियों का संयम
पंच समितियाँ	अरात्रि भोजन
षडावश्यक	आन्तरिक पवित्रता
केशलुंचन	भिक्षु उपाधि की पवित्रता
नग्नता	क्षमा
अस्नान	अनासक्ति
भूशयन	मन, वचन और काय की सत्यता
अदन्तधावन	छः प्रकार के प्राणियों का संयम
खड़े होकर भोजन ग्रहण करना	तीन गुप्ति
एक समय भोजन करना आदि।	सहनशीलता संलेखना आदि।

मूलगुणों के सम्बन्ध में जहाँ दिगम्बर परम्परा बाह्य तथ्यों पर अधिक बल देती है वहीं श्वेताम्बर परम्परा आन्तरिक विशुद्धि को अधिक महत्त्व देती है।

पंच महाव्रत

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पंच महाव्रत हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा

सामान्यतया अहिंसा का अर्थ 'न हिंसा' या 'हिंसा विरोधिनी अहिंसा' किया जाता है। लेकिन जैन मतानुसार किसी भी जीव की तीन योग और तीन करण से हिंसा न करना अहिंसा है।[१०३] तीन योग अर्थात् मन, वचन और काय तथा तीन करण यानी करना, करवाना और अनुमोदन करना। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है-

(१) मन से हिंसा न करना।
(२) मन से हिंसा न करवाना।
(३) मन से हिंसा का अनुमोदन न करना।

(१) वचन से हिंसा न करना।
(२) वचन से हिंसा न करवाना।
(३) वचन से हिंसा का अनुमोदन न करना।

(१) काय से हिंसा न करना।
(२) काय से हिंसा न करवाना।
(३) काय से हिंसा का अनुमोदन न करना।

इन नौ प्रकारों से प्राणी का घात न करना ही अहिंसा हैं। अहिंसा के पालन से मनुष्य में निर्भयता, वीरता, वात्सल्यता, क्षमा, दया आदि आत्मिक शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। आत्मिक बल के सामने सभी पाशविक आसुरी बल नतमस्तक हो जाते हैं। अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ हैं-

ईर्या समिति – आने-जाने, उठने-बैठने आदि प्रवृत्ति के लिए चर्या करते समय छोटे या बड़े जीव के प्रति क्लेशकारक प्रवृत्ति का बचाव करना ईर्या समिति है।[१०४]

भाषा समिति – बोलने के समय क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय आदि से मुक्त वचन बोलकर हितमित पथ्य, सत्य और मधुर वचन बोलना भाषा समिति है। तात्पर्य है वाणी के समस्त दोषों से बचना।[१०५]

एषणा समिति – आहार, वस्त्र, शय्या आदि की पूर्ति के लिए उत्तेजित करनेवाली वस्तुओं के स्थान पर स्वास्थ्योपयोगी, सात्विक भोजन, वस्त्र एवं पात्र ग्रहण करना एषणा समिति है।[१०६]

आदान समिति – रोजमर्रा की आवश्यकताओं की वस्तुओं के लेन-देन, उसके रख-रखाव आदि में सावधानी बरतना, ताकि कोई जीव मर न जाए आदान समिति है।[१०७]

मन:समिति – मन में अनेक प्रकार के विचार आते हैं, वे सावद्यकारी, आस्रव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करनेवाले, सक्रिय, छेदन-भेदन एवं कलह करनेवाले, दोषपूर्ण एवं प्राणों के घातक हो सकते हैं, जिन्हें मन से हटाना साधु के लिए आवश्यक है।[१०८]

सत्य

असत्य का परित्याग करना तथा यथाश्रुत वस्तु के स्वरूप का कथन सत्य कहलाता है। सत्य का भी पालन श्रमण को तीन योग और तीन करण से करना पड़ता है। इस महाव्रत की भी पाँच भावनाएँ हैं[१०९]-

(१) विवेक-विचारपूर्वक बोलना।
(२) क्रोध से बचना।
(३) लोभ से सर्वथा दूर रहना।
(४) भय से अलग रहना।
(५) हास-परिहास से अलग रहना।

अस्तेय

बिना दिये हुए पर-वस्तु का ग्रहण स्तेय कहलाता है, अतः मन, वचन और काय से चोरी न करना, चोरी न करवाना, चोरी करनेवालों का न ही अनुमोदन करना अस्तेय है। इस व्रत की भी पाँच भावनाएँ हैं-

(१) **अनुवीचि अवग्रहयाचन-** सम्यक् विचार करके उपयोग के लिए वस्तु या स्थान के स्वामी या श्रावक से याचना करना अनुवीचि अवग्रहयाचन है।

(२) **अभीक्ष्य अवग्रहयाचन-** राजा, कुटुम्बपति आदि जिसकी भी जगह माँग कर ली गयी हो, ऐसे साधर्मिक आदि अनेक प्रकार के स्वामी हो सकते हैं। उनमें से जिस-जिस स्वामी से जो-जो स्थान माँगने में विशेष औचित्य हो वही स्थान माँगना तथा एक बार देने के बाद मालिक ने वापस ले लिया हो, फिर भी रोगादि के कारण विशेष आवश्यकता होने पर उसके स्वामी से इस प्रकार बार-बार लेना कि उसको क्लेश न होने पाये, अभीक्ष्य अवग्रहयाचन है।[११०]

(३) **अवग्रहधारण-** मालिक से माँगते समय अवग्रह का परिमाण निश्चित कर कोई वस्तु ग्रहण करना अवग्रहधारण है।[१११]

(४) **साधर्मिक अवग्रहयाचन-** साधु द्वारा अपने समानधर्मी साधु से आवश्यकता होने पर परिमित स्थान की याचना करना।[११२]

(५) **अनुज्ञापित पान–भोजन–** विधिपूर्वक अन्नपानादि लाने के बाद गुरु को दिखाकर उनका अनुज्ञापूर्वक उपभोग करना अनुज्ञापित पान–भोजन है।[११३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य

तपस्याओं में सबसे उत्तम ब्रह्मचर्य है।[११४] पारिभाषिक रूप में ऐसे कहा जा सकता है कि मन, वचन और काय से किसी भी काल में मैथून न करना ब्रह्मचर्य व्रत है। इसकी भी पाँच भावनाएँ हैं-

(१) **स्त्री कथा-त्याग**- स्त्री से सम्बन्धित कामवर्धक कथाओं का त्याग करना।

(२) **मनोहर क्रियावलोकन-त्याग**-स्त्री अंगों का अवलोकन न करना।

(३) **पूर्व रतिविलास स्मरण-त्याग**-पूर्वानुभूत कामक्रीड़ा का स्मरण न करना।

(४) **प्रणीतरस भोजन-त्याग**-प्रमाण से अधिक अथवा कामवर्धक रसयुक्त आहार पानी ग्रहण न करना।

(५) **शयनासन त्याग**-स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से सम्बद्ध स्थानों में न रहना।[११५]

अपरिग्रह

संसार के समस्त विषयों के प्रति राग तथा ममता का परित्याग कर देना ही अपरिग्रह है। *मूलाचार* में अपरिग्रह व्रत के पालन का निर्देश देते हुए कहा गया है कि ग्राम, नगर, अरण्य, स्थूल, सचित्त तथा स्थूलादि से उलटे सूक्ष्म अचित्य स्तोक ऐसे अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह को मन, वचन और काय द्वारा छोड़ देवें।[११६] इसकी भी पाँच भावनाएँ हैं-

(१) श्रोतेन्द्रिय के विषय शब्द के प्रति रागद्वेष रहितता।

(२) चक्षुरिन्द्रिय के विषय रूप से अनासक्त भाव रखना।

(३) घ्राणेन्द्रिय के विषय गन्ध के प्रति अनासक्त भाव रखना।

(४) रसनेन्द्रिय के विषय रस के प्रति अनासक्त भाव रखना।

(५) स्पर्शनेन्द्रिय के विषय स्पर्श के प्रति अनासक्त भाव रखना।

गुप्ति एवं समिति

जैन परम्परा में तीन गुप्तियों तथा पाँच समितियों का विधान है। गुप्तियाँ जो मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकती हैं और समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति में सहायक होती हैं।[११७] कहा भी गया है कि योग का अच्छी प्रकार से निग्रह करना गुप्ति है।[११८] गुप्तियाँ श्रमण–साधना के निषेधात्मक पक्ष को प्रस्तुत करती हैं, जबकि समितियाँ साधना के विधेयात्मक रूप को व्यक्त करती हैं। ये आठ गुण श्रमण-जीवन का संरक्षण उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार माता अपने पुत्र की करती है। इसीलिए इन्हें अष्ट प्रवचनमाता भी कहा गया है।[११९] गुप्तियाँ तीन हैं- मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति।[१२०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनोगुप्ति – सामान्य भाषा में राग-द्वेषादि कषायों से मन को निवृत्त करना मनोगुप्ति है। *उतराध्ययन* के अनुसार समरम्भ, समारम्भ और आरम्भ आदि हिंसक प्रवृत्तियों में जाते हुए मन को रोकना मनोगुप्ति है।[१२१]

वचनगुप्ति – अहितकारी एवं हिंसाकारी भाषा का प्रयोग नहीं करना वचनगुप्ति है। *योगशास्त्र* में असत्य भाषण आदि से निवृत्त होना या मौन धारण करने को वचनगुप्ति कहा गया है।[१२२] *उत्तराध्ययन* में अशुभ प्रवृत्तियों में जाते हुए वचन पर निरोध करने को वचनगुप्ति कहा गया है।[१२३] इसी प्रकार *नियमसार* में पाप के हेतुभूत स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, मंत्रकथा आदि वचनों के परिहार अथवा असत्यादि की निवृत्ति करनेवाले वचन के प्रयोग को वचनगुप्ति कहा गया है।[१२४]

कायगुप्ति – शारीरिक क्रियाओं द्वारा होनेवाली हिंसा से बचना कायगुप्ति है। *नियमसार* के अनुसार बन्धन, छेदन, मारण, आकुंचन तथा प्रसारण आदि शारीरिक क्रियाओं से निवृत्ति कायगुप्ति है।[१२५] अत: समरम्भ, समारम्भ और आरम्भपूर्वक कायिक प्रवृत्तियों का निरोध करना कायगुप्ति कहलाता है।[१२६]

उपर्युक्त तीनों गुप्तियों का मुख्य उद्देश्य है- साधक को अशुभ प्रवृत्तियों से दूर रखना। जैसाकि *उत्तराध्ययन* में कहा भी गया है- मुनि जीवन के लिए इन तीन गुप्तियों का विधान अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्ति हेतु है।[१२७] पाँच समितियों का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

बारह अनुप्रेक्षाएँ

अनुप्रेक्षा का अर्थ होता है- गहन चिन्तन करना। आत्मा द्वारा विशुद्ध चिन्तन होने के कारण इसमें सांसारिक वासना-विकारों का कोई स्थान नहीं रहता है, फलत: साधक विकास करता हुआ मोक्षाधिकारी होने में समर्थ होता है। जब आत्मा में शुभ विचारों का उदय होता है, तब अशुभ विचारों का आना बन्द हो जाता है। परन्तु साधक की इन्द्रियाँ तथा मन साधक को सर्वदा अपने मार्ग से विचलित करने एवं रागद्वेषादि भावों को बढ़ाने के लिए तत्पर रहती हैं। इन सब भावों पर विजय प्राप्त करने के लिए ही अनुप्रेक्षाओं का विधान किया गया है, जिसके अन्तर्गत जीवों में विरक्त भावना उदित करने हेतु संसार की अनित्यता का विभिन्न प्रकार से विचार करने पर बल दिया गया है। अनुप्रेक्षाओं को वैराग्य की जननी भी कहा जाता है। अत: साधक को धर्म-प्रेम, वैराग्य, चारित्र की दृढ़ता तथा कषायों के शयन के लिए इनका अनुचिन्तन करते रहना चाहिए।[१२८] अनुप्रेक्षाएँ बारह हैं।[१२९] इन्हें भावना के नाम से भी जाना जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनित्यानुप्रेक्षा – इस संसार में शरीरादि जितने भी भौतिक पदार्थ हैं, वे सब जल के बुलबुले के समान हैं। अत: यह संसार अनित्य, अस्थिर तथा नाशवान है, ऐसा चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा कहलाता है[१३०]

अशरणानुप्रेक्षा – जिस प्रकार सघन वन में सिंह द्वारा पकड़ा हुआ बच्चा अपनी रक्षा नहीं कर सकता, उसका कोई शरण नहीं होता, उसी प्रकार संसार रूपी सिंह द्वारा पकड़े गये बालपन, यौवन एवं बुढ़ापा रूपी व्यक्ति अपनी रक्षा की सोचता है, तब उसके दु:ख में हाथ बटाने कोई नहीं आता। सारा ज्ञान धरा का धरा रह जाता है, क्योंकि विद्या, मंत्र, औषधि या जड़ी-बुटी से किसी की मृत्यु टलती नहीं है।[१३१] अत: सहारे के रूप में एक मात्र धर्म ही दिखाई पड़ता है। व्यक्ति का यही सोचना कि धर्म की शरण में जाना ही श्रेयष्कर है, अशरणानुप्रेक्षा है।

संसारानुप्रेक्षा – यह जीव संसार के चक्कर में फँसकर सर्वदा नाना योनियों में भटकता रहता है। कभी शुभ कर्मों के वशीभूत होकर स्वर्ग का आनन्द लेता है, तो कभी अशुभ कर्मों के वशीभूत होकर नरक की यातना सहता है। ऐसे ही निम्न योनियों में भटकता रहता है। संसार के स्वरूप का ऐसा चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा कहलाता है।[१३२]

एकत्वानुप्रेक्षा – संसार में जितने भी सम्बन्ध हैं, चाहे वह माँ का हो या पिता का हो या फिर भाई का हो, सभी मिथ्या हैं। इस संसार में जीव अकेला पैदा होता है और अकेला मरता है। सुख-दु:ख, पीड़ा, शोक, वेदना आदि उसी जीव को सहन करने पड़ते हैं। इस तरह का चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा कहलाता है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा – संसार एवं संसार की वस्तुएँ सब मुझसे भिन्न हैं। संसार जड़ है, मैं चेतन हूँ। अत: बाह्य वस्तुओं का चेतन (जीव) से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।[१३३]

अशुचित्वानुप्रेक्षा – रुधिर, मांस आदि अनेक वीभत्स वस्तुओं के संयोग से बना यह शरीर अत्यन्त अशुचि है। इसे स्नान विलेपनादि से किसी प्रकार शुद्ध नहीं किया जा सकता, ऐसी भावना अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

आस्रवानुप्रेक्षा – आस्रव के स्वरूप का चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

संवरानुप्रेक्षा– आस्रव का निरोध संवर है। यहाँ से मोक्ष की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है जिसमें आते हुए नये कर्मों को रोकने का प्रयास किया जाता है। यह दो प्रकार का होता है- भाव–संवर एवं द्रव्य- संवर। साधक जब उन नैतिक प्रयत्नों के लिए उत्सुक होता है जिनसे नये कर्म रोके जाते हैं, तब उसे भाव संवर कहते हैं और जब नए कर्मों का आना बन्द हो जाता है तब उसे द्रव्य संवर कहते हैं। संवर का इस प्रकार चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्जरानुप्रेक्षा– निर्जरा का अर्थ होता है—कर्म-क्षय और उससे होनेवाली आत्मस्वरूप की उपलब्धि। अत: आत्मा के शुद्ध-निर्मल रूप का चिन्तन करना ही निर्जरानुप्रेक्षा कहलाता है।[१३४]

धर्मानुप्रेक्षा – धर्म ही गुरु और मित्र है, धर्म ही स्वामी और बन्धु है। क्षमादि दस धर्मों का बार-बार चिन्तन करना धर्मानुप्रेक्षा है।

लोकानुप्रेक्षा – यह संसार अनादि और अनन्त है। यह न तो किसी के द्वारा बनाया गया है और न ही धारण किया गया है। इस प्रकार का चिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा कहलाता है।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा – आत्मज्ञान का चिन्तन करना ही बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है, क्योंकि चारों गतियों में भ्रमण करनेवाले जीवों के लिए चार बातों की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है- मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा एवं संयम में पुरुषार्थ।[१३५] इन चार दुर्लभ तत्त्वों का सहारा लेकर ही साधक आत्मस्वरूप की प्राप्ति या ज्ञान-प्राप्ति का पुरुषार्थ करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त बारह अनुप्रेक्षाओं के पालन में साधक संसार सम्बन्धी दु:ख, सुख, पीड़ा, जन्म-मरण आदि का चिन्तन-मनन करता हुआ अन्तर्मुखी वृत्ति को प्राप्त करता है और उसकी रागद्वेषादि की भावना क्षीण होती है, फलत: वह आत्मशुद्धि की प्राप्ति करता है।

परीषह

समभावपूर्वक सहन करना परीषह कहलाता है। *तत्त्वार्थसूत्र* में कहा गया है- मार्ग से च्युत न होने और कर्मों के क्षयार्थ जो सहन करने योग्य हो, परीषह है।[१३६] यद्यपि तपश्चर्या में भी कष्टों को सहन करना पड़ता है, लेकिन तपश्चर्या में स्वेच्छा से कष्ट सहन किया जाता है, जबकि परीषह में स्वेच्छा से कष्ट सहन नहीं किया जाता बल्कि श्रमण-मुनि आदि जीवन में नियमों का परिपालन करते हुए आकस्मिक रूप से यदि कोई संकट उपस्थित हो जाता है, तो उसे सहन करना पड़ता है। परीषहों की संख्या बाईस बतायी गयी है। इन परीषहों को जीतना साधक के लिए आवश्यक है, क्योंकि परीषह-विजय के बिना चित्त की चंचलता समाप्त नहीं होती, मन एकाग्र नहीं होता। फलत: न सम्यक् ध्यान होता है और न कर्मों का क्षय ही हो पाता है।

तत्त्वार्थसूत्र,[१३७] *उत्तराध्ययन*[१३८] *तथा समवायांग*[१३९] के अनुसार बाईस परीषह निम्नलिखित हैं- क्षुधा-परीषह, तृषा-परीषह, शीत-परीषह, उष्ण-परीषह, दंशमशक- परीषह, अचेल-परीषह, अरति-परीषह, स्त्री-परीषह, चर्या-परीषह, निषधा-परीशह, शय्या- परीषह, आक्रोश-परीषह, वध-परीषह, याचना-परीषह, अलाभ-परीषह, रोग-परीषह, तृण-स्पर्श-परीषह, मल-परीषह, सत्कार-परीषह, प्रज्ञा-परीषह, अज्ञान-परीषह और दर्शन- परीषह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध परम्परा

बौद्ध-परम्परा भी जैन परम्परा की भाँति योग-साधना के आधारभूत तत्त्व के रूप में आचार को ही मान्यता देती है। अन्तर इतना ही है कि जैन परम्परा जिस विशेष प्रक्रिया के लिए आचार शब्द का प्रयोग करती है, उसी विशेष प्रक्रिया के लिए बौद्ध परम्परा में शील शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसा कि विशुद्धिमार्ग में कहा गया है शील का तात्पर्य धर्म को धारण करना, कर्तव्यों में प्रवृत्त होना तथा अकर्तव्यों से पराङ्मुख होना है।[१४०] परन्तु इतना अवश्य है कि बौद्ध-परम्परा में गृहस्थों की अपेक्षा श्रमणों (भिक्षुओं) के आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन आदि से सम्बन्धित नियम-उपनियमों का विधान विशेष रूप से किया गया है। *विशुद्धिमार्ग* में ही आचार की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि यदि भिक्षु अल्पश्रुत भी हो, किन्तु शीलवान् हो तो शील ही उसकी प्रशंसा का कारण होता है। उसके लिए श्रुत अपने-आप पूर्ण हो जाता है। इसके विपरीत यदि भिक्षु बहुश्रुत भी है; किन्तु दुःशील है तो दुःशीलता उसकी निन्दा का कारण है और उसके लिए सुख भी सुखदायक नहीं होता है।[१४१]

बौद्ध परम्परा की आचार-पद्धति भी दो भागों में विभक्त है- श्रावकाचार तथा श्रमणाचार। दोनों ने अन्तर पाया जाना स्वाभाविक है किन्तु कहीं-कहीं श्रावक और श्रमण के आचार में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता है।

श्रावकों की आचारसंहिता

सर्वप्रथम श्रावक में सम्यक्-श्रद्धा का होना आवश्यक है अर्थात् उसे बुद्ध, धर्म और संघ में श्रद्धा रखते हुए यह विचार करना चाहिए कि भगवान् का श्रावक-संघ सुप्रतिपन्न है, भगवान् का श्रावक-संघ ऋजु प्रतिप्रन्न है, भगवान् का श्रावक-संघ न्याय प्रतिपन्न है, भगवान् का श्रावक-संघ उचित पथ प्रतिपन्न है, यह आदर करने योग्य है, यह सत्कार करने योग्य है, यह दक्षिणा के योग्य है, यह हाथ जोड़ने योग्य है। यह अशुद्ध चित्त की शुद्धि तथा मैले चित्त की निर्मलता का कारण है।[१४२]

गृहस्थ उपासक के लिए 'अष्ट-शील' का वर्णन आता है। जिनमें पाँच[१४३] तो सामान्य शील हैं तथा तीन उपोसथ शील हैं।[१४४] ये इस प्रकार हैं-

पंचशील

अहिंसा-संसार के सभी त्रस एवं स्थावर प्राणियों के प्रति हिंसा का तीनों करण से त्याग अर्थात् न तो प्राणी का वध करना चाहिए, न करवाना चाहिए और न करने की दूसरों को अनुमति ही देनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अचौर्य-बिना अनुमति किसी दूसरे की वस्तु को न लेना अर्थात् न किसी की वस्तु को चुराना चाहिए, न चुरवाना चाहिए न चुराने की अनुमति ही देनी चाहिए। यानी चोरी का सर्वथा त्याग कर देना ही अचौर्य शील है।

ब्रह्मचर्य- इसे स्वपत्नी संतोष भी कहा जाता है। जलते कोयले की भाँति अब्रह्मचर्य का त्याग कर देना चाहिए।

अमृषावाद- न तो स्वयं असत्य बोलना चाहिए, न बोलवाना चाहिए और न ही किसी को बोलने की अनुमति ही देनी चाहिए।

मद्यपान विरमणशील- इस धर्म का इच्छुक गृहस्थ मद्यपान का परिणाम उन्माद जानकर न तो उसका सेवन करे, न सेवन कराये और न करने की अनुमति दे।

तीन उपोसथ

विकाल भोजन परित्याग- रात्रि एवं विकाल में भोजन का त्याग होना चाहिए।

माल्य गन्ध विरमण- माला एवं सुगन्ध का सेवन नहीं करना।

उच्च शय्या विरमण- उच्च शय्या का त्याग कर काठ, जमीन आदि पर विश्राम करना।

दीघनिकाय में भी गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित कुछ नियमों का उल्लेख देखने को मिलता है, जो इस प्रकार है-

१. नियमपूर्वक हमेशा प्रयत्नशील रहते हुए धनोपार्जन करना।[१४५]

२. उपार्जित धन को चार भागों में विभक्त कर एक भाग का उपभोग करना चाहिए, दो भागों को पुन: व्यवसाय में लगाना चाहिए तथा एक भाग को भविष्य के आपत्तिकाल के लिए सुरक्षित रखना चाहिए।[१४६]

३. गृहस्थ उपासक के लिए माता-पिता पूर्व दिशा हैं, आचार्य दक्षिण दिशा हैं, स्त्री एवं पुत्र पश्चिम दिशा हैं, मित्र एवं अमात्य उत्तर दिशा हैं, दास एवं नौकर अधोदिशा हैं, श्रमण एवं ब्राह्मण उर्ध्व दिशा हैं। अत: इन छ: दिशाओं को अच्छी तरह नमस्कार कर उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए।[१४७]

४. बुद्धिमान, सदाचार परायण, स्नेही, प्रतिभावान, निवृत्ति वृत्तिवाला, आत्मसंयमी, उद्योगी, आपत्ति में नहीं डिगनेवाला निरन्तर कार्य करनेवाला श्रावक ही मेधावी होता है, यश को प्राप्त करता है। अत: इन गुणों को अपने व्यावहारिक जीवन में उतारकर यशस्वी जीवन जीना चाहिए।[१४८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. हिंसा, चोरी, झूठ और परस्त्रीगमन, जुआ, कुसंगति, आलस्य, अतिनिद्रा, अनर्थ करना, लड़ना-झगड़ना और अतिकृपणता, मद्यपान आदि कलुषित कर्म से बचना चाहिए।[१४९]

निषिद्ध व्यापार परित्याग

बौद्ध ग्रन्थ *अंगुत्तरनिकाय*[१५०] के निकाय पाँच में गृहस्थ उपासक के लिए पाँच अकरणीय व्यापारों का उल्लेख किया गया है-

१. अस्त्रों-शस्त्रों का व्यापार,
२. प्राणियों का व्यापार,
३. मांस का व्यापार,
४. मद्य का व्यापार,
५. विष का व्यापार,

इन पाँच व्यापारों के अतिरिक्त भी *दीघनिकाय* के *लक्खणसुत्त*[१५१] में बुद्ध ने अन्य निम्न जीविकाओं को भी गर्हणीय माना है-

(१) तराजू एवं बटखारे की ठगी (२) माप की ठगी (३) रिश्वत की लेन-देन (४) वंचना (५) कृतघ्नता (६) साचियोग (कुटिलता) (७) छेदन (८) किसी भी जीव का वध (९) बन्धन (१०) डाका एवं लूटपाट की जीविका।

श्रमणों की आचार संहिता

बौद्ध परम्परा में श्रमण जीवन को प्रथम तथा गृहस्थ जीवन को द्वितीय स्थान प्राप्त है। बुद्ध ने हमेशा श्रमण जीवन को सर्वोच्च मानते हुए श्रमण जीवन को प्राथमिकता दी है।[१५२] *धम्मपद* में श्रमण जीवन का सार बताते हुए कहा गया है- "समस्त पापों को नहीं करना, कुशल कर्मों का सम्पादन करना एवं चित्त शुद्ध रखना ही श्रमण जीवन का सार है।[१५३] इसी में आगे कहा गया है कि जो छोटे-बड़े सभी पापों का शमन करता है, उसे पाप का शमनकर्ता होने के कारण श्रमण कहा जाता है।[१५४] अत: कहा जा सकता है कि जिस प्रकार जैन परम्परा में श्रमण-जीवन से तात्पर्य इच्छाओं एवं आसक्तियों से ऊपर उठना तथा पापवृत्तियों का शमन करना माना गया है, ठीक उसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी तृष्णा का परित्याग एवं पापवृत्तियों का शमन ही श्रमण-जीवन का हार्द है।

पंच महाव्रत

बौद्ध-परम्परा में उपासकों के लिए पंचशील, जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है तथा श्रमणों के लिए दस शील का वर्णन आता है। श्रमणों के इस दस शील में ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचशील का भी समावेश हो जाता है। भिक्षुओं के लिए दश शील[१५५] निम्नलिखित हैं-

१. प्राणातिपात–विरमण २. अदत्तादान–विरमण ३. अब्रह्मचर्य या कामेसु-मिच्छाचार–विरमण ४. मृषावाद-विरमण ५. सुरामद्यमैरेय–विरमण ६. विकाल भोजन–विरमण ७. नृत्य-गीत-वादित्र–विरमण ८. माल्यधारण, गन्ध विलेपन–विरमण ९. उच्च शय्या–विरमण १०. जातरूप रजत ग्रहण–विरमण।

प्राणातिपात–विरमण – बौद्ध परम्परा में मन, वचन और काय से कृत, कारित और अनुमोदित हिंसा का निषेध किया गया है। अहिंसा का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि सभी प्राणियों को उसी प्रकार से देखना चाहिए जिस प्रकार माँ अपने एकलौते पुत्र को देखती है।[१५६] अत: सभी को यह सोचना चाहिए कि जैसा मैं हूँ, वैसा ही दूसरा भी है तथा जैसा दूसरा है, वैसा ही मैं हूँ। इस तरह आत्मसदृश मानकर न तो किसी का घात करना चाहिए और न ही करवाना चाहिए। घात करनेवाला कभी भी आर्य कहलाने के योग्य नहीं होता है।

परन्तु यहाँ ध्यान देने की आवश्यकता है कि बौद्ध परम्परा में भी वनस्पति, पृथ्वी आदि को सूक्ष्म प्राणियों से युक्त माना गया है ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि वनस्पति को तोड़ना तथा भूमि को खोदना आदि भिक्षु के लिए वर्जित है, इनमें प्राणियों की हिंसा होने की संभावना रहती है।[१५७]

अदत्तादान–विरमण – कोई भी वस्तु बिना उसके स्वामी की आज्ञा के ग्रहण करना अदत्तादान है। *विनयपिटक* में कहा गया है कि जो भिक्षु बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करता है तो वह अपने श्रमण पद से च्युत हो जाता है।[१५८] इतना ही नहीं यदि कोई भिक्षु फूल को सूँघता है तो वह चोरी करता है।[१५९] अत: कहा जा सकता है कि बौद्ध आचार्यों ने न केवल उन बाह्य वस्तुओं के सन्दर्भ में ही अस्तेय-व्रत को स्वीकार किया है जिनका कोई स्वामी हो, बल्कि यह भी माना है कि जंगल से भी बिना दी हुई वस्तु लेना अपराध है।

अब्रह्मचर्य-विरमण – भिक्षुओं के लिए स्त्री-सम्पर्क का सर्वथा निषेध है। इसे हम *बुद्ध* और *आनन्द* के संवाद द्वारा स्पष्ट रूप से जान सकते हैं। *बुद्ध* के परिनिर्वाण के पूर्व उनके प्रिय शिष्य *आनन्द* ने प्रश्न किया–[१६०]

भगवान्! हम स्त्रियों के साथ कैसा बर्ताव करें?

बुद्ध ने कहा- उन्हें मत देखो।

आनन्द ने पुन: प्रश्न किया कि यदि वे दिखाई दें, तो हम कैसा व्यवहार करें?

बुद्ध ने कहा- हे *आनन्द*! आलाप यानी बातचीत नहीं करनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आनन्द ने पुनः पूछा कि यदि उनके साथ बातचीत का प्रसंग उपस्थित हो जाए तो?

बुद्ध ने कहा- ऐसी स्थिति में भिक्षु को अपनी स्थिति को सम्भाले रखना चाहिए। *विनयपिटक* में भिक्षु के लिए स्त्री का स्पर्श तो क्या भिक्षु का एकान्त में भिक्षुणी के साथ बैठना भी अपराध है।[१६१]

मृषावाद–विरमण – भिक्षु को सत्यभाषी होना चाहिए। *सुत्तनिपात* के अनुसार भिक्षु को न स्वयं असत्य बोलना चाहिए, न अन्य से असत्य बोलवाना चाहिए और न ही किसी को असत्य बोलने की अनुमति देनी चाहिए।[१६२] परन्तु जो वचन सत्य हो पर अहितकर हो उसे नहीं बोलना चाहिए, लेकिन जो सत्य हो, वह प्रिय हो या अप्रिय, हितकारी दृष्टि से बोलना आवश्यक है तो उसे बोल देना चाहिए।[१६३]

इनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे वचन हैं जिनका प्रयोग भिक्षु को नहीं करना चाहिए। वे वचन इस प्रकार हैं-[१६४]

१. भिक्षु को हमेशा शुद्ध, उचित, अर्थपूर्ण, तर्कपूर्ण तथा मूल्यवान वचन बोलना चाहिए।

२. जानबूझ कर असत्य नहीं बोलना चाहिए।

३. अपमान जनक शब्दों का उपयोग नहीं करना चाहिए।

४. भिक्षु को गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों से वंचित रहना चाहिए।

५. गृहस्थोचित भाषा का प्रयोग भी भिक्षु के लिए वर्जित है।

६. सदैव कठोर वचन का परित्याग कर नम्र एवं मधुर वचन बोलना चाहिए।[१६५]

सुरामद्यमैरेय–विरमण – भिक्षु और गृहस्थ दोनों के लिए सुरापान, मद्यपान आदि नशीली वस्तुओं का सेवन सर्वथा वर्जित है।

विकाल भोजन–विरमण – विकाल भोजन अर्थात् १२ बजे दिन के पश्चात् तथा रात्रि भोजन दोनों ही बौद्ध-भिक्षुओं के लिए त्याज्य है। जैसा कि भगवान् *बुद्ध* ने कहा है-हे भिक्षुओं! मैंने रात्रि-भोजन छोड़ दिया, उससे मेरे शरीर में व्याधियाँ कम हो गयी हैं, जाड्य कम हो गया है, शरीर में बल आ गया है, चित्त को शांति मिली है। हे भिक्षुओं! तुम भी ऐसा ही आचरण रखो। यदि तुम रात्रि में भोजन करना छोड़ दोगे तो तुम्हारे शरीर में व्याधि कम होगी, जाड्य कम होगा, शरीर में बल आयेगा और तुम्हारे चित्त को शांति मिलेगी।[१६६]

नृत्यगान वादित्र–विरमण – भिक्षुओं को किसी नृत्य, संगीत में भाग लेने का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधान नहीं है। *अंगुत्तरनिकाय* में कहा गया है- हे भिक्षुओं यह जो गाना है, वह आर्य-विनय के अनुसार रोना है, यह जो नाचना है वह आर्य–विनय के अनुसार पागलपन ही है। भिक्षुओं यह जो देर तक दाँत निकाल कर हँसना है वह आर्य–विनय के अनुसार बचपन ही है। अत: भिक्षुओं यह जो गाना है, यह सेतु का घात मात्र ही है, यह जो नाचना है, यह सेतु का घात मात्र ही है। धर्मानन्दी सन्त पुरुषों का मुस्कुराना ही पर्याप्त है।[१६७] जैन परम्परा में अलग से इस व्रत का विधान नहीं है। यद्यपि मुनियों के लिए नृत्यादि का निषेध किया गया है।

माल्यगन्ध धारण-विरमण – किसी भी प्रकार की माला धारण करना, सुगन्धित पदार्थों का विलेपन करना, शरीर शृंगार या आभूषण धारण करना आदि उपोसथ शीलधारी श्रावक एवं भिक्षु दोनों के लिए वर्जित किया गया है।

उच्चशय्या, महाशय्या-विरमण – भिक्षुओं के लिए किसी भी प्रकार की आरामदायक वस्तुएँ जिनसे उनका श्रामण्य च्युत होता हो, वर्जित है। इसीलिए गद्दी, तकिया आदि से युक्त उच्चशय्या पर सोना भिक्षु के लिए मना किया गया है। बुद्ध ने कहा है- हे भिक्षुओं! इस समय भिक्षु लोग लकड़ी के बने तख्त पर सोते हैं, अपने उद्योग में आतापी और अप्रमत होकर विहार करते हैं। पापी मार इनके विरुद्ध कोई दावँ-पेच नहीं पा रहा है। भिक्षुओं! भविष्यकाल में भिक्षु लोग गद्देदार बिछावन पर गुलगुल तकिये लगाकर दिन चढ़ आने तक सोये रहेंगे। जिससे उनके विरुद्ध पापी मार दावँ–पेच कर सकेगा। इसलिए हे भिक्षुओं! तुम्हे यह लकड़ी के बने हुए तख्त पर सोना चाहिए, अपने उद्योग में आतापी होकर और अप्रमत होकर विहार करना चाहिए, सीखना चाहिए।[१६८]

जातरूप रजत-विरमण – जीवनयापन के लिए बौद्ध मान्यता के अनुसार भिक्षु को त्रि चीवर भिक्षा-पात्र, पानी छानने के लिए छन्ने से युक्त पात्र, उस्तरा आदि सीमित वस्तुएं रखने का विधान है। जैसा *सुत्तनिपात* में कहा गया है कि मुनि को परिग्रह में लिप्त नहीं रहना चाहिए। क्योंकि मनुष्य खेती,वास्तु, हिरण्य, गो, अश्व, दास आदि अनेक पदार्थों की लालसा करता है, फलत: वासनाएँ उसे दबाती हैं और बाधाएँ मर्दन करती हैं। तब वह पानी में टूटी नाव की तरह दु:ख के घेरे में पड़ता है।[१६९] इतना ही नहीं बल्कि यहाँ तक कहा गया है कि भिक्षु संघ या गृहस्थ उपासकों के द्वारा प्राप्त वस्तुओं को मात्र उपयोग में ला सकता है, परन्तु उसका स्वामी नहीं कहला सकता।

तीन गुप्ति (कर्म)

बौद्ध परम्परा में गुप्ति के स्थान पर कर्म शब्द का प्रयोग किया गया है। ऐसे *सुत्तनिपात* में एक जगह गुप्ति शब्द का प्रयोग हुआ है।[१७०] मन, वचन और काय से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रशस्त प्रवृत्तियों को रोकना गुप्ति है।[१७१] *बुद्ध* ने कहा है- मन, वचन और शरीर तीन शुचिभाव हैं।[१७२] निर्लोभी होना, अक्रोधी होना, सम्यक् दृष्टिवाला होना मन का शुचि भाव है। इसी प्रकार असत्य से विरत रहना, चुगली खाने से विरत रहना, व्यर्थ बोलने से विरत रहना वचन शुचिता तथा प्राणी हिंसा से विरत रहना, चोरी से विरत रहना, कामभोग सम्बन्धी मिथ्याचार से विरत रहना शरीर शुचिता है।

समितियाँ

बौद्ध ग्रन्थों में समिति का कहीं स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है। हाँ! कहीं-कहीं कुछ ऐसे तथ्य अवश्य मिलते हैं जिनको समितियों की संज्ञा दी जा सकती है। यथा- *संयुक्त-निकाय* में *बुद्ध* ने कहा है- भिक्षुओं, भिक्षु आने-जाने में सचेत रहता है, देखने-भालने में सचेत रहता है, समेटने-पसारने में सचेत रहता है। संघाटी, पात्र और चीवर धारण करने में सचेत रहता है। मल-मूत्र विसर्जन में सचेत रहता है। इस प्रकार जाते, खड़े होते, बैठते, जागते, कहते, चुप रहते सचेत रहता है।[१७३]

इसी प्रकार अन्य ग्रंथों में भी समितियों के वर्णन उपलब्ध होते हैं। *विनयपिटक* एवं *सुत्तनिपात* के अनुसार-

१. आवागमन की क्रिया में सावधानीपूर्वक मन्थर गति से गमन करना चाहिए, गमन करते समय वरिष्ठ भिक्षुओं से आगे नहीं चलना चाहिए। साथ ही चलते समय नजर नीचे की ओर रखनी चाहिए तथा न तो जोर-जोर से हँसना चाहिए और न बातचीत ही करते हुए चलना चाहिए।[१७४] जैन परम्परा में इसे ईर्या समिति कहा जाता है।

२. भिक्षावृत्ति के समय भिक्षु चुपचाप रहे, रात्रि बीतने पर सुबह भिक्षुओं को भिक्षा के लिए गाँव में पैठना चाहिए। यदि भिक्षा में कुछ मिले तो अच्छा नहीं मिले तो अच्छा। इस तरह दोनों अवस्थाओं में अविचलित रहकर वन में चला आये। भिक्षु न तो किसी का निमंत्रण स्वीकार करे और न ही किसी द्वारा लाये गये भोजन को ग्रहण करे।[१७५] जैन परम्परा में इसे एषणा-समिति कहा गया है।

३. असमय में विचरण न करना। असमय में विचरण करनेवाले को आसक्तियाँ लग जाती हैं। अत: असमय में ज्ञानी पुरुष को विचरण नहीं करना चाहिए।[१७६] यह भी एषणा-समिति के अन्तर्गत ही आता है।

४. वाणी में संयम रखना, मित्तभाषी होना, विनीत होना, जो विनीत होता है वही धर्म और अर्थ को प्रकाशित करता है।[१७७] जैन परम्परा में इसे भाषा-समिति कहते हैं। इसी तरह अविवेकपूर्ण वचन न बोलकर विवेकपूर्ण वचन बोलना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार बौद्ध परम्परा में यद्यपि समितियों का स्वतंत्र रूप से कहीं वर्णन नहीं मिलता। फिर भी, भिक्षुओं के आवागमन, भाषा, भिक्षा एवं वस्तुओं के आदान-प्रदान व मल-मूत्र विसर्जन आदि पर विचार किया गया है।

परीषह

बौद्ध परम्परा में भी भिक्षु जीवन में आनेवाले कष्टों को समभावपूर्वक सहन करने का निर्देश दिया गया है। जैन परम्परा में २२परीषहों का वर्णन आया है। जिसे एक साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, जबकि बौद्ध परम्परा में इसे बाधक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है तथा उनसे बचने का निर्देश दिया गया है। *अंगुत्तरनिकाय* के अनुसार दु:खपूर्वक, तीव्र, प्रखर, कटु, प्रतिकूल, बुरी, प्राणहर शारीरिक वेदनाएं आदि को सहन करने का प्रयास करना चाहिए।[१७८] इसी प्रकार *सुत्तनिपात* में भी कहा गया है कि धीर, स्मृतिवान, संयत आचरणवाले भिक्षु को डसनेवाली मक्खियों से, सर्पों से, पापी मनुष्यों के द्वारा दी जानेवाली पीड़ा से तथा चतुष्पदों से भयभीत नहीं होना चाहिए, बल्कि इन बाधाओं का सामना करना चाहिए। रोग, पीड़ा, भूख-वेदना आदि को सहन करना चाहिए।[१७९]

अत: भिक्षुओं को प्रज्ञापूर्वक कल्याणरत हो उन बाधाओं को दूर करना चाहिए, जो साधना-मार्ग में बाधक हैं।[१८०]

तुलना

जैन एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में योग-साधना के आधारभूत तत्त्वों का अध्ययन करने पर जो समानताएँ और विषमताएँ उभरकर सामने आयीं, वे इस प्रकार हैं-

१. दोनों परम्पराओं में गृहस्थ उपासक के लिए निषिद्ध व्यवसायों का वर्णन मिलता है। यदि अन्तर है तो ये कि जैन परम्परा में उसकी संख्या १५ है तथा बौद्ध परम्परा में ५ है।

२. जैन परम्परा में गृहस्थ उपासकों के लिए जहाँ महाव्रतों को सरलता का रूप प्रदान करते हुए अणुव्रतों का विधान किया गया है, वहीं बौद्ध परम्परा में पंचशील का वर्णन देखने को मिलता है। यदि अन्तर है तो यह कि बौद्ध परम्परा में भिक्षु और गृहस्थ दोनों के लिए पंचशील की एक ही पद्धति बतायी गयी है। जैसा कि *बौद्धचर्या* में वर्णन है कि गृहस्थ उपासक के लिए वर्णित प्राणातिपात–विरमण में श्रावक को स्थावर एवं त्रस दोनों ही प्राणियों की हिंसा से विरत रहना है। जबकि एक श्रावक के लिए स्थावर जीवों की हिंसा से वंचित रह पाना संभव प्रतीत नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. जैन परम्परा में अणुव्रतों का पालन जहाँ छः भंगों में किया जाता है वहीं बौद्ध परम्परा में नौ भंगों से पालन करने का विधान है, क्योंकि *सुत्तनिपात* में हिंसा विरमण, मृषा विरमण और अदत्तादान विरमण में कृत, कारित और अनुमोदित की कोटियों का विधान किया गया है, जो मनसा, वाचा और कर्मणा की दृष्टि से नौ हो जाते हैं।

४. जैन परम्परा में पाँच अणुव्रतों के साथ तीन गुणव्रतों की प्रतिज्ञा जीवनपर्यन्त के लिए होती है। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी पंचशील को जीवनपर्यन्त के लिए ग्रहण किया जाता है। बौद्ध परम्परा के शेष तीन शील जिन्हें उपोसथ शील कहा जाता है, शिक्षाव्रतों के समान एक विशेष अवधि के लिए ग्रहण किया जाता है।

५. जैन परम्परा के पंचमहाव्रत एवं रात्रिभोजन-निषेध तथा बौद्ध परम्परा के दस भिक्षुशील में बहुत कुछ समानताएँ देखने को मिलती हैं। फिर भी, कुछ असमानताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। जैसा कि वर्णित है जैन परम्परा में श्रमण कृत, कारित और अनुमोदित हिंसा के साथ-साथ औद्देशिक हिंसा से भी बचते हैं। औद्देशिक हिंसा से अभिप्राय है यदि कोई श्रमण के निमित्त से हिंसा करता है और श्रमण को यह ज्ञात हो जाता है कि उसके निमित्त से हिंसा की गयी है तो श्रमण ऐसे हिंसक उपायों से प्राप्त आहार आदि को ग्रहण नहीं करता है। जबकि बुद्ध प्राणीवध के द्वारा निर्मित मांस आदि को तो निषिद्ध मानते थे, लेकिन सामान्य भोजन का वे औद्देशिकता से विचार नहीं करते थे। इसका मूल कारण उनका अग्नि, जल आदि को जीव न मानना प्रतीत होता है।

६. जैन परम्परा में अप्रिय सत्य वचन को हितबुद्धि से बोलना वर्जित माना गया हैं, जबकि बौद्ध परम्परा में अप्रिय सत्य वचन को हित बुद्धि से बोलना वर्जित नहीं माना गया है।

७. जैन परम्परा में शीलों का पालन बड़ी ही कठोरता से किया जाता है, वहीं बौद्ध परम्परा में उतनी कठोरता का विधान नहीं है। शीथिलता सम्बन्धी दण्ड-व्यवस्था की चर्चा अगले अध्याय में की गयी है।

८. जैन परम्परा में गुप्तियों और समितियों का विधान है। बौद्ध परम्परा में कहीं स्पष्ट रूप से वर्णन तो नहीं मिलता, किन्तु तीन गुप्तियों और पाँच समितियों से सम्बन्धित कुछ कथन मिलते हैं, जिन्हें गुप्तियों और समितियों के रूप में व्यवहृत कर सकते हैं।

९. जैन परम्परा की भाँति बौद्ध परम्परा में श्रावकों के लिए परिग्रह-परिमाण एवं दिशा-परिमाण का कहीं स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं मिलता है।

१०. जैन परम्परा में २२ परीषह मान्य हैं और उन्हें आध्यात्मिक विकास के साधन के रूप में स्वीकार किये गये हैं। जबकि बौद्ध परम्परा में परीषहों की संख्या स्पष्ट नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हाँ! इतना जरुर कहा गया है कि भिक्षु जीवन में आनेवाले कष्टों को समभावपूर्ण सहन करना चाहिए। साथ ही बौद्ध परम्परा में परीषहों को आध्यात्मिक विकास में बाधक तत्त्व के रूप में से स्वीकार किया गया है।

सन्दर्भ

१. चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो, योगोस्तस्य च कारणम् ।
ज्ञान-श्रद्धान -चारित्ररूपं, रत्नत्रयं च सः।। योगशास्त्र, १/१५

२. ज्ञानदर्शनयोः करणसाधनत्वं कर्मसाधनचारित्रशब्दः। तत्त्वार्थवार्तिक, १/४

३. संसारकारणविनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमः सम्यक्-चारित्रम्-संसारः पंचविधः द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरिवर्तनभेदात् । तस्य कारणं कर्म अष्टिवधम्, तस्य विशेषणात्यन्तिकी निवृत्तिः संसारकारण विनिवृत्तिः, तां प्रत्यागूर्णस्योद्यतस्य, ज्ञानवत..... सम्यग्दृष्टिः प्रशस्त ज्ञानः तस्य ज्ञानवतः। क्रियां क्रियान्तराद्विंशिष्यते येन सविशेषः विशिष्टिर्वा विशेषः। स द्विविधो बाह्य आभ्यन्तरश्चेति।... तस्योपरमः सम्यक्-चारित्रिमत्युच्यते। वही, १/१/३

४. ध्यानं मनःसमायुक्तं मनस्तत्र चलाचलम् ।
वश्यं येन कृतं तस्य भवेद्वश्यं जगत्त्रयम् ।। योगप्रदीप, ७९

५. योगस्य हेतुर्मनसः समाधिः परं निदानं तपसश्चः योगः।
तपश्च मूलं शिवशर्म वल्लय मनः समाधिं भज तत्कथंचित्।। अध्यात्मकल्पद्रुम, ९/१५

६. इह विक्षिप्तं यातायातं श्लिष्टं तथा सुलीनं च।
चेतश्चतुः प्रकारं तज्ज्ञचमत्कारकारि भवेत् ।। योगशास्त्र, १२/२

७. श्लिष्टं स्थिरसानन्दं सुलीनमतिनिश्चलं परमानन्दम् ।
तन्मात्रक-विषयग्रहमुभयमपि बुधैस्तदाम्नातम् ।।वही, १२/४

८. प्रणिधिप्रवृतिविध्नजयसिद्धिविनियोगभेदतः प्रायः।
धर्म्मज्ञैराख्यातः शुभाशयः पंचधाऽत्र विधौ।। षोडशक, ३/६

९. वही, ३/७-११

१०. चारित्रिणस्तु विज्ञेयः शुद्धयपेक्षो यथोत्तरम् ।
ध्यानादिरूपो नियमात् तथा तात्त्विक एव तु ।। योगबिन्दु, ३७१

११. जैन आचार, डॉ०मेहता, पृ०-८३

१२. पाक्षिकादिभिदा त्रेधा, श्रावकस्तत्र पाक्षिकः ।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो, नैष्ठिकः साधकः स्वयुक् ।। धर्मामृत (सागार), १/२०

१३. चारित्रसार, पृ०-२०

१४. तत्र च गृहस्थधर्मोऽपि द्विविध :- सामान्यतो विशेषतश्चेति। धर्मबिन्दुप्रकरणम्, १/२

१५. जैन आचार, डॉ० मेहता, पृ०-८३,८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. सम्यक्त्वमूलानि पंचाणुव्रतानि गुणास्त्रयः।
शिक्षापदानि चत्वारि, व्रतानि गृहमेधिनाम। योगशास्त्र, २/१
१७. चारित्र प्राभृत, अष्ट प्राभृत, २२-२३
१८. धर्मामृत (सागार), २/२
१९. दशवैकालिक, ४/७; योगशास्त्र, २/१८
२०. योगशास्त्र, २/१८
२१. स्थूलप्राणातिपातादिभ्यो विरतिरणुव्रतानि पञ्चेति। धर्मबिन्दुप्रकरणम्, ३/१६
२२. उपासकदशांग, १, १३
२३. योगशास्त्र, २/२१
२४. समणोवासगस्स णं भंते। पुव्वामेव वणस्सतिसमारंभे पच्चक्खाते, से य पुढविं खणमाणे अन्नयरस्स रुक्खस्स मूलं छिंदेज्जा, से णं भंते। तं वतं अतिचरति? णो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु से तस्स अतिवाताए आउट्टति । व्याख्याप्रज्ञप्ति, ७/१/८
२५. उपासकदसाओ, ४५ तथा तत्त्वार्थसूत्र, ७/२०
२६. उपासकदशांग, १४
२७. श्रावक प्रतिक्रमण, दूसरा अणुव्रत।
२८. कन्यागोभूम्यलीकानि, न्यासापहरणं तथा।
कूटसाक्ष्यंच पंचेति, स्थूलासत्यान्यकीर्त्तयन् ।।योगशास्त्र, २/५४
२९. पुरुषार्थसिद्धियुपाय, ९१-९८
३०. अमितगति श्रावकाचार, ६/४९-५४
३१. उपासकाध्ययन, ३८३
३२. उपासकदशांग, १/४२ तथा देखें
मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः।तत्त्वार्थसूत्र, ७/२१
३३. जैनधर्म, पृ०-१८७
३४. धर्मामृत (सागार), ४/४५
३५. पुरुषार्थसिद्धियुपाय, १८७
३६. अमितगति श्रावकाचार, ७/४
३७. योगशास्त्र, ३/९१
३८. धर्मबिन्दु, ३/२४
३९. दिवसे वा रजन्यां वा, स्वप्ने वा जागरेऽपि वा।
सशल्य इव चौर्येण, नैति स्वास्थ्यं नरः क्वचित् ।। योगशास्त्र, २/७०
४०. उपासकदशांग, १/४३ तथा योगशास्त्र, ३/९२
४१. परस्वस्याप्रदतस्यादानं स्तेयमुदाहृतम।
सर्वस्वाधीनतोयादेरन्यत्र तन्मतंसताम् ।। प्रबोधसार, ६१
४२. उपासकदशांग, १/४४ ४३. अमितगति श्रावकाचार, ६/४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४४. ३/१३ ४५. ७/२०
४६. ११८ ४७. ३३८
४८. १३/५२
४९. उपासकदशांग, १/४४ तथा देखें
इत्वरात्तागमोऽनात्तागतिरन्य–विवाहनम् ।
मदनात्याग्रहोऽनङ्गक्रीड़ा च ब्रह्मणि स्मृताः।। योगशास्त्र, ३/९३
परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशाः, तत्त्वार्थ सूत्र, ७/२३
५०. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३३९-३४०
५१. धनधान्यस्य कुप्यस्य, गवादेः क्षेत्रवास्तुनः।
हिरण्यहेम्नश्च संख्याऽतिक्रमोऽत्र परिग्रहे।। योगशास्त्र, ३/९४ तथा देखें-
क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः। तत्त्वार्थसूत्र, ७/२४
५२. धर्मामृत (सागार), ५/१
५३. १/११, ५४. ७/१६, ५५. ४४८-४५९, ५६. पृ०–८, ५७. ६/७६-९५, ५८. ६/२४, ५९. पृ०–७, ६०. ३६१-३८६, ६१. ५/१, ६२. ३/१, ६३. ७/२१, ६४. १८/४६, ६५. २१४-२१६, ६६. १०/६५,
६७. दशस्वपि कृता दिक्षु यत्र सीमा न लंघ्यते ।
ख्यातं दिग्विरतिरिति प्रथमं तद्गुणव्रतं ।। योगशास्त्र, ३/१
६८. दिग्वलयं परिगणित कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि ।
इति सङ्कल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्यै ।। रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ३/२२
६९. पीडा पापोदेशाद्यैर्देहाद्यर्थाद्विनाऽङ्गिनाम् ।
अनर्थदण्डस्तत्त्यागोऽनर्थदण्डव्रतं मतम् ।। धर्मामृत(सागार), ५/६
७०. जैन धर्म-दर्शन, डॉ० मेहता, पृ०-५४७
७१. धर्मामृत (सागार), ५/२० ७२. तत्त्वार्थसूत्र, ७/१६
७३. चारित्र पाहुड, २५ ७४. हरिवंशपुराण , १८/४७
७५. आदिपुराण, १०/६६ ७६. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ४/१
७७. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३५२, ३५५, ३५८,
७८. धर्मामृत (सागार), ५/२४
७९. रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम्।। पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १४८
८०. उपासकदशांग, १/४९
८१. चतुष्पर्व्यां चतुर्थादि, कुव्यापारनिषेधतम्।
ब्रह्मचर्य-क्रिया-स्नानादित्यागः पोषधव्रतम्।। योगशास्त्र, ३/८५
८२. वही, ३/११७ ८३. वही, ३/८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८४. दानं चतुर्विधहारपात्राच्छादनसद्मनाम्।
अतिथिभ्योऽतिथिसंविभागव्रतमुदीरितम्।। वही, ३/८७
८५. वही, ३/११८
८६. जैन धर्म-दर्शन, डॉ० मेहता, पृ०- ५६०
८७. धर्मामृत (सागार), ३/२-३
८८. दशाश्रुतस्कन्ध, ६-७, समवायांग, ११
८९. वसुनन्दिश्रावकाचार, २०५-३०१
९०. जैन धर्म-दर्शन, डॉ० मेहता, पृ०- ५६४
९१. श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगणैः सह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः।। रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ५/१५
९२. पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति पुण तिण्णि।
सिक्खावयाणि चत्तारि जाण विदियम्मि ढाणाम्मि।। वसुनन्दिश्रावकाचार, २०७
९३. चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसंध्यमभिवन्दी।। रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ५/१७
९४. पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषध-नियम-विधायी प्रणिधिपरः प्रोषधानशनः।। वही, ७/१४०
९५. दशाश्रुतस्कन्ध, ६/७
९६. निरूढसप्तनिष्ठोऽङ्गिघाताङ्गत्वात् करोति न।
नकारयति कृष्यादीनारम्भविरतस्त्रिधा।। धर्मामृत (सागार), ७/२१
९७. मोत्तूण वत्थमेत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेसं।
तत्थ वि मुच्छंण करेइ जाणइ सोसावओ णवमो ।। वसुनन्दिश्रावकाचार, २९९
९८. नवनिष्ठापरः सोऽनुमतिण्युपरतः त्रिधा।
यो नानुमोदते ग्रन्थमारम्भं कर्म चैहिकम् ।। धर्मामृत (सागार), ७/३०
९९. देवसेवा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने-दिने ।।उपासकाध्ययन, ४६/९११
१००. योगशतक, ३३, ३४, ३५,
१०१. मूलाचार, १/२-३
१०२. बोलसंग्रह, भाग ६, पृ०-२२८
१०३. जैन धर्म में अहिंसा, डॉ० सिन्हा, पृ०-१८४
१०४. आचारांगसूत्र, २/१५/७७८
१०५. वही, १०६. वही, १०७. वही, १०८. वही,
१०९. मूलाचार, २९०
११०. तत्त्वार्थसूत्र, पृ०-१६९ १११. वही,
११२. वही, ११३. वही,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११४. तवेसु वा उत्तम बंभचेरं-सूत्रकृतांगसूत्र, उद्धृत-प्रश्न व्याकरण सम्पा०उपाध्याय अमरमुनि, पृ०-७१६
११५. आचारांगसूत्र, २/१५/७८६
११६. गामं णगरं रण्णं थूलं सच्चित्तं बहु सपडिवक्खं ।
अज्झत्थ बाहिरत्थं तिविहेण परिग्गहंवज्जे ।। मूलाचार, ५/२९३
११७. एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता असुभत्थेसु सव्वसो ।। उतराध्ययन, २४/२६
११८. सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । योगसार (योगीन्दु) दोहा-३०,पृ०-३६६
११९. एताश्चारित्रगात्रस्य, जननात्परिपालनात्।
संशोधनाच्च साधूनां मातरोऽष्टौ प्रकीर्त्तिता।। योगशास्त्र, १/४५
१२०. उत्तराध्ययन, २४/१ १२१. वही, २४/२
१२२. संज्ञादिपरिहारेण यन्मौनस्यावलम्बनम्।
वाग्वृत्तेः संवृतिर्वा या, सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते।। योगशास्त्र, १/४२
१२३. उत्तराध्ययन, २४/२३
१२४. थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स।
परिहारो वयगुत्ती अलीयादिणियत्तिवयणं।। नियमसार, ६७
१२५. वही, ६८ १२६. उत्तराध्ययन, २४/२४-२५
१२७. वही, २४/२६
१२८. ताश्च संवेगवैराग्ययमप्रशमसिद्धये।
आलानिता मनःस्तम्भे मुनिभिर्मोक्षुमिच्छुभिः।। ज्ञानार्णव, २/६
१२९. योगशास्त्र, ४/५५-५६ १३०. उत्तराध्ययन, १९/१३
१३१. शान्तसुधारस, २/४
१३२. योगशास्त्र, ४/६६
१३३. वही, ४/७०
१३४. ज्ञानार्णव, २/१४०-१४८
१३५. चतारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंसि य वीरियं।। उत्तराध्ययन, ३/१
१३६. मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः। तत्त्वार्थसूत्र, ९/८
१३७. क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोश-
वधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि। वही, ९/९
१३८. उत्तराध्ययन, द्वितीय अध्ययन
१३९. समवायांग, २२/१
१४०. विशुद्धिमार्ग (अनु०धर्मरक्षित), भाग-१, पृ०- १९-२५
१४१. वही,पृ०-४९ १४२. अंगुत्तरनिकाय, निपात-५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४३. सुत्तनिपात, २६/१९-२३ १४४. वही, २६/२४-२६
१४५. दीघनिकाय, ३/८/४ १४६. वही, ३/८/४
१४७. पुरित्थमा दिसा मातापितरो वेदितब्बा,
उत्तरा दिसा मित्तामच्चा वेदितब्बा, हेट्ठिमा,
दिसा दासकम्मकरा वेदितब्बा, उपरिमा
दिसा समणब्रह्मण वेदितब्बा । वही, ३/८/५
१४८. वही, ३/८/५
१४९. वही, ३/८/५, ३/८/२
१५०. पञ्चिमा, भिक्खवे, वणिज्जा उपासकेन अकरणीया।
कतमा पञ्च? सत्थवणिज्जा, सत्तवणिज्जा,
मंसवणिज्जा, मज्जवणिज्जा, विसवर्णिज्जा-इमा,
खो, भिक्खवे, पञ्च वणिज्जा उपासकेन अकरणीया।।
अंगुत्तरनिकाय, निपात–५, पृ०–४५४
१५१. दीर्घनिकाय लक्खणसुत्त उद्धृत-जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ०–२८८
१५२. सुत्तनिपात-१२/१४-१५
१५३. सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्य उपसम्पदा स चित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं।।
धम्मपद, १८३ (सम्पा०- पं. राहुल सांकृत्यायन)
१५४. यो च समेति पापानि अणुं थूलानि सब्बसो ।
समितत्ता हि पापानं समणोति पवुच्चति ।। वही, २६५
१५५. विनयपिटक (महावग्ग), १/५६
१५६. माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एक पुत्तमनुरक्खे ।
एवंऽपि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं ।। सुत्तनिपात, ८/७
१५७. विनयपिटक (पं. राहुल सांकृत्यायन), पृ०–२३-३१
१५८. वही, पृ०–८
१५९. संयुक्तनिकाय, ९/१४ १६०. दीघनिकाय, २/३
१६१. विनयपिटक (पं. राहुल सांकृत्यायन), पृ०-२५
१६२. समग्गतो वा परिसग्गतो वा । एकस्स वेको न मुसा भणेय्य ।
न भासये भण तं नानुञ्ञा । सब्बं अभूतं परिवज्जयेय्य ।। सुत्तनिपात, २६/२२
१६३. मज्झिमनिकाय (अभयराज सुत्त), २/८/१-३, पृ०–६७-७१
१६४. विनयपिटक (पातिमोक्ख) पचित्तिय धम्म, पृ०–२३-२५
१६५. संयुक्तनिकाय, ४२/१, उद्धृत जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृ०– ३४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६६. अञ्ञन खो पनाहं भिक्खवे, रत्तिभोजना भुञ्जमानो अप्पाबाधतें च सञ्ञानामि..... ।
एथ, तुम्हे पि, भिक्खवे, अञ्ञत्रेव रत्तिभोजना भुञ्जथ।..... तुम्हे पि रत्तिभोजना भुञ्जमाना अप्पाबधतं च सञ्ञानिस्सथ अप्पातङ्कतं च तहुट्ठानं च बलं च फासुविहारं चा ति। मज्झिमनिकाय, कीटागिरिसुत्तं, ७०

१६७. अंगुत्तरनिकाय, ३/१०३

१६८. संयुक्तनिकाय, १९/८, उद्धृत जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, ५०-३४७

१६९. खेतं वत्थु हिरञ्ञं वा गवास्सं दासपोरिसं ।
थियो बन्धु पुथू कामे यो नरो अनुग्च्झति ।।
अबला नं बलीयन्ति मद्दन्ते नं परिस्सया ।
ततो नं दुक्खमन्वेति नावं भिन्नमिवोदकं ।। सुत्तनिपात, ३९/४-५

१७०. कायगुत्तो वचीगुतो आहारे उदरे यतो ।
सच्चं करोमि निद्दान सोरच्चं मे पमोचनं ।। सुत्तनिपात, ४/३

१७१. अंगुत्तरनिकाय, ३/१२० १७२. वही, ३/११८

१७३. संयुक्तनिकाय, ३४/५/१/७ १७४. विनयपिटक, पृ०-१०१-१०३

१७५. सुत्तनिपात, ३७/३२-३५

१७६. न वे विकाले विचरेय्य भिक्खु । गामं च पिण्डाय चरेय्य काले ।
अकलाचारिं हि सजन्ति संगा । तस्मा विकाले न चरन्ति बुद्धा ।। वही, २६/११

१७७. यो मुखसञ्ञतो भिक्खू मन्तभाणी अनुद्धतो ।
अत्थं धम्मञ्च दीपेति मधुरं तस्स भासितं ।। धम्मपद, ३६३

१७८. अंगुत्तरनिकाय, ३/४९ १७९. सुत्तनिपात, ५४/१०-१२

१८०. पञ्ञं पुरक्खत्वा कल्याणपीति । विक्खंभये तानि परिस्यानि ।
अरतिं सहेथ सयनह्हि पन्ते । चतुरो सहंय्य परिदेवधम्ये ।। वही, ५४/१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठ अध्याय

ध्यान

भारतीय योग परम्परा में ध्यान का अपना एक विशिष्ट-स्थान है। भारतीय परम्परा का ऐसा कोई भी सम्प्रदाय या दर्शन (चार्वाक को छोड़कर) नहीं है जिसने योग या ध्यान-प्रक्रिया को स्वीकार न किया हो। चाहे वह ब्राह्मण परम्परा हो या श्रमण। सभी ने ध्यान की महत्ता पर प्रकाश डाला है और उसे अपनी चर्या-पद्धति में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। जहाँ तक ध्यान के प्रारम्भ की बात है तो ध्यान की प्रक्रियाओं का प्रारम्भ पूर्व वैदिक काल में ही हो चुका था। कोई भी आध्यात्मिक उपलब्धि बिना ध्यान-साधना के प्राप्त होना संभव नहीं है, क्योंकि यह सर्वविदित है कि पवित्र साधना से पवित्र साध्य की उपलब्धि होती है। सही माने में देखा जाय तो ध्यान प्राचीन काल से चलता आ रहा एक अभ्यास है जिसे उन सभी साधकों एवं विचारकों ने अपनाया है जिन्होंने विश्व की समस्याओं तथा मानव की आभ्यंतरिक संभावनाओं का विकास करना चाहा है।

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप

जैन योग साधना-पद्धति में ध्यान का स्थान सर्वोपरि है। यदि यह कहा जाय कि ध्यान-साधना जैन योग-साधना का पर्याय है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसका मूल कारण है कि ध्यान के माध्यम से ही साधक में मानसिक शक्ति और सामर्थ्य का पुञ्ज प्रकट होता है अर्थात् मानव की सभी शक्तियाँ जाग्रत होती हैं जिससे कर्मों की शृंखला का अन्त होता है अर्थात् कर्मों का क्षय होता है। फलस्वरूप साधक संसार के आवागमन की प्रक्रिया से मुक्त हो जाता है और आवागमन की प्रक्रिया से मुक्त होना ही सच्चा सुख माना जाता है। जैसा कि *आत्मानुशासन* में कहा गया है— जिसमें असुख का लेश भी न हो उसे ही यथार्थ सुख समझना चाहिए।[1] ऐसा सुख जीव को कर्म-बंधन से रहित हो जाने पर मुक्ति में ही प्राप्त हो सकता है, जन्म-मरण रूपी संसार में यह सम्भव नहीं।[2]

ध्यान का अर्थ एवं लक्षण

जैन परम्परा में संयम अथवा चारित्र-विशुद्धि के लिए ध्यान को सर्वोत्तम साधन माना गया है। साथ ही जैन परम्परा में ध्यान का जितना सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन किया गया है शायद ही किसी परम्परा में किया गया हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म एवं दर्शन में 'ध्यान' के लिए 'झाण' अथवा 'झान' शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। ध्यान शब्द *'ध्यै चिन्तायाम'* धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है-चिन्तन करना। किन्तु ध्यान का यह अर्थ उत्पत्ति की दृष्टि से है, प्रवृत्तिलभ्य दृष्टि से कुछ और ही अर्थ निकलता है। ध्यान का अर्थ चिन्तन नहीं बल्कि चिन्तन का एकाग्रीकरण अर्थात् चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना या उसका निरोध करना, ध्यान का अर्थ होता है।[३]

जैन ग्रन्थ *तत्त्वार्थसूत्र* में मन की वृत्ति का एक ही वस्तु पर अवस्थान अर्थात् मन की वृत्तियों को एक स्थान पर केन्द्रित करने को ध्यान कहा गया है।[४] ध्यान मन की बहुमुखी चिन्तनधारा को एक ही ओर प्रवाहित करता है जिससे साधक अनेक-चित्तता से दूर हटकर एक चित्त में स्थित होता है। एक चित्त में स्थित होना ही ध्यान है। *सर्वार्थसिद्धि* के अनुसार निश्चल अग्निशिखा के समान अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है।[५] *तत्त्वार्थसूत्र* में ही आगे कहा गया है कि उत्तम संहननवाले का एकाग्रचिन्ता निरोध ध्यान है।[६] स्थानांग में[७] संहनन के छः प्रकार बताये गये हैं- १. वज्र ऋषभनाराच, २. ऋषभनाराच, ३.नाराच, ४. अर्द्धनाराच, ५. कीलिका, ६. सम्वर्तक। इनमें से प्रथम तीन संहनन ध्यान के लिए उत्तम मान गये हैं। इसी प्रकार ध्यान में स्थिर अध्यवसाय को ध्यान का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि एकाग्रता को प्राप्त मन ही ध्यान है,[८] अर्थात् परिस्पन्दन से रहित एकाग्र चिन्तन का निरोध ध्यान है।[९] *आदिपुराण*[१०] में चित्त को एकाग्ररूप से निरोध करना ध्यान का लक्षण बतलाया गया है। ध्यान ही योग है और यही प्रसंख्यान समाधि के नाम से भी जाना जाता है।[११] *तत्त्वानुशासन* में ध्यान को संवर और निर्जरा का कारण माना गया है।[१२] वस्तुतः राग, द्वेष और मिथ्यात्व के सम्पर्क से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करनेवाला जो विषयान्तर के संचार से रहित ज्ञान होता है, वह ध्यान है। चित्त को किसी एक वस्तु या बिन्दु पर अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा देर तक टिका पाना मुश्किल होता है, साथ ही एक मुहूर्त ध्यान में व्यतीत हो जाने के पश्चात् चित्त स्थिर नहीं रह पाता। संयोगवश यदि हो भी जाये तो ध्यान की अपेक्षा चिन्तन के नाम से जाना जायेगा अथवा आलम्बन की भिन्नता से दूसरा ध्यान कहलायेगा।[१३] ध्यान की इन सब परिभाषाओं और लक्षणों से बिल्कुल भिन्न परिभाषा *तत्त्वार्थाधिगमसूत्र* में बताया गया है। कहा गया है कि वचन, काय और चित्त का निरोध ही ध्यान है।[१४] इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा में ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही नहीं माना गया है बल्कि वह मन, वाणी और शरीर तीनों से सम्बन्धित है। इसी आधार पर ध्यान की पूर्ण परिभाषा देते हुए *आवश्यकनिर्युक्ति* में कहा गया है-शरीर, वाणी और मन की एकाग्र प्रवृत्ति तथा उसकी निरंजन दशा,निष्कम्प दशा ध्यान है।[१५] इसे दूसरी भाषा में इस प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पष्ट किया जा सकता है कि शरीर का शिथिलीकरण या स्थिरीकरण कायिक ध्यान है। वाणी का ध्येय के साथ योग अर्थात् ध्येय और वचन में समापत्ति यानी दोनों का एकरस हो जाना वाचिक ध्यान है। मन का ध्येय के साथ योग मानसिक ध्यान है। सही माने में देखा जाय तो ध्यान वह प्रक्रिया है जिसमें संसार-बंधनों को तोड़नेवाले वाक्यों के अर्थों का चिन्तन किया जाता है, यानी समस्त कर्ममल नष्ट होने पर केवल वाक्यों का आलम्बन लेकर आत्मस्वरूप में लीन होने का प्रयास किया जाता है। *तत्त्वानुशासन* तथा *ज्ञानार्णव* में ध्यान की इस अवस्था को समरसीभाव[१६] तथा सवीर्यध्यान[१७] के नाम से इंगित किया गया है। इन सब परिभाषाओं से कुछ अलग हटकर युवाचार्य महाप्रज्ञ जी ने ध्यान का लक्षण बताया है। उन्होंने कहा है-ध्यान चेतना की वह अवस्था है जो अपने आलम्बन के प्रति एकाग्र होती है अथवा बाह्य शून्यता होने पर भी आत्मा के प्रति जागरुकता अबाधित रहती है।[१८] आगे उन्होंने लिखा है कि चिन्तन-शून्यता ध्यान नहीं और वह चिन्तन भी ध्यान नहीं, जो अनेकाग्र है। एकाग्र चिन्तन ही ध्यान है, भावक्रिया ध्यान है और चेतना के व्यापक प्रकाश में चित्त विलीन हो जाता है, वह ध्यान है।[१९]

इस प्रकार जैन धर्म-दर्शन में मन, वचन और काय की एकाग्र प्रवृत्ति को ही ध्यान माना गया है। परन्तु यह सहज ही प्रश्न उठ खड़ा होता है कि हम चित्त की एकाग्रता को ही ध्यान की संज्ञा क्यों देते हैं? उत्तरस्वरूप *आवश्यकनिर्युक्ति* का यह उद्धरण दिया जा सकता है कि जहाँ मन एकाग्र व अपने लक्ष्य के प्रति व्यापृत होता है तथा शरीर और वाणी भी उसी लक्ष्य के प्रति व्यापृत होते हैं, वहाँ मानसिक, कायिक और वाचिक ये तीनों ध्यान एक साथ हो जाते हैं।[२०] तात्पर्य है कि जहाँ कायिक या वाचिक ध्यान होता है वहाँ मानसिक ध्यान भी होता है, किन्तु वहाँ कायिक और वाचिक ध्यान की प्रधानता नहीं होती इसलिए वह मानसिक ही कहलाता है। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि मनसहित वाणी और काय के व्यापार का नाम भावक्रिया है और जो भावक्रिया है वह ध्यान है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा में जड़तामय शून्यता व चेतना की मूर्च्छा को ध्यान कहना इष्ट नहीं माना गया है।

ध्याता, ध्येय और ध्यान की त्रिपुटी

ध्यान के प्रमुख तीन अंग या तत्त्व माने गये हैं— ध्याता, ध्येय और ध्यान।[२१] परन्तु *ज्ञानार्णव* में ध्याता, ध्येय और ध्यान के अतिरिक्त फलम्,एक चौथे अंग का भी वर्णन है।[२२] ध्यान करनेवाले को ध्याता कहते हैं। ध्याता के लक्षण को निरूपित करते हुए *ज्ञानार्णव* में कहा गया है कि ध्याता में निम्नलिखित आठ गुण[२३] रहने आवश्यक हैं वरना ध्यान-सिद्धि नहीं हो सकती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) ध्याता मुमुक्षु हो, (२) संसार से विमुक्त हो, (३) क्षोभरहित व शान्तचित्त हो, (४) वशी हो, (५) स्थिर हो, (६) जितेन्द्रिय हो, (७) संवरयुक्त हो, (८) धीर हो।

जिस किसी वस्तु या तत्त्व का आलम्बन लिया जाता है, वह ध्येय कहलाता है। इसे हम यदि और सरलभाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि जिसका ध्यान किया जाता है वह ध्येय कहलाता है। साधक को बिना किसी ध्येय के ध्यान होना असंभव है। *चारित्रसार* में कहा गया है- जो शुभाशुभ परिणामों का कारण हो वह ध्येय है।[२४]

इसी प्रकार ध्याता का ध्येय में स्थिर हो जाना, एकाग्रचित्त होना ध्यान कहलाता है। *तत्त्वानुशासन* में षट्कारमयी आत्मा को ही ध्यान कहा गया है।[२५] तात्पर्य है कि निश्चय नय से कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण- ये षटकारमयी आत्मा कहलाती हैं और ये षट्कारमयी आत्मा ही ध्यान है।

ध्यान-साधना की सफलता के साधन

ध्यान-साधना की सफलता के लिए जैन ग्रन्थों में ध्यान की कुछ सामग्रियाँ बतायी गयी हैं, जो इस प्रकार हैं- परिग्रहों का त्याग, कषायों का निग्रह, व्रत-धारण, मन तथा इन्द्रियों का संयम आदि ध्यान की उत्पत्ति में सहायक सामग्री हैं।[२६] साथ ही साथ साधक को वाणी पर संयम तथा शरीर की चंचलता का निषेध करना चाहिए।[२७] *तत्त्वानुशासन* में ध्यान की सिद्धि के लिए सद्गुरु, सम्यक्-श्रद्धान्, निरन्तर अभ्यास तथा मन स्थिरता पर विशेष प्रकाश डाला गया है।[२८] ध्यान की प्रक्रिया को सामग्री के रूप में प्रस्तुत करते हुए *भगवती आराधना* की विजयोदया टीका में कहा गया है कि नाक के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिर करके एक विषयक परोक्षज्ञान में चैतन्य को रोककर शुद्ध चिद्रूप अपनी आत्मा में स्मृति का अनुसंधान करना चाहिए।[२९]

ध्यान के प्रकार

जैनागमों में मुख्य रूप से दो प्रकार के ध्यानों का वर्णन मिलता है-प्रशस्त ध्यान और अप्रशस्त ध्यान।[३०] जो ध्यान शुभ परिणामों से किया जाता है उसे प्रशस्त ध्यान कहते हैं और जो अशुभ परिणामों से किया जाता है उसे अप्रशस्त ध्यान कहते हैं। इन दो ध्यान के दो-दो भेद हैं। प्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान आते हैं और अप्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत आर्त और रौद्र। विभिन्न जैन ग्रन्थों में ध्यान के इन्हीं चार भेदों (धर्म, शुक्ल, आर्त और रौद्र) का उल्लेख मिलता है।[३१] चूँकि आर्त और रौद्रध्यान अप्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत आते हैं, इसलिए इन दो ध्यानों को संसार के कारण और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार के हेतु के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार धर्म और शुक्लध्यान चूँकि प्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत आते हैं, इसलिए इन्हें संसार से मुक्ति के कारण एवं कर्मों का क्षय करके मोक्ष के हेतु के रूप में स्वीकार किया गया है।[३२] इसकी पुष्टि अन्य ग्रन्थों से भी होती हैं।[३३]

परन्तु कुछ जैन ग्रन्थों में ध्यान के दो प्रकारों का ही उल्लेख मिलता है। यथा- *वीरसेन* विरचित *षट्खण्डागम* की धवला टीका में ध्यान के केवल धर्म और शुक्ल इन दो भेदों का ही वर्णन देखने को मिलता है।[३४] इसी प्रकार आचार्य *हेमचन्द्र* ने भी ध्यान के दो ही भेदों (धर्म और शुक्ल) को स्वीकार किया है।[३५] *तत्त्वार्थसार* में *अमृतचंद्र सूरि* ने भी ध्यान के चार प्रकारों को स्वीकार किया है किन्तु बाद के दो ध्यानों को तप के अंग के रूप में वर्णित किया है।[३६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ जैनाचार्यों ने ध्यान के चार प्रकारों को माना है तो कुछ ने दो को। परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ध्यान के दो ही भेद हैं, बल्कि जैन साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि आगमों एवं बाद के साहित्य में भी ध्यान के चार प्रकार बताये गये हैं, जो सर्वमान्य हैं।

आर्तध्यान

आर्त का अर्थ होता है- दु:ख। दु:ख से उत्पन्न होनेवाला अथवा प्रिय वस्तु के वियोग एवं अप्रिय वस्तु के संयोग आदि के निमित्त से या आवश्यक मोह के कारण सांसारिक वस्तुओं में रागभाव का होना आर्तध्यान है। वस्तुओं के प्रति रागभाव अज्ञान के कारण होता है। फलत: जीव अवांछनीय वस्तु की प्राप्ति और वांछनीय वस्तु की अप्राप्ति के प्रति दु:खी होता है और यह दु:ख-क्लेश रूप परिणाम ही आर्तध्यान के नाम से जाना जाता है। *ज्ञानार्णव* के अनुसार चेतना की अरति या वेदनामय एकाग्र परिणति को आर्तध्यान कहते हैं।[३७] आचार्य महाप्रज्ञ ने भी आर्तध्यान की इस परिभाषा की पुष्टि अपनी पुस्तक 'संस्कृति के दो प्रवाह' में की है।[३८]

आर्तध्यान के प्रकार

(१) अनिष्ट-वस्तु-संयोग (२) इष्ट-वस्तु-वियोग (३) प्रतिकूल-वेदना और (४) निदान— ये आर्तध्यान के चार प्रकार बताये हैं।[३९]

अनिष्ट-वस्तु-संयोग आर्तध्यान

अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए सतत् चिन्तन करना अनिष्ट-वस्तु-संयोग आर्तध्यान कहलाता है।[४०] या यूँ कहा जा सकता है कि अनिष्ट वस्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का संयोग होने पर तद्भव दुःख से व्याकुल आत्मा उसे दूर करने के लिए जो सतत् चिन्तन करती[४१] रहती है, वही अनिष्ट-वस्तु-संयोग आर्तध्यान है। इसे यदि हम और भी सरल भाषा में समझना चाहे तो इस प्रकार कह सकते हैं कि अग्नि, सर्प, सिंह आदि चल तथा दुष्ट राजा, शत्रु आदि स्थिर और शरीर, स्वजन, धन आदि के निमित्त से मन को जो क्लेश होता है वह अनिष्ट-वस्तु-संयोग आर्तध्यान है।[४२]

इष्ट-वस्तु-वियोग आर्तध्यान

प्रिय वस्तु का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए सतत् चिन्तन करना इष्ट-वस्तु-वियोग आर्तध्यान है।[४३] दूसरी भाषा में इष्ट एवं प्रिय पदार्थों की प्राप्ति के लिए छटपटाना, उन पदार्थों के साधन रूप चल-अचल अभीष्ट, माता-पिता आदि स्वजनों को प्राप्त करने की अभीष्ट अभिलाषा के प्रति दुःखी एवं चिन्तित रहना इष्ट-वस्तु-वियोग आर्तध्यान है।

प्रतिकूल-वेदना-आर्तध्यान

दुःख आ पड़ने पर उसके निवारण की सतत् चिन्ता करना प्रतिकूल-वेदना-आर्तध्यान है।[४४] अर्थात् शारीरिक एवं मानसिक रोगों से संयुक्त होने पर अथवा अस्त्र-शस्त्र से घायल हो जाने पर, असह्य वेदना से चित्त के व्याकुल हो जाने पर जीव का उनसे मुक्त होने के लिए रात-दिन चिन्ता करते रहना प्रतिकूल-वेदना-आर्तध्यान कहलाता है।[४५] तात्पर्य है कि उत्पन्न वेदना के प्रति चिन्तन ही प्रतिकूल-वेदना-आर्तध्यान है।

निदान-आर्तध्यान

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए संकल्प करना या सतत् चिन्तन करना निदान आर्तध्यान कहलाता है।[४६] अर्थात् जो कामभोग वर्तमान जीवन में न प्राप्त हुए हों उन वासनाजन्य क्षणिक सुखों की इच्छा रखना, भोगों की लालसा करना, संयम, तप एवं ब्रह्मचर्य आदि शुभ क्रियाओं के बदले में नाशवान पौद्गलिक सुखों की प्राप्ति की कामना करना,[४७] शत्रु से अगले जन्म में बदला लेने की लालसा रखना आदि निदान-आर्तध्यान है।[४८]

आर्तध्यान के कारण जीव सदा भयभीत, शोकाकुल, असंयमी, प्रमादी, कलहकारी, विषयी, निद्राशील, शिथिल, खेद-खिन्न तथा मूर्च्छाग्रस्त रहता है।[४९] फलतः वह राग-द्वेष के कारण संसार भ्रमण करता है। साथ ही कुटिल चिन्तन के कारण वह तिर्यञ्च गति को प्राप्त करता है[५०] तथा ऐसे स्वभाव के कारण उसकी लेश्याएँ कृष्ण, नील एवं कापोत होती हैं।[५१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त विश्लेषण के पश्चात् हम यह देखते हैं कि वर्तमान में आर्तध्यानी ही विशेष रूप से देखने को मिलते हैं। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं जो आर्तध्यान नहीं करता हो। कोई व्यक्ति प्रिय के वियोग से दु:खी है तो कोई अप्रिय की प्राप्ति से, कोई किसी रोग से ग्रसित होने के कारण दु:खी है तो कोई काम-भोगों की प्राप्ति हेतु चिन्तित है। ये सभी आर्तध्यान के अन्तर्गत ही आते हैं।

आर्तध्यानी के लक्षण

आर्तध्यान करनेवालों के मुख्यत: चार[५२] लक्षण बताये गये हैं, जो निम्नलिखित हैं-

(१) **आक्रन्दन**-अर्थात् जोर-जोर से चिल्लाना।

(२) **शोचन**- अर्थात् अश्रुपूर्ण आँखों से दीनता दिखाना।

(३) **परिवेदन**- यानी विलाप करना।

(४) **ताडण**- छाती, सिर आदि को पीटना।

उपर्युक्त चारों लक्षण इष्ट के वियोग, अनिष्ट के योग और वेदना के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। जीव जोर-जोर से चिल्लाकर, छाती पीट-पीट कर रोता है, आँसू बहाता है, बाल नोचता है एवं वाणी से दिल का गुस्सा उतारता है।[५३] इसीलिए आर्तध्यान को अशुभ, दु:खों से व्याप्त एवं समस्त क्लेशों से युक्त होने के कारण संसार-बंधन का हेतु माना गया है।

रौद्रध्यान

रौद्रध्यान भी अप्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत ही आता है जिसमें कुटिल भावों का चिन्तन किया जाता है। सामान्यत: रौद्र का अर्थ होता है-क्रोध, बर्बर, भयानक आदि। कहा भी गया है-*"प्राणिनां रोदनाद् रूद्र: तत्र भवं रौद्रम्"* अर्थात् क्रूर, कठोर एवं हिंसक व्यक्ति को रूद्र कहा जाता है और उस प्राणी अर्थात् जिसके द्वारा वह कार्य किया जाता है, के भाव को रौद्र कहते हैं।[५४] इसी आधार पर *महापुराण* में कहा गया है कि जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है, वह रुद्र एवं क्रूर कहलाता है और उस पुरुष के द्वारा जो ध्यान किया जाता है वह रौद्रध्यान कहलाता है।[५५] इस ध्यान को करनेवाला ध्यानी हिंसा, झूठ, चोरी, धनरक्षा में लीन, छेदन-भेदन आदि प्रवृत्तियों में राग रखता है। चुगली करना, अनिष्ट सूचक वचन बोलना, रूखा बोलना, असत्य बोलना, जीवघात का आदेश आदि चिन्तन रौद्रध्यान के अन्तर्गत ही आते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रौद्रध्यान के भेद

रौद्रध्यान के चार भेद बताये गये हैं- १. हिंसा, २. असत्य, ३. चोरी और ४. विषय संरक्षण।[५६] रौद्रध्यान में जीव को हमेशा हिंसा, असत्य, चोरी तथा विषयों की रक्षा करने में विशेष आनन्द आता है। हिंसा, असत्य, चोरी और विषय संरक्षण को ही हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और संरक्षणानन्द नाम से अभिहित किया गया है।[५७]

हिंसानन्द रौद्रध्यान

निर्दयी व्यक्ति द्वारा वध, वेध, बंधन, दहन, अंकन और मारने के क्रूर अध्यवसाय का होना या अनिष्ट विपाकवाले उत्कट क्रोध से ग्रस्त व्यक्ति द्वारा ध्वंस किये जाने पर उससे हर्ष या सुख प्राप्ति का होना हिंसानन्द रौद्रध्यान कहलाता है।[५८] तात्पर्य है कि स्वयं जीव को मारना या कोई दूसरा मनुष्य जीव को मारता है, तो उसको देखकर प्रसन्न होना या उसका अनुमोदन करना हिंसानन्द रौद्रध्यान कहलाता है। इस ध्यान का ध्यानी क्रोध में आकर हमेशा हिंसादि की बातें ही सोचता रहता है जिसके कारण उसमें हमेशा विषभरा रहता है, जिसका मुख्य कारण है कषाय का होना। कषाय के कारण ही उसकी बुद्धि पापमयी हो जाती है।[५९]

मृषानन्द रौद्रध्यान

झूठी कल्पनाओं के जाल में फाँस कर दूसरों को धोखा देने और छल कपट से उन्हें ठगने आदि का विचार करना मृषानन्द रौद्रध्यान कहलाता है।[६०] अभिप्राय यह है कि झूठ बोलकर मन में खुशी हो और मन में यह विचार आये कि 'देखो हमने किस चालाकी से झूठ बोला कि किसी को मालूम भी न हुआ' ऐसा चिन्तन मृषानन्द रौद्रध्यान कहलाता है। जैसा कि *ध्यानशतक* में भी कहा गया है कि मृषानन्द रौद्रध्यानी दूसरों को ठगने में चतुर व्यक्ति, मायाचारी, अपना पाप छिपाने के लिए अपनी पापमय दुर्बुद्धि से मिथ्यावचन बोलने तथा प्राणीघातक वचन बोलने में दृढ़ होता है।[६१]

चौर्यानन्द रौद्रध्यान

किसी भी प्रकार की पर-वस्तु का अपहरण करना चोरी कहलाता है और ऐसी चेष्टावाले चिन्तन को चौर्यानन्द या स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान कहते हैं।[६२] अर्थात् तीव्र क्रोध और लोभ से आकुल होकर प्राणियों का अपहनन, अनार्य आचरण और दूसरे की वस्तु का अपहरण करने की इच्छा करना तथा पारलौकिक दोषों से निरपेक्ष रहना चौर्यानन्द रौद्रध्यान है।[६३] दूसरी भाषा में चोरी अथवा ठगाई करे और चित्त में यह विचार करे कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमने कितनी होशियारी से माल ठग लिया और किसी को विदित भी नहीं हुआ और खूब आनन्दित हो, ऐसे परिणाम को चौर्यानुबन्धी या स्तेयानुबन्धी या चौर्यानन्द रौद्रध्यान कहते हैं। इस ध्यान में ध्यानी हमेशा लोभ के कारण दूसरों की लक्ष्मी, स्त्री व धन को हड़पने का ही चिन्तन अपने अशुभ चित्त में करता रहता है। मन को ऊँचा करते हुये अपने को 'मैं राजा हूँ, ऐसा समझता है आदि।

संरक्षणानन्द रौद्रध्यान

धन-धान्यादि भोग्य पदार्थों को जुटाना, उन्हें सुरक्षित रखने के लिए धन की रक्षा करना, परिग्रह में लीन रहना, अनिष्ट चिन्ता में व्यापृत रहना, सबके प्रति शंकाशील होना संरक्षणानन्द रौद्रध्यान या परिग्रहानुबन्धी रौद्रध्यान है।[६४]

इस प्रकार रौद्रध्यानी हमेशा दूसरों के अहित के बारे में ही विचार करता रहता है। परन्तु ऐसा नहीं है कि वह केवल आनन्द ही उठाता है, बल्कि वह दूसरे प्राणियों द्वारा पीड़ित भी होता है। रौद्रध्यान के उपर्युक्त चारों प्रकार राग, द्वेष और मोह से आकुल व्यक्ति में ही होते हैं। ये चारों प्रकार ही जन्म-मरण को बढ़ानेवाले और नरक गति के मूल कारण हैं।[६५] इस प्रकार रौद्रध्यान सामान्य तौर से संसार की वृद्धि करनेवाला ही है और खास तौर से नरक गति के पापों को उत्पन्न करनेवाला है, क्योंकि इससे तीव्र संक्लेश ही होता है और इससे बन्ध जाने पर सानुबन्ध कर्म द्वारा भव परम्परा का सर्जन होता है, फलत: संसार की वृद्धि का होना स्वाभाविक ही है।

रौद्रध्यानी के लक्षण

ध्यानशतक में रौद्रध्यानी के प्रमुख चार लक्षण[६६] बताये गये हैं-

उत्सन्नदोष– रौद्रध्यान के हिंसा आदि चार प्रकारों में से किसी एक में बहुलतया प्रवृत्त होना।

बहुलदोष– रौद्रध्यान के सभी प्रकारों में प्रवृत्त होना।

नानाविध दोष– चमड़ी उधेड़ने, आँखे निकालने आदि हिंसात्मक कार्यों में बार-बार प्रवृत्त होना।

आमरणान्तदोष– जिसमें मरणान्त तक हिंसादि करने का अनुताप नहीं होता है वह रौद्रध्यानी है।

ज्ञानार्णव में रौद्रध्यानी का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि क्रूरता, दण्डकी, परुषता, वञ्चकता, कठोरता, निर्दयता आदि रौद्रध्यानी के बाह्य चिह्न होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसमें उसके नेत्र अग्नि के समान लाल हो जाते हैं, भौंहे टेढ़ी हो जाती हैं, पसीना आने लगता है और उसकी आकृति भयानक हो जाती है।[६७]

इस प्रकार आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान दोनों को अत्यन्त अशुभ माना गया है, क्योंकि दोनों ही सामान्य तौर से संसार की वृद्धि करनेवाले हैं और विशेषकर नरकगति के पापों को उत्पन्न करनेवाले हैं। इन्हीं से व्यक्ति नरकगति में पड़ जाता है।

धर्मध्यान

धर्म का चिन्तन धर्मध्यान है। यह आत्मविकास का प्रथम चरण है, क्योंकि इस ध्यान में जीव का रागभाव मंद रहता है और वह आत्मचिन्तन की ओर प्रवृत्त होता है। इस संसार में सभी जीव दु:खी हैं। ऐसा कोई नहीं जो सुखी हो। अत: सभी जीव ऐसे स्थान की तलाश में रहते हैं जहाँ थोड़ा-सा भी दु:ख न हो। ऐसे अभीष्ट स्थान पर जो जीव को पहुँचाता है, वही धर्मध्यान है।[६८] जैसा कि *प्रवचनसार* की तात्पर्यव्याख्यावृत्ति में कहा गया है कि जो मिथ्यात्व, राग आदि में हमेशा संसरण कर रहे भवसंसार से प्राणियों को ऊपर उठाता है और विकाररहित शुद्ध चैतन्यभाव में परिणत करता है, वह धर्मध्यान है।[६९] परन्तु कहीं-कहीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र को धर्म कहा गया है और उस धर्म चिन्तन से युक्त जो ध्यान होता है, वह धर्मध्यान के नाम से जाना जाता है।[७०] *स्थानांग* में इस ध्यान को श्रुत, चारित्र एवं धर्म से युक्त कहा गया है।[७१] अत: कहा जा सकता है कि वस्तु-धर्म या सत्य की गवेषणा में परिणत चेतना की एकाग्रता का नाम ही धर्मध्यान है। *ज्ञानसार* के अनुसार शास्त्र-वाक्यों के अर्थों, धर्मवर्गणाओं, व्रतों, गुप्तियों, समितियों, भावनाओं आदि का चिन्तन करना धर्मध्यान कहलाता है।[७२]

धर्मध्यान के प्रकार

आलम्बन के आधार पर धर्मध्यान के चार प्रकार बताये गये हैं।[७३] आलम्बन अर्थात् किसी स्थूल का आश्रय लेकर सूक्ष्म वस्तु की ओर बढ़ना। बिना आलम्बन के साधक का मन एकाएक स्थिर नहीं हो पाता। इसीलिए साधक को किसी वस्तु का आलम्बन लेकर सूक्ष्मता की ओर बढ़ने का निर्देश दिया गया है। इसी को *तत्वानुशासन* में कहा गया है कि चित्त की एकाग्रता के साथ धर्मध्यान के चारों प्रकारों का चिंतन करना चाहिए।[७४] *तत्वार्थसूत्र* में भी धर्मध्यान के चार प्रकारों का ही उल्लेख मिलता है।[७५]—

आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय।

आज्ञाविचय

आज्ञाविचय में दो शब्द हैं-आज्ञा और विचय। इसमें आज्ञा का अर्थ होता है-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणपूर्वक बोध करानेवाला प्रवचन और विचय का अर्थ होता है-विचार या चिन्तन करना। इस प्रकार आज्ञाविचय से अभिप्राय है— वीतराग तथा सर्वज्ञ पुरुष की आज्ञा क्या है और वह कैसी होनी चाहिए? इसकी परीक्षा करके वैसी आज्ञा का पता लगाने के लिए मनोयोग को लगाना।[७६] यानी सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रधान मानकर उनके द्वारा बताये गये पदार्थों का भली प्रकार से चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान कहलाता है।[७७] आचार्य *हेमचन्द्र* के अनुसार तीर्थंकर या सर्वज्ञ द्वारा कहे गये उपदेशों को सत्य मानकर शिरोधार्य करना तथा ऐसा समझना की तीर्थंकर के तत्त्वोपदेश में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती और न ही उनके वचन सत्य से परे होते हैं आज्ञाविचय धर्मध्यान है।[७८] इसकी विशेषता पर प्रकाश डालते हुए *ध्यानशतक* में कहा गया है कि यह आज्ञा अतिनिपुण, अनादि-अनन्त, प्राणियों के लिए हितकर, सत्यग्राही, अनर्घ्य, अपरिमित, अपराजित, महान् अर्थवाली, महान सामर्थ्य से युक्त, महान विषयवाली, अनिपुण लोगों द्वारा अज्ञेय तथा नय, भंग, प्रमाण और गम (विकल्प) से गहन है।[७९]

अपायविचय

राग-द्वेषादि दोषों से छुटकारा पाने के लिए मनोयोग लगाना अपायविचय धर्मध्यान है।[८०] इसे और भी सरल भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जीव के जो शुभाशुभ भाव होते हैं उनका चिन्तन करना अपायविचय धर्मध्यान है।[८१] आचार्य *हेमचन्द्र* के अनुसार राग-द्वेष से उत्पन्न दुर्गति के कष्टों का चिन्तन अपायविचय धर्मध्यान है।[८२] सामान्य तौर पर कहा जा सकता है- वे दोष या दुर्गुण जिनसे सांसारिक जीव परेशान होकर छूटने का प्रयास करता है, ऐसे प्रयास को ही अपायविचय धर्मध्यान कहा जाता है।[८३] संसार में जितने भी अनर्थ होते हैं उन सबका मूल कारण राग-द्वेष, कषाय, प्रमाद, आसक्ति एवं मिथ्यात्व है। अर्थात् मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को ही संसार का मूलकारण माना गया है और इन प्रवृत्तियों से कैसे छुटकारा पाया जाए, इस प्रकार के विचार को अपायविचय धर्मध्यान कहा गया है।[८४]

विपाकविचय

शुभाशुभ कर्मफलों के उदय का द्योतक विपाक कहलाता है तथा कर्मफलों के क्षण-क्षण उदित होने की प्रक्रिया में संलग्न चित्त की एकाग्रता विपाकविचय धर्मध्यान है।[८५] जैसा कि *भगवती आराधना* की विजयोदया टीका में कहा गया है कि कर्मों के शुभ-अशुभ फल एवं उदय, उदीरणा, संक्रमण, बन्ध और मोक्ष का विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान कहलाता है।[८६] तात्पर्य है कि इस ध्यान में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से चिन्तन-मनन किया जाता है और यह विचार किया जाता है कि उदय, उदीरणा आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैसे और किस कारण से होते हैं तथा उनका नाश कैसे किया जा सकता है।[८७]

संस्थानविचय

तीनों लोकों के संस्थान, प्रमाण और आयु आदि का चिन्तन करना संस्थानविचय धर्मध्यान कहलाता है।[८८] *योगशास्त्र* के अनुसार अनादि, अनन्त किन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परिणामी स्वरूपवाले लोक की आकृति का जिस ध्यान में विचार किया जाता है वह ध्यान संस्थानविचय धर्मध्यान कहलाता है।[८९] इसी प्रकार *ध्यानशतक* में संस्थानविचय का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि इस ध्यान में द्रव्यों के लक्षण, आकार, आसन, भेद, मान आदि पर विचार किया जाता है, साथ ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त जगत भी इस ध्यान का विषय होता है।[९०]

धर्मध्यान के उपर्युक्त चार भेदों के अतिरिक्त *हरिवंशपुराण* में अन्य छः[९१] भेद भी देखने को मिलते हैं। जो इस प्रकार हैं-

(१) **उपायविचय धर्मध्यान** - पुण्य रूपी योग की प्रवृत्तियों को अपने आधीन करने को उपाय कहते हैं और 'यह उपाय मेरा किस प्रकार से हो सकता है।' इस प्रकार के संकल्प को करके जो चिन्तन किया जाता है वह उपायविचय धर्मध्यान है।[९२]

(२) **जीवविचय धर्मध्यान** - जीव के विविध दशाओं का ध्यान करना जीवविचय धर्मध्यान है।[९३]

(३) **अजीवविचय धर्मध्यान** - धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पाँचों अजीव द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करना अजीवविचय धर्मध्यान है।[९४]

(४) **विरागविचय धर्मध्यान** - यह शरीर अनित्य है तथा यह संसार जिसमें नाना प्रकार की भोग सामग्री है, दुःखों से भरा हुआ है और सुख से सर्वथा दूर है— ऐसा विचार करना विरागविचय धर्मध्यान है।[९५]

(५) **भवविचय धर्मध्यान** - संसार में कर्मों के जाल में फँसे हुए प्राणी अपने कर्मों के उदय से अनेक प्रकार की योनियों में बराबर घूमते रहते हैं— ऐसा चिन्तन करना भवविचय धर्मध्यान के नाम से जाना जाता है।[९६]

(६) **हेतुविचय धर्मध्यान** -सर्वज्ञ देव द्वारा कहे हुए पदार्थों को संसार भर में स्थापित कर देना या उनके यथार्थ स्वरूप को अपने हृदय में स्थापित कर लेना हेतुविचय धर्मध्यान कहलाता है।[९७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मध्यानी के लक्षण - *स्थानांग* में धर्मध्यानी के चार लक्षण बताये गये हैं।[९८] जिस आत्मा में धर्म का अवतरण हो जाता है उसमें स्वाभाविक रूप से निम्नलिखित चार प्रकार के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं-

(१) **आज्ञारुचि** - अरिहन्तवचन यानी आप्तवचन को आज्ञा मानकर उसी के अनुरूप जीवनयापन करना आज्ञारुचि कहलाता है।

(२) **निसर्गरुचि**- बिना किसी उपदेश के सहज ही सत्य के प्रति श्रद्धा का होना निसर्गरुचि है।

(३) **सूत्ररुचि**-सूत्रों के अध्ययन, चिन्तन एवं मनन में रुचि का होना सूत्र-रुचि है।

(४) **अवगाढ़रुचि** - विस्तारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जो श्रद्धा जाग्रत होती है वह अवगाढ़रुचि है।

धर्मध्यान के आलम्बन - धर्मध्यान के चार आलम्बन बताये गये हैं-वाचना, प्रतिप्रच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा।[९९] कहीं-कहीं परिवर्तना को परिवर्तन तथा प्रतिप्रच्छना को पृच्छना नाम से भी अभिहित किया गया है। परन्तु वहाँ भी चार ही भेद निर्दिष्ट किये गये हैं।[१००] ऐसे ही *ध्यानशतक* में अनुप्रेक्षा को अनुचिन्ता नाम से अभिहित किया गया है।[१०१]

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाएँ - *स्थानांग* में धर्मध्यान की चार प्रकार की अनुप्रेक्षाएं बतायी गयी हैं।[१०२] जो निम्नलिखित हैं-

एकत्व-अनुप्रेक्षा - अकेलेपन का चिन्तन करना अर्थात् एक आत्मा ही अपनी है— ऐसा चिन्तन करना एकत्व-अनुप्रेक्षा है।

अनित्य-अनुप्रेक्षा - पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करना अर्थात् संसार में कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है— ऐसा चिन्तन करना अनित्य-अनुप्रेक्षा है।

अशरण-अनुप्रेक्षा -अशरण अर्थात् संसार में आत्मा के लिए कोई भी स्थान, पर्याय अथवा शक्ति शरणभूत नहीं है— ऐसा चिन्तन करना अशरण-अनुप्रेक्षा है।

संसार-अनुप्रेक्षा -संसार परिभ्रमण अर्थात् आत्मा की चारों गतियों एवं सभी अवस्थाओं में होनेवाले आवागमन के सम्बन्ध में चिन्तन करना संसार-अनुप्रेक्षा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुक्लध्यान

सामान्यत: शुक्ल का अर्थ 'धवल' से लिया जाता है, किन्तु जैन ग्रन्थों में शुक्ल का अर्थ 'विशद' अर्थात् 'निर्मल' से लिया गया है। शुक्लध्यान, ध्यान की वह अवस्था है जिसमें साधक अपने लक्ष्य की पूर्णता को प्राप्त करता है, क्योंकि इस ध्यान में मन की एकाग्रता के कारण आत्मा में परम विशुद्धता आती है और कषायों, रागभावों अथवा कर्मों का सर्वथा परिहार हो जाता है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि आत्मा की अत्यन्त विशुद्ध अवस्था को शुक्लध्यान कहते हैं। *ज्ञानार्णव* में कहा गया है कि जो निष्क्रिय है, इन्द्रियातीत है और ध्यान की धारणा से रहित है, वह शुक्लध्यान है।[१०३] जिस प्रकार मैल के धुल जाने पर वस्त्र साफ हो जाता है, उसी प्रकार दुर्गुणरहित निर्मल गुणों से युक्त आत्मा की परिणति ही शुक्लध्यान है।[१०४] *समवायांग* के अनुसार मन की आत्यन्तिक स्थिरता अर्थात् जब एकाग्रता सर्वशुभ-अशुभ भावों से निवृत्त होकर एकमात्र शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थिर होती है तब उसे शुक्ल ध्यान कहते हैं।[१०५] परन्तु यह भी सच है कि धर्मध्यान में परिपूर्ण हुआ अप्रमत्त संयमी ही शुक्लध्यान करने में समर्थ हो सकता है, क्योंकि जब तक वह पहली सीढ़ी (धर्म-ध्यान) नहीं चढ़ेगा तब तक दूसरी कैसे चढ़ पायेगा।[१०६]

शुक्लध्यान के भेद

शुक्लध्यान को परम समाधि की अवस्था भी कहा जाता है। जैन ग्रन्थों में इसके भी चार भेद देखने को मिलते हैं-[१०७]

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार, (२) एकत्व-वितर्क-अविचार, (३) सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाती, (४) व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति।

इसे ही *हरिवंशपुराण* में दो भागों में विभक्त करते हुए प्रथम दो को शुक्ल तथा बाद के दोनों को परम शुक्लध्यान के अन्तर्गत माना गया है।[१०८] इसमें प्रथम दो प्रकार छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानियों के लिए विहित है, क्योंकि इसमें श्रुतज्ञानपूर्वक पदार्थों का अवलम्बन होता है तथा शेष दो प्रकार कषायों से पूर्णत: रहित होने के कारण केवलज्ञानी के लिए निर्देशित हैं, क्योंकि यह ध्यान पूर्णत: सर्वज्ञ को ही निरालम्बपूर्वक होता है।[१०९]

पृथक्त्व-वितर्क-सविचार

यह ध्यान शुक्लध्यान की प्रथम अवस्था है, इसमें पृथक्-पृथक् रूप से श्रुत पर विचार होता है अर्थात् श्रुत को आधार मानकर किसी एक द्रव्य में उत्पाद-व्यय और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्रौव्य आदि पर्यायों का चिन्तन करना पृथक्त्व-वितर्क-सविचार ध्यान कहलाता है।[११०] तात्पर्य है कि जब एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का अनेक दृष्टियों, नयों से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलबन लिया जाता है तथा शब्द से अर्थ में और अर्थ से शब्द में एवं मन, वचन और काय में से एक-दूसरे में संक्रमण किया जाता है तब शुक्लध्यान की यह स्थिति पृथक्त्व-वितर्क-सविचार कहलाती है।[१११] *हरिवंशपुराण* के अनुसार जिस पदार्थ का ध्यान किया जाता है वह अर्थ कहलाता है और उसका प्रतिपादक शब्द व्यंजन। मन, वचन आदि को योग कहते हैं। इस प्रकार जिसमें वितर्क (द्वादशाङ्ग) के अर्थ आदि में क्रम से अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं, पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्लध्यान है।[११२] इस ध्यान से साधक अपने चित्त पर विजय प्राप्त कर लेता है और अपने कषायों को शान्त कर लेता है। फलत: साधक को संवर, निर्जरा और अमरसुख की प्राप्ति होती है।

एकत्व-वितर्क-अविचार

यह ध्यान शुक्लध्यान का दूसरा चरण है जिसमें साधक उत्पाद, स्थिति, भंग आदि पर्यायों में से किसी एक पर्याय में अपने मन को निर्वातगृह में रखे हुए प्रदीप की भाँति निष्प्रकम्प बनाकर चिन्तन करता है। चिन्तन की यह अवस्था ही शुक्लध्यान की एकत्व-वितर्क-अविचार अवस्था है।[११३] इसमें वितर्क का संक्रमण नहीं होता, बल्कि एक रूप में स्थित होकर चिन्तन किया जाता है। जैसा कि पहले प्रकार में हमने देखा है कि योगी का मन अर्थ-व्यंजन-योग में चिन्तन करते हुए एक ही आलम्बन में उलट-फेर करता रहता है वहीं दूसरी ओर इस अवस्था में आलम्बन का उलट-फेर बन्द हो जाता है और एक ही द्रव्य की विभिन्न पर्यायों के विपरीत एक ही पर्याय ध्येय का रूप ले लेता है। अर्थात् साधक पृथक्त्वरहित, विचाररहित और वितर्कसहित निर्मल एकत्व-ध्यान को प्राप्त कर लेता है।[११४] फलत: साधक सम्पूर्ण जगत को यथार्थ रूप से देखने और समझने लगता है,[११५] क्योंकि एकत्व-वितर्क-अविचार शुक्लध्यान से केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है[११६] और केवलज्ञान में इतनी शक्ति होती है कि उसकी प्राप्ति के पश्चात् साधक को भूत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों काल का युगपत् ज्ञान होने लगता है। इस ध्यान की सिद्धि होने के बाद सदा के लिए घातिया कर्म अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय नष्ट हो जाते हैं और कैवल्य की प्राप्त होती है। ऐसे केवललब्धि प्राप्त तीर्थंकर से सहज रूप से स्व-पर कल्याण होता है। जिन जीवों को तीर्थंकर पद की प्राप्ति नहीं होती वे जीव भी अपने ध्यान से केवलज्ञान प्राप्त करके शेष आयु तक धर्म का उपदेश देते हुए अन्त में मोक्ष को प्राप्त करते हैं।[११७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति

पूर्व के शुक्लध्यान को करने से जब साधक ज्ञानावरणादि चारों घातिया-कर्मों के नष्ट हो जाने के कारण सर्वज्ञ हो जाता है तब उसे केवली के नाम से जाना जाता है। वही केवली जब अन्तर्मुहूर्त मात्र आयु के शेष रहने पर मुक्तिगमन के समय कुछ योग निरोध कर चुकनेवाले सूक्ष्म काय की क्रिया से जो ध्यान करता है, वह सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति शुक्लध्यान कहलाता है।[११८] अभिप्राय है कि जब मन और वाणी के योग का पूर्ण निरोध हो जाता है और काय के योग का पूर्ण निरोध नहीं होता, साथ ही श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म-क्रिया शेष रह जाती है तब उस अवस्था को सूक्ष्म क्रिया कहते हैं और चूँकि इसका पतन नहीं होता इसलिए यह अप्रतिपाती कहलाता है।[११९] अरिहन्त परमेष्ठी की अवस्था में जब आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त तक ही अवशिष्ट रहता है और अघातिया कर्मों में अर्थात् नाम, गोत्र, और वेदनीय इन तीनों की स्थिति आयुकर्म से अधिक हो जाती है, तब उन्हें समरूप में लाने के लिए तीर्थंकर एवं सामान्य केवली इन दोनों को समुद्घात की अपेक्षा होती है।[१२०] समुद्घात क्रिया द्वारा केवली तीन समय में अपने आत्मप्रदेशों को दण्ड, कपाट एवं प्रस्तर के रूप में फैला देता है और चौथे समय में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाता है। समुद्घात द्वारा साधक अघातिया कर्मों (वेदनीय, नाम और गोत्र) की स्थिति घटाकर आयुकर्म के बराबर कर लेता है तथा समस्त आत्मप्रदेशों को प्रतिलोम क्रम से संहरण करके अपने को पूर्ववत् शरीर व्यापी बना लेता है। तत्पश्चात् साधक स्थूल काययोग का आलम्बन लेकर मनोयोग एवं वचनयोग का निरोध करता है तथा सूक्ष्म काययोग का आलम्बन लेकर बादर काययोग, सूक्ष्म मनोयोग तथा वचंनयोग का भी निरोध कर डालता है। इसके लिए जो प्रक्रिया अपनायी जाती है वही सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति शुक्लध्यान है।[१२१] इस ध्यान की प्राप्ति के बाद साधक अन्य ध्यानों में नहीं लौटता है, अन्त में वह सूक्ष्मक्रिया का भी त्याग करके मोक्ष की प्राप्ति करता है।[१२२]

व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति (उत्पन्न-क्रिया-निवृत्ति)

यह ध्यान शुक्लध्यान की अन्तिम अवस्था है। इस ध्यान में सूक्ष्मकाय यौगकीय क्रिया भी समाप्त हो जाती है। अत: कोई भी योग नहीं रहता और केवलज्ञानी अयोग केवली बन जाता है, क्योंकि इस समय आत्मा में किसी भी प्रकार के स्थूल, सूक्ष्म, मानसिक, वाचिक, कायिक व्यापार नहीं होता।[१२३] अर्थात् ध्यान की अवशिष्ट सूक्ष्म क्रिया की भी निवृत्ति हो जाती है तथा अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय में केवली भगवान् शैलेशी अवस्था को प्राप्त होते हैं, जहाँ वे पर्वत की भाँति निश्चल रहते हैं।[१२४] यह अति उत्तम ध्यान चौदहवें अयोगी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान में प्रारम्भ होता है जिसमें केवली भगवान् अन्त समय से पहले समय में अर्थात् उपान्त्य में ७२ कर्म-प्रकृतियों को तथा इसी गुणस्थान की अवशिष्ट तेरह कर्म-प्रकृतियों को भी नष्ट कर देते हैं।[१२५] इन शेष अघातिया कर्मों के नाश के बाद केवली भगवान् का इस ससांर से पूर्णत: सम्बन्ध टूट जाता है और वे सीधे उर्ध्वगमन करके लोक के शिखर पर विराजमान होते हैं।

शुक्लध्यानी के लक्षण

ध्यानशतक में शुक्लध्यानी के चार लक्षण बताये गये हैं।[१२६] जो इस प्रकार हैं-

अव्यथ- शुक्लध्यानी न तो किसी से भयभीत होता है और न ही उसका प्रतिकार करता हैं। जैसा कि कहा गया है-शुक्लध्यान का साधक मानव, देव, तिर्यंच कृत उपसर्गों और सभी प्रकार के परीषहों को समभाव से सहने में सक्षम होता है।[१२७] विश्व की कोई भी शक्ति उसे ध्यान से विचलित नहीं कर सकती और न ही वह कभी व्यथित हो सकता है।

असम्मोह- इस ध्यान में साधक देवादिक माया से मोहित नहीं होता,[१२८] क्योंकि मोहजनित २८ प्रकृतियाँ उसमें उदित नहीं हो पातीं। ध्यान के समय पूर्ववत सूक्ष्म पदार्थ पर एकाग्रता होती है, चाहे कितना भी गहन पदार्थ हो तब भी चित्त मोहित नहीं होता।

विवेक- शरीर और आत्मा में भेद का ज्ञान होना विवेक कहलाता है।[१२९] जब साधक को यह निश्चय हो जाता है कि मैं देह नहीं, आत्मा हूँ तब वह देहनाशक कष्ट होने पर भी खेद नहीं करता, क्योंकि उसे ज्ञात है कि कष्ट की अनुभूति देह को होती है, आत्मा को नहीं।

व्युत्सर्ग- अनासक्त होकर साधक द्वारा देह और उपाधि का सर्वथा त्याग करना व्युत्सर्ग है।[१३०] साधक में भोगेच्छा, यशेच्छा किंचित् मात्र भी नहीं होती। वह निरन्तर वीतरागता की ओर बढ़ता जाता है।

शुक्लध्यान के आलम्बन

ध्यान में आलम्बन की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि कोई भी साधक किसी आलम्बन के द्वारा ही उच्च शिखर पर पहुँचता है। आलम्बन के द्वारा ही साधक आत्मिक प्रगति की सीढ़ी पर चढ़ता है। *स्थानांग* में आलम्बन के चार प्रकार बताये गये हैं,[१३१] जो निम्न प्रकार हैं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षमा- क्षमा का अर्थ होता है-अनुचित व्यवहार के बाद भी किसी व्यक्ति के प्रति मन में क्रोध को न लाना, सहनशील रहना। शुक्लध्यानी के मानस में कभी भी क्रोध नहीं आता, भले ही कैसा भी क्रोध का प्रसंग हो, क्योंकि वह क्रोध पर विजय प्राप्त कर लेता है। उसमें उत्तम क्षमा साकार हो जाती है।

मार्दव- ऐसा आचरण जिसमें व्यक्ति अपने को दूसरों से बड़ा न समझे, जिसमें अपनी प्रशंसा और सम्मान की चाह न हो मार्दव गुण कहलाता है। अत: चित्त में मृदुता और व्यवहार में भी नम्रवृत्ति का होना मार्दव गुण है।

आर्जव- भाव की विशुद्धि अर्थात् विचार, भाषा और व्यवहार की एकता आर्जव गुण के नाम से जाना जाता है। चित्त की सरलता का होना ही शुक्लध्यानी का परम लक्षण है।

मुक्ति- शुक्लध्यानी साधक को किसी प्रकार का लोभ नहीं रहता, वह पूरी तरह से इस कषाय से मुक्त रहता है। आत्मस्वरूप में अवस्थित होने के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को पाने की इच्छा न करना ही मुक्ति (संतोष) है।

शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षाएँ

ध्यानशतक में कहा गया है कि शुक्लध्यान से सुभावित चित्तवाला चारित्र सम्पन्न मुनि ध्यान से उपरत होने पर भी सदा चारों अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है।[१३२] वे चार अनुप्रेक्षाएँ[१३३] इस प्रकार हैं-

आस्रवद्वारापाय- संसार परम्परा के विषय में चिन्तन करना आस्रवद्वारापाय है। संसार परम्परा में जीव ने अनन्त बार जन्म और मृत्यु को धारण किया है। इस संसार-सागर को पार करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। कर्म-बन्धन के हेतु अर्थात् आस्रवद्वार कौन-कौन से हैं और उनके सेवन करने से इस लोक में और परलोक में कौन-कौन से दु:खों का जीव को सामना करना पड़ता है आदि विषयों का चिन्तन करना आस्रवद्वारापाय है। इसे अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा भी कहा जाता है।

संसारासुखानुभव- संसार की असारता या दु:खरूपता का चिन्तन करना ही संसारासुखानुभव अनुप्रेक्षा है। साधक यह सोचता है कि प्राणी एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को प्राप्त करता है और यह क्रम चलता ही रहता है। शरीर ग्रहण करने व छोड़ने की इसी प्रक्रिया को संसार कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवसन्तान की अनन्तता- मिथ्यात्व,राग, द्वेष एवं मोह संसार के आवागमन के कारण माने गये हैं। जिनमें मिथ्यात्व को प्रमुख कारण माना गया है। कारण कि जब तक जीव मिथ्यात्व दृष्टिवाला बना रहता है तब तक उसके लिए यह संसार अनन्त बना रहता है और जिसने मिथ्यात्वदृष्टि पर विजय प्राप्त कर ली वह अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परिमाण संसारवाला हो जाता है। ऐसा विचार या चिन्तन भवसन्तान की अनन्त अनुप्रेक्षा है।

वस्तुविपरिणामानुप्रेक्षा- साधक वस्तुओं के परिणमनशील स्वभाव पर चिन्तन करता है। वह जानता है कि सभी वस्तुयें प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती हैं, कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है। इस प्रकार का चिन्तन वस्तुविपरिणामानुप्रेक्षा के नाम से जाना जाता है। इस अनुप्रेक्षा में साधक की अपने शरीर के प्रति भी आसक्ति छूट जाती है।

यद्यपि शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षायें बतायी गयी हैं, किन्तु ये चारों प्रथम दो शुक्लध्यानों से ही सम्बन्धित हैं। इन्ही दोनों शुक्लध्यानों में इन अनुप्रेक्षाओं की उपयोगिता होती है। अन्तिम दोनों शुक्ल ध्यानों में ये अनुप्रेक्षायें नहीं होती।

इस प्रकार ध्यान की चार अवस्थायें यानी चार प्रकार हैं। किन्तु सही माने में देखा जाए तो दो रूप ही मुख्य रूप से दृष्टिगोचर होते हैं-१. चित्त की स्थिरता और २. आत्मा की निर्मलता। चित्त की स्थिरता तो किसी भी सांसारिक विषय में हो सकती है, जिसे हम व्यावहारिक योग की संज्ञा से विभूषित कर सकते हैं। यदि हम उसे जैन दर्शन की भाषा में कहे तो आर्तध्यान और रौद्रध्यान कह सकते हैं। किन्तु इस प्रकार की स्थिरता उपादेय नहीं कही जा सकती, क्योंकि ये कर्म-बन्ध के हेतु हैं। चित्त को निर्मल बनाने के लिए धर्मध्यान और शुक्लध्यान को उपादेय माना गया है। इन्हीं दोनों ध्यान को मोक्ष का कारण होने से सुध्यान कहा जाता है। *परमात्मप्रकाश* में कहा गया है कि निर्मल चित्त में परमात्मा के दर्शन ठीक उसी प्रकार होते हैं, जिस प्रकार निर्मल आकाश में सूर्य के।[१३४] इस प्रकार से ध्यान करनेवाला योगी अन्त में स्वयं आत्यंतिक रूप से निर्मल परमात्मा बन जाता है।

ध्येय की अपेक्षा से ध्यान के प्रकार

आचार्यों ने ध्येय की अपेक्षा से ध्यान के चार प्रकार किये हैं—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।[१३५] परन्तु कहीं-कहीं इसके तीन वर्गीकरण ही देखने को मिलते हैं। जैसे- *ज्ञानसार* में पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ का ही वर्णन देखने को मिलता है। वहाँ रूपातीत का कोई निर्देश नहीं है।[१३६] प्राय: ध्यान से सम्बन्धित सभी जैन ग्रन्थों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में चार भेद ही किये गये हैं। यद्यपि ध्यान के ये चार प्रकार कब और कैसे जैन परम्परा में विकसित हुए, इनका स्रोत कहाँ है तथा वे उतरोत्तर किस प्रकार से विकास को प्राप्त हुए, यह विचारणीय है; क्योंकि *स्थानांग, समवायांग, भगवती, ध्यानशतक, हरिवंशपुराण, आदिपुराण* आदि ग्रन्थों एवं उनकी टीकाओं में इन भेदों का निर्देश नहीं किया गया है। शास्त्रों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि पिण्डस्थ, पदस्थ आदि भेदों का उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य *योगीन्दु* विरचित *योगाचार* जिसका काल ई० की छठी शताब्दी माना जाता है, में मिलता है। तत्पश्चात् इन भेदों का उल्लेख आचार्य शुभचन्द्र कृत *ज्ञानार्णव* (११ वीं शती) तथा आचार्य *हेमचन्द्र सूरि* विरचित *योगशास्त्र* (१२वीं-१३वीं शती) में मिलता है।

पिण्डस्थध्यान

'पिण्ड' का अर्थ होता है- 'शरीर'। अत: पिण्डस्थ का अभिप्राय होता है- शरीर में रहनेवाली आत्मा। इस प्रकार सामान्य भाषा में यह कहा जा सकता है कि पिण्ड अर्थात् शरीर सहित आत्मा का ध्यान करना पिण्डस्थध्यान कहलाता है। *योगशास्त्र* तथा *ज्ञानार्णव* में इसके पाँच प्रकार[१३७] बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं-

(१) पार्थिवी धारणा, (२) आग्नेयी धारणा, (३) श्वासना धारणा, (४) वारूणी धारणा, (५) तत्त्वरूपवती धारणा।

पार्थिवी धारणा–साधक यह कल्पना करे कि मध्यलोक के बराबर लम्बे-चौड़े क्षीरसागर में जम्बूद्वीप के बराबर एक लाख योजन विस्तारवाला और हजार पंखुड़ियोंवाला कमल है। उस कमल के मध्य में एक सिंहासन है। उस पर वह बैठा है और विश्वास करे कि हमारे समस्त कर्मों (कषायों) का क्षय हो रहा है। ऐसा विचार पार्थिवी धारणा के रूप में जाना जाता है[१३८]

आग्नेयी धारणा- सिहांसन पर बैठा हुआ साधक यह कल्पना करे कि उसकी नाभि में सोलह पंखुड़ियोंवाला कमल है, उसकी कर्णिका में एक महामंत्र अर्हम् है और उसके प्रत्येक दल पर एक-एक स्वरूप है। अर्हम् के *रेफ से* धूमशिखा निकल रही है, स्फुलिंग उछल रहे हैं। अग्नि की ज्वाला भभक रही है, उसमें हृदय-स्थित अष्टदल कमल जो आठ कर्मों का सूचक है, जल रहा है... वह भस्मीभूत हो गया है... अग्निशान्त हो गयी है... ऐसा विचार आग्नेयी धारणा है।[१३९]

वायवी (श्वास) धारणा- साधक यह चिन्तन करे कि लोक में महाबलवान् वायुमण्डल चल रहा है और वह आग्नेयी धारणा में देह एवं कमल को जलाने के पश्चात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बची हुई राख को उड़ा रहा है। इस प्रकार प्रचण्ड वायु के चिन्तनपूर्वक भस्म हुए शरीरादि की धूलि को शीघ्र उड़ाकर उसे शान्त करना वायवी धारणा है। इसे मारुती धारणा के नाम से भी अभिहित किया जाता है।[१४०]

वारुणी धारणा- फिर साधक यह कल्पना करे कि तेज वर्षा हो रही है, बची हुई राख उसके जल में प्रवाहित हो रही है। यह वारुणी धारणा है।[१४१]

तत्त्ववती अथवा तत्त्वभू धारणा- साधक यह कल्पना करे कि मेरी आत्मा अर्हत् के समान है, शुद्ध है, अतिशयसम्पन्न है। *ज्ञानार्णव* में कहा गया है—साधक ऐसा चिन्तन करे कि मेरी आत्मा सप्तधातु से रहित है और पूर्ण चन्द्रमा के समान उज्ज्वल एवं निर्मल है, मेरी आत्मा सर्वज्ञ है। ऐसा चिन्तन करना तत्त्ववती धारणा है।[१४२]

इस प्रकार पहली धारणा में साधक अपने मन को स्थिर करता है, दूसरी में शरीर कर्म को नष्ट करता है, तीसरी में शरीर और कर्मों के सम्बन्ध को भिन्न देखता है, चौथी में शेष कर्म का नष्ट होना तथा पाँचवी में कर्म एवं शरीर से रहित शुद्ध आत्मा को देखता है। फलतः वह शुक्लध्यान में पहुँचने की स्थिति को प्राप्त करता है।

पदस्थ ध्यान

पदस्थ ध्यान का अर्थ ही होता है- पदों या अक्षरों पर ध्यान केन्द्रित करना। इस ध्यान में अनेकों प्रकार की विधाओं, मंत्रों और पदों का ध्यान किया जाता है। *ज्ञानार्णव* में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि पवित्र पदों का आलम्बन लेकर जो अनुष्ठान या चिन्तन किया जाता है वह पदस्थ ध्यान है।[१४३] इसी प्रकार *वसुनन्दि श्रावकाचार* में भी कहा गया है कि एक अक्षर को लेकर अनेक प्रकार के पंच परमेष्ठी वाचक पवित्र मन्त्र-पदों का उच्चारण जिस ध्यान में किया जाता है वह पदस्थ ध्यान है।[१४४] *ज्ञानार्णव* में इसे वर्ण-मातृका ध्यान के नाम से भी पुकारा गया है।[१४५] यह पाँच प्रकार से निष्पन्न होता है—

अक्षर ध्यान- अक्षर ध्यान के द्वारा साधक नाभिकमल, हृदयकमल और मुखकमल से शरीर के तीन भागों की परिकल्पना करता है। नाभिकमल में साधक यह चिन्तन करता है कि मेरे नाभिकमल में सोलह दलवाला एक कमल है जिसकी प्रत्येक पंखुड़ी पर 'अ', 'आ', 'इ', 'ई' आदि सोलह अक्षर अंकित हैं।[१४६] साधक इन वर्णों पर मन को टिकाता है और उसका चित्त एकाग्र हो जाता है। हृदयकमल में साधक यह चिन्तन करता है कि हृदय स्थल पर चौबीस पँखुड़ियोंवाला एक कमल है जिसके मध्य में एक कर्णिका भी है, इन चौबीस दलों एवं कर्णिका पर 'क', 'ख', 'ग' से लेकर 'प', 'फ', 'ब', 'भ', 'म' आदि पच्चीस वर्ण लिखे हुए हैं।[१४७] साधक जब इन अक्षरों पर ध्यान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगाता है तो उसकी प्रज्ञाशक्ति जाग्रत होती है। मुखकमल में साधक यह विचार करता है कि मुखमण्डल के ऊपर ८ पत्तोंवाला एक कमल बना हुआ है जिसके प्रत्येक पत्ते पर य, र, ल, व, श, ष, स, ह ------आदि आठ वर्ण अंकित हैं। इस प्रकार अपने-अपने मण्डलों में विद्यमान अकार से हकार तक के परम शक्तिसम्पन्न मन्त्रों का ध्यान करने से ये मंत्र इहलोक तथा परलोक में फल देनेवाले होते हैं।[१४८]

मन्त्र और वर्णों का ध्यान

इस ध्यान में मंत्र और वर्णों के समस्त पदों के स्वामी को अर्हं माना गया है, जो रेफ (ं) युक्त कला एवं बिन्दु से आक्रान्त अनाहत सहित मंत्रराज होता हैं।[१४९] आचार्य *शुभचन्द्र* और आचार्य *हेमचन्द्र* ने 'अनाहत' की चर्चा करते हुए 'अर्हं' महामंत्र को 'अनाहतदेव' की संज्ञा से विभूषित किया है।[१५०] इस महामंत्र की ध्यान-प्रक्रिया को बताते हुए वे कहते हैं- बुद्धिमय ध्याता के स्वर्ण-कमल के गर्भ में स्थित चन्द्रमा की सघन किरणों के समान निर्मल आकाश में संचरण करते हुए और समस्त दिशाओ में फैलते हुए रेफ से युक्त कला और बिन्दु से घिरे हुए अनाहत सहित मंत्राधिप'अर्हं' का चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात मुखकमल में प्रवेश करते हुए भू लता में भ्रमण करते हुए, नेत्रपत्तों में स्फुरायमान होते हुए, भालमण्डल में स्थित, तालु के रन्ध्र से बाहर निकलते हुए, अमृत रस बरसाते हुए, उज्ज्वलता में चन्द्रमा के प्रतिस्पर्धी, ज्योतिमण्डल में विशेष प्रकार से चमकते हुए, आकाश प्रदेश में संचार करते हुए, मोक्ष लक्ष्मी के साथ मिलाप कराते हुए, समस्त अवयवों से परिपूर्ण 'अर्हं' मंत्राधिराज का कुंभक के द्वारा चिंतन करना चाहिए।[१५१] उसके बाद रेफ, बिन्दु और कला से सम्पूर्ण और रेफ, बिन्दु, कला एवं उच्चारण से रहित 'ह' वर्ण का ध्यान करना चाहिए।[१५२] इसी तरह क्रमशः दूज के चन्द्रमा की रेखा के समान एवं बाल के अग्रभाग के समान सूक्ष्मरूप से उस अनाहत 'ह' का ध्यान करना चाहिए।[१५३] फिर लक्ष्य अर्थात् सालम्बन ध्यान से मन को धीरे-धीरे हटाकर अलक्ष्य में अर्थात् निरालम्बन ध्यान में स्थिर करने पर अतीन्द्रिय व अविनश्वर ज्योति प्रकट होती है। अलक्ष्य में अवस्थान ही साधक की अभीष्ट सिद्धि होती है तथा इसी से साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।[१५४]

इस प्रकार इस ध्यान में पहले लक्ष्य का आलम्बन करके अनुक्रम से लक्ष्य का अभाव बताया गया है। अर्थात् साधक को लक्ष्य से अलक्ष्य की ओर अग्रसर होना चाहिए, इस ध्यान में ऐसा विधान किया गया है। जिस साधक का मन अलक्ष्य में स्थिर हो जाता है, उसे मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रणवध्यान- इस ध्यान में ॐ पद के ध्यान करने का विधान है। ॐ जिसे प्राय: सभी मोक्षवादी परम्परायें एकमत से स्वीकार करती हैं। वैदिक परम्परा के अनुसार यह सारा जगत ही ऊँकारमय है। इनके अनुसार ॐ शब्द 'अ', 'उ', 'म' इन तीन अक्षरों के संयोग से सम्पन्न हुआ है, जिसमें 'अ' को 'ब्रह्म','उ' को विष्णु तथा 'म' को महेश कहा गया है। इसी प्रकार जैनाचार्यों ने ॐ को पंचपरमेष्ठी वाचक माना है। इनके अनुसार अरहंत, अशरीरी-सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि इन पाँच परमेष्ठियों के प्रथम वर्ण को लेकर संधि करने से ॐ शब्द निष्पन्न है, यानी कि अ+अ+आ+उ+म = अ+अ+आ = आ। आ+उ = ओ और ओ+म = ओम या ॐ ऐसा माना गया है।[१५५]

इस ध्यान में हृदय-कमल के मध्य में स्थित, वचन विलास की उत्पत्ति का एकमात्र कारण, स्वर और व्यंजनों से युक्त, पंचपरमेष्ठी का वाचक एवं मस्तिष्क में स्थित चन्द्रकला से झरते हुए अमृतरस से आर्द्र 'महामंत्र ऊँकार' का कुम्भक द्वारा ध्यान किया जाता है।[१५६] शंख, कुन्द और चन्द्र के समान उज्ज्वल प्रणव (ॐ) शून्य (०) और अनाहत (ह) इन तीनों का नासिका के अग्रभाग पर ध्यान करनेवाला अणिमादि आठ सिद्धियों को प्राप्त कर समस्त विषयों के निर्मल ज्ञान में पारंगत हो जाता है। इस ध्यान की विशेषता यह है कि यह स्तम्भन कार्य में पीत, वशीकरण में लाल, शोभित अवस्था में मूंगें के समान, द्वेष में कृष्ण, कर्मनाशक अवस्था में चन्द्रमा के समान उज्ज्वल वर्ण का होता है।[१५७] इस तरह इसमें ॐ शब्द को लक्ष्य करके साधक आत्मविकास की ओर बढ़ता है।

पंचपरमेष्ठी ध्यान- अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी पद हैं। इस ध्यान में सर्वप्रथम हृदय में आठ पंखुड़ीवाले कमल की स्थापना करके कर्णिका पर लिखे "सप्ताक्षर अरहंताणं" पद का ध्यान किया जाता है। तत्पश्चात् चारों दिशाओं में चार पत्रों पर क्रमश: "णमो सिद्धाणं","णमो आयरियाणं","णमो उवज्झायाणं" और "णमो लोए सव्वसाहूणं" का ध्यान किया जाता है तथा चारों विदिशाओं के पत्रों पर क्रमश: "एसो पंचणमोक्कारो, सव्वपावपणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं" का ध्यान किया जाता है।[१५८] परन्तु आचार्य *शुभचन्द्र* ने *ज्ञानार्णव* में उपर्युक्त विवेचन से भिन्न विवेचन किया है। उनका कहना है कि साधक को पूर्वादि चार दिशाओं में तो 'णमो अरहंताणं' आदि का ध्यान करना चाहिए, लेकिन चार विदिशाओं में क्रमश: सम्यग्दर्शनायनमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्-चारित्राय नमः तथा सम्यग्तपसे नमः का स्मरण करना चाहिए।[१५९] साधक को इन्ही मंत्रों पर अपनी सम्पूर्ण भावनाओं को एकाग्र करके आत्मसिद्धि में संलग्न होना चाहिए। यही महामन्त्र सबका रक्षक माना गया है, क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णमोकार मंत्र की साधना से साधक अपने सभी कर्मों का क्षय करके, दिव्य-शक्ति, ज्ञान-शक्ति, आचार-शुद्धि, स्मरण-शक्ति आदि को प्रखर बनाकर तथा काम-वासना को समाप्त करके अतीन्द्रिय ज्ञान एवं प्रतिभा को प्राप्त करता है।

जैन ग्रन्थों में उपर्युक्त मंत्रो के अतिरिक्त और भी कुछ मंत्र देखने को मिलते हैं जिनका नित्य जप करने से साधक को शान्ति की प्राप्ति होती है एवं उनके कर्मों का क्षय होता है।[१६०] इसी क्रम मे षोडशाक्षर विद्या भी आती है। सोलह अक्षरों से युक्त मंत्र को षोडशाक्षर विद्या कहते हैं, जो इस प्रकार हैं- *अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः।* इसमें छ: अक्षरवाला जप है– अरिहंत सिद्ध, चार अक्षरवाला है– अरिहंत, दो अक्षरों का है-सिद्ध और एक अक्षर है-'अ'।[१६१] इस मंत्र को एकाग्रचित्त होकर दो सौ बार जपने से एक उपवास का फल मिलता है।[१६२] इसी प्रकार ॐ, ह्राँ, ह्रीं, ह्रूँ, ह्रीं, अ, सि, आ, उ, सा नमः इस पंचाक्षरी विद्या के निरन्तर अभ्यास से साधक मन को वश में कर संसार रूपी बन्धन को शीघ्र काट देता है एवं एकाग्रचित्त से मंगल, उत्तम पदों का जप करता हुओ मोक्ष को प्राप्त करता हैं।[१६३]

उपर्युक्त मंत्रों के अतिरिक्त कुछ और भी मंत्र देखने को मिलते हैं जिनके ध्यान से साधक मोक्ष पद को प्राप्त करता है। वे इस प्रकार हैं- "ॐ अर्हत् सिद्ध सयोगकेवली स्वाहा।" ऊँ, ह्रीं, श्रीं, अर्हं, नमः।"नमः सर्व सिद्धेभ्यः।" आदि।

इस प्रकार पदस्थ ध्यान में शरीर में स्थित विभिन्न ध्यान केन्द्रों (कमलों) पर विभिन्न मंत्रों के अभ्यास से साधक के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है और वह लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि के साथ-साथ मोक्षपद की प्राप्ति भी करता है। परन्तु ध्यातव्य है कि जिस अक्षर, पद, वाक्य, शब्द, मंत्र एवं विद्या का ध्यान करने से साधक राग-द्वेष से रहित हो जाता है, वही ध्यान माना जाता है। अन्यथा राग-द्वेषादि से मोहित होकर सांसारिक प्रपंचों को दूर करने के विचार से जो ध्यान करता है उसको सिद्धियाँ प्राप्त नहीं होती हैं।[१६४]

रूपस्थध्यान

अरहंत भगवान् के स्वरूप का अवलम्बन करके किया जानेवाला ध्यान रूपस्थ ध्यान कहलाता है।[१६५] अर्थात् साधक तीर्थंकर आदि के गुणों एवं आदर्शों को अपने समक्ष रखकर उनके स्वरूप का सहारा लेकर जो ध्यान करता है, वह रूपस्थ ध्यान कहलाता है। *ज्ञानार्णव* में कहा गया है कि जिस अरहंत देव से अनन्तज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र इन नौ लब्धि रूपी लक्ष्मी की उत्पत्ति हुई है एवं जो सर्वज्ञ है, दाता है, सर्वहितैषी है, वर्धमान है, निरामय है, नित्य है, अव्यय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, अव्यक्त एवं पुरातन है, ऐसे तीर्थंकर का स्मरण करके जो ध्यान किया जाता है वह रूपस्थ ध्यान है।[१६६] रूपस्थ ध्यानी के लक्षण को बताते हुए *योगशास्त्र* में कहा गया है कि रूपस्थ ध्यान को धारण करनेवाला साधक राग-द्वेषादि विकारों से रहित, शान्त-कान्तादि समस्त गुणों से युक्त तथा योगमुद्रा को धारण करने के कारण मनोरम तथा नेत्रों में अमन्द आनन्द का अद्भुत प्रवाह बहानेवाला, अतिशय गुणों से युक्त जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा का निर्मल चित्त से ध्यान करनेवाला होता है।[१६७] तात्पर्य है कि इस ध्यान में साधक वीतरागता का ही ध्यान करता है, क्योंकि जब साधक वीतरागता का ध्यान करता है तब वह वीतरागी बनता है, यदि वह रागता का ध्यान करता है तो रागी बनता है।[१६८] कारण कि जिन-जिन भावों से जीव का मन जुड़ता है वह उन्हीं-उन्हीं भावों में तन्मयता को प्राप्त करता है।[१६९]

रूपातीतध्यान

रूप से अतीत अर्थात् बिना रंग-रूप के अतीत, निरंजन, निराकार, ज्ञानशरीरी आनन्दस्वरूप के स्मरण करने को रूपातीत ध्यान कहते हैं।[१७०] रूपातीत ध्यान परमात्मा का शुद्धरूप ध्यान है। इसमें साधक अपनी आत्मा को ही परमात्मा समझकर स्मरण करता है। ध्यानी सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान का अभ्यास करके शक्ति की अपेक्षा से अपने-आपको उनके समान जानकर उनमें लीन हो जाता है और अपने कर्मों का नाश करके व्यक्त रूप परमेष्ठी हो जाता है।[१७१] इस अवस्था को आचार्य *हेमचन्द्र* ने समरसीभाव के नाम से अभिहित किया है।[१७२]

यद्यपि पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत ध्यान के भेद, धर्मध्यान के अन्तर्गत ही आते हैं। परन्तु ये भेद ध्येय की अपेक्षा से किये गये हैं, इसलिए हमने इनका अलग से वर्णन किया है। अत: कहा जा सकता है कि धर्मध्यान के इन भेद-प्रभेदों के माध्यम से साधक ध्यान की स्थिरता को प्राप्त करता है जिससे उसका चित्त किसी एक ध्येय में केन्द्रित हो जाता है। इस ध्यान (धर्मध्यान) के अन्तर्गत साधक विभिन्न साधनों यथा-जप, मन्त्र, विद्याओं आदि का सहारा लेकर तथा व्रतों के सम्यक् आचरण से स्थूल वस्तुओं को ध्यान में रखते हुए सूक्ष्म तत्त्व की ओर गति करता है। परन्तु यह भी सत्य है कि इस ध्यान को सभी साधक नहीं कर सकते हैं। वे ही साधक इस ध्यान को कर सकते हैं जो यह सोचते हैं कि भले ही प्राणों का त्याग करना पड़े लेकिन संयम से च्युत नहीं होंगे। साथ ही वह अन्य जीवों के सुख-दु:ख को अपने सुख-दु:ख की भाँति समझता हो, परीषहजयी हो, मुमुक्षु हो, रागद्वेषादि कषायों, दुष्प्रवृत्तियों एवं कामवासनाओं से मुक्त हो, शत्रु,मित्र,निन्दा,स्तुति आदि में समताभाव धारण करनेवाला हो, परोपकारी एवं प्रशस्त-बुद्धि हो।[१७३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान के अन्य भेद

कुछ ग्रन्थों में ध्यान के प्रमुख चार भेदों के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी भेद किये गये हैं। *ध्यान विचार* नामक पुस्तक में ध्यान के चौबीस[१७४] (२४) प्रकार बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं-

१.	ध्यान	२.	परम ध्यान	३.	शून्य
४.	परम शून्य	५.	कला	६.	परम कला
७.	ज्योति	८.	परम ज्योति	९.	बिन्दु
१०.	परम बिन्दु	११.	नाद	१२.	परम नाद
१३.	तारा	१४.	परम तारा	१५.	लय
१६.	परम लय	१७.	लव	१८.	परम लव
१९.	मात्रा	२०.	परम मात्रा	२१.	पद
२२.	परम पद	२३.	सिद्ध	२४.	परम सिद्ध

देखा जाए तो उपर्युक्त बारह प्रकार ही हैं, उन बारह प्रकारों में परमपद लगाकर चौबीस प्रकार कर दिये गये हैं।

बौद्ध परम्परा में ध्यान का स्वरूप

बौद्ध परम्परा में भी ध्यान का उतना ही महत्त्व है जितना कि जैन परम्परा में, क्योंकि कोई भी साधना हो, चाहे वह जैन परम्परा की हो या बौद्ध परम्परा की, ध्यान से विलग होकर उसकी विवेचना नहीं की जा सकती। अत: ध्यान बौद्ध-साधना का हृदय है। बौद्ध मान्यता के अनुसार चित्त के कारण ही साधक को संसार-भ्रमण करना पड़ता है, इसलिए चित्त-कुशलों को स्थिर करने के लिए ही ध्यान की महत्ता को स्वीकार किया गया है। जैसा कि कहा गया है-चित्त का अभ्यास ही ध्यान है।[१७५] यानी किसी विषय पर चित्त को स्थिर कर चिन्तन करना ही ध्यान है। ध्यान लक्ष्य की सिद्धि के लिए किया जाता है। यद्यपि बौद्ध परम्परा के हीनयान तथा महायान सम्प्रदाय में मान्य लक्ष्य प्राप्ति में अंतर है, क्योंकि हीनयान में निर्वाण-प्राप्ति कर अर्हत् पद को प्राप्त करना प्रधान उद्देश्य माना जाता है और महायान का लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। बौद्ध परम्परा में 'ध्यान' और 'समाधि' शब्दों के प्रयोग ही देखने को मिलते हैं। ध्यान और समाधि में भी अन्तर है। समाधि जहाँ मात्र कुशल धर्मों से सम्बद्ध है, वहीं ध्यान कुशल एवं अकुशल (शुभ और अशुभ) दोनों प्रकार के भावों को ग्रहण करता है। अत: समाधि की अपेक्षा ध्यान का क्षेत्र बड़ा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान के प्रकार

ध्यान के भेद-भेदाङ्ग विवाद के विषय रहे हैं। कहीं उन्हें चार प्रकार का माना गया है तो कहीं पाँच प्रकार का बताया गया है, परन्तु मुख्यत: ध्यान के दो ही प्रकार हैं— रूपावचर ध्यान तथा अरूपावचर। रूपावचर ध्यान में उन ध्यानों का समावेश है जिनमें रूप आलम्बन के आकार में होता है और जब रूप का अतिक्रमण करते हुए योगी अरूप को अपने ध्यान का विषय बनाता है तो उसका चित्त अरूप ध्यान को प्राप्त करता है। रूपावचर तथा अरूपावचर के पुन: चार-चार भेद किये गये हैं—

रूपावचर ध्यान[१७६]

१. वितर्क विचार प्रीतिसुख एकाग्रसहित, २. प्रीतिसुख एकाग्रसहित, ३. सुख एकाग्रसहित, ४. एकाग्रतासहित

अरूपावचर[१७७]

१. आकाशानन्त्यायतन, २. विज्ञानानन्त्यायतन, ३. आकिंचन्यायतन, ४. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन

परन्तु ये उपर्युक्त चार रूपावचर ध्यान तथा चार अरूपावचर ध्यान साधक को नीवरणों के शान्त होने के पश्चात् चित्त को ध्यान में लगाने पर प्राप्त होते हैं। *दीघनिकाय* में बताया गया है कि साधक को नीवरणों[१७८] (कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यानमिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य एवं विचिकित्सा) के हटने पर वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है जैसा कि ऋणी व्यक्ति को ऋण से मुक्त होने पर, रोगी को रोग समाप्त हो जाने पर, बन्दी व्यक्ति को कारागार से छूटने पर, दास को दासता से मुक्त होने पर तथा भयाकीर्ण मरुभूमि में भटके व्यक्ति को सुरक्षित स्थान पर पहुँचने पर होता है।[१७९]

वितर्क विचार प्रीतिसुख एकाग्रसहित (प्रथम ध्यान)

यह रूपावचर ध्यान का प्रथम भाग है जो विषय भोगों और अकुशल प्रवृत्तियों से अलग होकर वितर्क एवं विचार से उत्पन्न प्रीति और सुख का संवाहक है। इसमें जब साधक अपने चित्त को इन्द्रियों और बोध्यंगों के सम्प्रयोग द्वारा प्रतिभाग निमित्त में स्थिर कर लेता है तब उसके आलम्बन में चार चेतनाएँ उत्पन्न होती हैं, जिनमें अन्तिम रूपावचर भूमि होती है, शेष कामधातु से सम्बन्धित होती हैं। इन्हीं शेष कामधातु से सम्बन्धित चेतनाएँ प्रथम ध्यान की पहली समापत्ति की प्राप्ति की प्रारम्भिक कारण बनती हैं,[१८०] वे हैं- वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता। ध्यान के विषय में चित्त का प्रवेश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वितर्क कहलाता है। उस विषय में गहरे उतरने को विचार कहते हैं। उससे जो आनन्द उपलब्ध होता है उसे प्रीति कहते हैं। उस आनन्द से शरीर को जो समाधान मिलता है वह सुख है और उस विषय में चित्त की जो एकाग्रता होती है, उसे एकाग्रता कहते हैं।[१८१] आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में "चित्त को किसी विषय में समाहित करने के समय उस विषय में चित्त का जो प्रथम प्रवेश होता है, वह 'वितर्क' होता है, परन्तु आगे बढ़ने पर उस विषय में चित्त का निगमन होना 'विचार' शब्द से अभिहित किया जाता है। *बुद्धघोष* ने इनके भेद को दो रोचक उदाहरणों से समझाया है। आकाश में उड़ने से पहले पक्षी अपने पंखों को समतोलन करता है और कई क्षणों तक अपने पंखों के सहारे आकाश में स्थिर रहता है, इसकी समता 'वितर्क' से दी गई है। अनन्तर वह अपने पंखों को हिलाकर उनमें गति पैदा कर आकाश में उड़ने लगता है, यह क्रिया 'विचार' का प्रतीक है अथवा किसी गन्दे पात्र को एक हाथ से पकड़ने तथा उसे दूसरे हाथ से साफ सुथरा करने की क्रिया में जो अन्तर है वही अन्तर वितर्क तथा विचार में है। इसी प्रकार प्रीति तथा सुख की भावना में भी स्फुटतर पार्थक्य है। चित्त-समाधान से जो मानसिक आह्लाद उत्पन्न होता है उसे 'प्रीति' कहते हैं। अनन्तर इस भाव का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। शरीर की व्युत्पत्ति दशा की बेचैनी जाती रहती है। फलतः पूरे शरीर के ऊपर स्थिरता तथा शान्ति के भाव का जो उदय होता है, उसे ही 'सुख' कहते हैं। प्रीति मानसिक आनन्द है और सुख शारीरिक समाधान या स्थिरता। इसके अनन्तर चित्त विषय के साथ अपना सामंजस्य स्थापित कर लेता है, इसे ही एकाग्रता कहते हैं। इन पाँचों की प्रधानता रहने पर प्रथम ध्यान उत्पन्न होता है।[१८२] *विसुद्धिमग्गो* में कहा भी गया है कि जब साधक इन पाँच अंगों की भावना बार-बार करता है तो वे अंग सुदृढ़ हो जाते हैं। इसी अवस्था में साधक को प्रथम ध्यान की प्राप्ति होती है।[१८३] कहा गया है कि साधक कामों से अलग होने के पश्चात् ही अकुशल धर्मों से रहित होकर वितर्क-विचार सहित विवेक से उत्पन्न प्रीति और सुखवाले प्रथम ध्यान को प्राप्त करके विहरता है।[१८४] यहाँ अकुशल धर्मों से अभिप्राय है शेष चार नीवरण। यद्यपि अकुशल धर्म तो बहुत हैं परन्तु इस ध्यान-प्रक्रिया में उन्हें ही ग्रहण किया गया है जो ध्यान के अंगों के विरोधी हैं, यथा- कामच्छन्द समाधि रूप एकाग्रता का विरोधी है, व्यापाद प्रीति का विरोधी है, स्त्यानमिद्ध (आलस्य और अकर्मण्यता) वितर्क का विरोधी है, औद्धत्य-कौकृत्य सुख का विरोधी है, विचिकित्सा विचार का विरोधी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पाँच नीवरणों में से प्रथम काम से अलग रहने पर एकाग्रता का प्रादुर्भाव होता है तथा शेष नीवरणों से अलग होने पर क्रमशः वितर्क, विचार, प्रीति और सुख रूपी अंग उत्पन्न होते हैं। अतः ये पाँच नीवरण प्रथम ध्यान के प्रहाण-अंग हैं।[१८५]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त पाँच ध्यानांगों (वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता) के प्रादुर्भाव से ही योगी प्रथम ध्यान का लाभ करता है। इस ध्यान की प्रक्रिया में वितर्क चित्त को आलम्बन के पास ले जाता है, विचार चित्त को आलम्बन में लगातार प्रवृत्त कराता है, प्रीति चित्त को परितोष देती है, सुख चित्त में वृद्धि करता है और एकाग्रता चित्त को आलम्बन में सम्यक् और समरूप प्रतिष्ठित करती है।[१८६] इस प्रकार प्रथम ध्यान की प्राप्ति होती है। परन्तु प्रथम ध्यान की प्राप्ति के बाद योगी को यह निश्चित कर लेना चाहिए कि किस प्रकार के आवास में रहकर किस प्रकार का भोजन करे और किस प्रकार के ईर्यापथ से उसे प्रथम ध्यान की प्राप्ति हुई है, क्योंकि कदाचित् उसका ध्यान नष्ट हो गया तो पुनः साधक उसी प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त कर पुनः प्रथम ध्यान को प्राप्त कर सकता है।[१८७] जब तक साधक को प्रथम ध्यान पर सुदृढ़तापूर्वक अधिकार न हो जाए, तब तक उसे दूसरे ध्यान की ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहिए वरना दूसरे ध्यान की प्राप्ति न होकर प्रथम ध्यान से च्युत होने की सम्भावना अधिक होगी। *पटिसम्मिदामग* में वशिताओं द्वारा प्रथम ध्यान पर पूर्ण अधिकार करने को कहा गया है।

वशिता का अर्थ होता है- सामर्थ्य सम्पन्न योगी का भाव। ये पाँच प्रकार की हैं- आवर्जन, समावर्जन, अधिष्ठान, व्युत्थान तथा प्रत्यवेक्षण।[१८८]

आवर्जन- प्रथम ध्यान के प्रत्येक अंग को निश्चित देश और काल में, निश्चित समय के लिए यथारुचि प्रवृत करने की सामर्थ्यता आवर्जन वशिता कहलाती है। इस वशिता के फलीभूत हो जाने पर साधक जब चाहे, जहाँ भी चाहे और जितनी देर चाहे उतनी देर प्रथम ध्यान के किसी भी अंग पर चित्त को स्थिर कर सकता है।[१८९]

समावर्जन- ध्यान प्राप्त करने के प्रश्चात् विहार करने की इच्छा होने पर भी साधक अधिक भवांग (स्वाभाविक मन) उत्पन्न न होने देकर भवंग चलन, भवंगोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, परिकर्म, उपचार, अनुलोम और गोत्रभू को ही उत्पन्न करके यथारुचि ध्यान चित्तो के उत्पाद में सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है, यही सामर्थ्यभाव समावर्जन वशिता कहलाती है।[१९०]

अधिष्ठान- चित्त को ध्यान-सन्तति में प्रतिष्ठित करनें की सामर्थ्यता अधिष्ठान वशिता के नाम से जानी जाती है। इस वशिता के अन्तर्गत भवांग अर्थात् आलम्बन रहित परिशुद्ध चित्त का अभिभव होता है और ध्यान-सन्तति की प्रतिष्ठा होती है। साधक जिस क्षण ध्यान के प्रवाह में रहता है उस क्षण भवांगचित्त की उत्पत्ति को रोककर ध्यान में ही रहता है। स्थिति की ये सामर्थ्यता ही अधिष्ठान वशिता कहलाती है।[१९१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्युत्थान- निश्चित काल तक ध्यान-प्रवाह को बनाये रखने तथा चित्त को भवांग-प्रपात से बचाने की सामर्थ्यता को अधिष्ठान वशिता कहते हैं, परन्तु ठीक इसे विपरीत यथासमय अर्थात् निश्चित काल पर ध्यान से उठने की सामर्थ्यता व्युत्थान वशिता कहलाती है।[१९२]

प्रत्यवेक्षण- ध्यान के अंगों का आवर्जन (अर्थात् निश्चित देशकाल और निश्चित समय के लिए यथारुचि प्रवृत्ति) करते समय दो अंगों के आवर्जन के अन्तराल अनेक भवांग-चित्तों के उत्पन्न होने की संभावाना रहती है। साधक जब इन भवांग-चित्तों की उत्पत्ति को अवसर न देकर ध्यान के अंगों का पुनः-पुनः आवर्जन करने की क्षमता को प्राप्त करता है तो उसकी वह सामर्थ्यता ही प्रत्यवेक्षण वशिता कहलाती है।[१९३]

उपर्युक्त पाँच वशिताओं को प्राप्तकर साधक ध्यान के पाँचों अंग की स्थिति को मजबूत कर लेता है, जिससे उसके प्रथम ध्यान के नष्ट होने की संभावाना नहीं रहती है और साधक प्रथम ध्यान का धारक हो जाता है।

प्रीतिसुख एकाग्र सहित (द्वितीय ध्यान)

इस ध्यान में वितर्क तथा विचार का अभाव रहता है। पंच वशिताओं द्वारा जब साधक प्रथम ध्यान में अभ्यस्त हो जाता है तब वह प्रथम ध्यान से उठकर विचार करता है कि प्रथम ध्यान में वितर्क एवं विचार जैसे स्थूल अंगों का समावेश रहता है, अतः वह दोषपूर्ण है तथा वितर्क एवं विचार से रहित ध्यान अपेक्षाकृत अधिक शान्त एवं प्रणीत होता है। वितर्क एवं विचार में नाना आपत्तियों को देखकर साधक द्वितीय ध्यान को प्राप्त करने के लिए अपने पूर्व निमित्त को ही आलम्बन बनाकर भावना करता है। इसमें प्रीति, सुख तथा एकाग्रता की प्रधानता रहती है। इस ध्यान की उपमा पानी के उस भीतरी स्रोतोंवाले जलाशय से दी गयी है जिसमें किसी भी दिशा से पानी आने का रास्ता नहीं है, वर्षा की धारा भी उसमें नहीं गिरती, प्रत्युत् भीतर की जलधारा फूटकर उसे शीतल जल से भर देती है। इसी प्रकार भीतरी सुप्रसन्नता तथा चित्त की एकाग्रता के कारण समाधिजन्य प्रीति-सुख साधक के शरीर को भीतर से ही आप्लावित कर देता है।[१९४] फलतः साधक वितर्क और विचार के शांत हो जाने से भीतरी प्रसन्नता एवं चित्त की एकाग्रता से युक्त, किन्तु वितर्क और विचार से रहित समाधि से उत्पन्न प्रीति सुखवाले द्वितीय ध्यान को प्राप्त कर विहरता है।

वितर्क एवं विचारपूर्वक न होने के कारण द्वितीय ध्यान प्रथम ध्यान की अपेक्षा अग्र और श्रेष्ठ होता है तथा समाधि में वृद्धि करता है, क्योंकि प्रथम ध्यान में जो श्रद्धा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है वह वितर्क विचार के साथ होने के कारण निर्बल रूप में रहती है, वही श्रद्धा द्वितीय ध्यान में आकर बलवती हो जाती है जिस कारण साधक का चित्त सुप्रसन्न रहता हैं।[१९५] *अभिधर्मकोश* में इस ध्यान को संप्रसाद कहा गया है। अर्थात् श्रद्धायुक्त होने के कारण तथा वितर्क-विचार के क्षोभ से व्युपशम होने के कारण यह चित्त को सुप्रसन्न करता है। संप्रसाद इस ध्यान का परिष्कार है।[१९६] चूँकि यह समाधि में वृद्धि करता है, इसलिए इसे एकोदिभाव कहते हैं।[१९७] इस ध्यान पर भी पाँच वशिताओं द्वारा आधिपत्य स्थापित करना चाहिए।

सुख एकाग्र सहित (तृतीय ध्यान)

इस ध्यान में केवल सुख और एकाग्रता की ही प्रधानता रहती है। द्वितीय ध्यान से उठकर साधक जब विचार करता है तो उसे प्रीति से युक्त होने के कारण द्वितीय ध्यान भी दोषयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि प्रीति स्थूल होती है और इसकी प्रवृत्ति का आकार उद्वेगपूर्ण होता है। इसलिए प्रीति से युक्त द्वितीय ध्यान भी त्याज्य है। ऐसा विचार कर साधक सुख तथा एकाग्रता—इन दो अंगोंवाले तृतीय ध्यान की ओर प्रयत्नशील होता है। वह स्थूल अंग के प्रहाण एवं तृतीय ध्यान की प्राप्ति के लिए पृथ्वी निमित्त का बारम्बार चिन्तन करता है।[१९८] फलतः भवांग का उपच्छेद हो चित्त का आवर्जन होता है। तदन्तर उसी पृथ्वी-कसिण आलम्बन में चार या पाँच जवन उत्पन्न होते हैं। इनमें से केवल अन्तिम जवन रूपावचर-तृतीय ध्यान का है।[१९९] इस ध्यान में साधक प्रीति एवं विराग से भी उपेक्षायुक्त होकर स्मृति एवं संप्रज्ञता को ही महत्त्व देता है। वह शरीर के आर्यों (जिसने आर्य ज्ञान प्राप्त कर लिया हो) के द्वारा कहे गये सभी सुखों का अनुभव करते हुए उपेक्षा के साथ स्मृतिमान और सुख विहारवाले तीसरे ध्यान को प्राप्त होकर विहरता है।[२००] तृतीय ध्यान को करनेवाला ध्यानी उपेक्षा, स्मृति तथा संप्रज्ञता से युक्त होता है।

उपेक्षा- न तो प्रीति से ही चित्त में कोई विक्षेप उत्पन्न होता है और न विराग से ही। चित्त जिन भावों की उपेक्षा कर समता का अनुभव करता है, उनके दश प्रकार हैं[२०१]— षडंगोपेक्षा, ब्रह्मविहारोपेक्षा, बोध्यंगोपेक्षा, वीर्योपेक्षा, संस्कारोपेक्षा, वेदनोपेक्षा, विपश्यनोपेक्षा, तत्रमध्यत्वोपेक्षा, ध्यानोपेक्षा और परिशुद्धयुपेक्षा। यद्यपि ये उपेक्षायें प्रथम एवं द्वितीय ध्यान में भी रहती हैं, किन्तु वहाँ वितर्क, विचार एवं प्रीतिरूप अंगों के होने के कारण इनका कार्य अव्यक्त रहता है।

स्मृति - साधक को द्वितीय ध्यान के समय होनेवाली वृत्तियों की स्मृति का बना रहना स्मृति कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संप्रज्ञात - साधक के चित्त में सुख की भावना का विक्षेपण न होना संप्रज्ञता है। ध्यान से साधक के शरीर में एक विचित्र शान्ति तथा समाधान का उदय होता है। जिसमें साधक को समता भाव की प्राप्ति होती है। जैसा कि *दीघनिकाय* में दृष्टांत उपस्थित करते हुए कहा भी गया है कि जिस प्रकार कमल समुदाय में कोई नीलकलम, रक्तकमल या श्वेतकमल जल में उत्पन्न होकर जल में ही बढ़ता है और जड़ से चोटी तक जल में ही व्याप्त रहता है, उसी प्रकार तृतीय ध्यान में भिक्षु का शरीर प्रीतिसुख में व्याप्त रहता है।[२०२]

प्रीति पुन: उत्पन्न न हो इसलिए तृतीय ध्यान पर भी योगी को वशिताओं द्वारा आधिपत्य स्थापित कर लेना चाहिए।

एकाग्रता सहित (चतुर्थ ध्यान)

जब साधक पाँच वशिताओं द्वारा तृतीय ध्यान में अभ्यस्त हो जाता है और वह उसके विषय में विचार करता है तो तृतीय ध्यान भी उसे दोषयुक्त दिखाई देता है। कारण कि इसका सुख स्थूल है और इसके अंग दुर्बल हैं। साधक को तृतीय ध्यान की अपेक्षा चतुर्थ ध्यान अधिक शान्त और प्रणीत लगता है। इस ध्यान में शारीरिक सुख या दु:ख का सर्वथा त्याग, मानसिक सुख या दु:ख का प्रहाण, राग-द्वेष से विरह, उपेक्षा द्वारा स्मृति परिशुद्धि—इन चार विशेषताओं का जन्म होता है, जो पूर्व के तीन ध्यानों के परिणाम रूप होता है। *दीघनिकाय* में कहा भी गया है-सौमनस्य एवं दौर्मनस्य के अस्त हो जाने से न दु:ख न सुखवाला यह ध्यान स्मृति एवं उपेक्षा से शुद्ध होता है। योगी चतुर्थ ध्यान रूपी चित्त से शरीर को निर्मल बनाता है। उसके शरीर का कोई भी भाग ऐसा नहीं बचता जो शुद्ध एवं निर्मल न हो।[२०३] जिस प्रकार उजले कपड़े से सिर तक ढ़ककर बैठनेवाले पुरुष के शरीर का कोई भी भाग उजले कपड़े से बे-ढ़का नहीं रहता, उसी प्रकार साधक के शरीर का कोई भी भाग शुद्ध-चित्त से अव्याप्त नहीं रहता। ध्यान की यही पराकाष्ठा मानी गयी है।

इस प्रकार चतुर्थ ध्यान की विशेषता को समझकर साधक पुन:-पुन: उसी (पृथ्वी) निमित्त का आलम्बन कर ध्यान को सुदृढ़ बनाता है। इस ध्यान के दो अंग हैं-उपेक्षा–वेदना तथा एकाग्रता।[२०४] दु:ख और सुख से रहित अतिसूक्ष्म एवं कठिनाई से समझी जानेवाली वेदना उपेक्षा–वेदना है, जो न तो कायिक सुख रूप होती है और न ही कायिक दु:खरूप, न चैतसिक सुखरूप होती है न चैतसिक दु:खरूप और न ही सुख-दु:ख, सौमनस्य एवं दौर्मनस्य का अभावमात्र ही होती है, बल्कि यह एक ऐसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदना है जिसे सुख-दुःख के प्रहाण से ही प्राप्त किया जा सकता है। सुख-दुःख के प्रहाण के साथ-साथ राग-द्वेष भी नष्ट हो जाते हैं। फलतः स्मृति पूर्ण रूप से परिशुद्ध हो जाती है, क्योंकि रागद्वेषविहीन उपेक्षा ही स्मृति की परिशुद्धि में प्रधान कारण होती है। किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि पूर्व के तीनों ध्यान उपेक्षा विहीन होते हैं, बल्कि पूर्व के तीनों ध्यानों में भी उपेक्षा विद्यमान रहती है, किन्तु वह वितर्क, विचार, प्रीति तथा सुख से युक्त होने के कारण अपरिशुद्ध रूप में होती है और यह स्वाभाविक भी है कि उपेक्षा के अपरिशुद्ध होने पर स्मृति भी अपरिशुद्ध होगी। अतः वितर्क आदि के शान्त होने से उपेक्षा अत्यन्त परिशुद्ध हो जाती है और उपेक्षा की परिशुद्धि से स्मृति आदि भी परिशुद्ध हो जाती है।[२०५]

कहीं-कहीं पाँच ध्यानों (ध्यान पंचक) का वर्णन देखने को मिलता है। ध्यान-पंचक के द्वितीय ध्यान में वितर्क को छोड़कर विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता—ये चार अंग हैं, तृतीय ध्यान में विचार नहीं है। इसमें प्रीति, सुख तथा एकाग्रता ये–तीन अंग हैं, अन्तिम दो ध्यान ध्यानचतुष्टक का तृतीय और चतुर्थ ध्यान है। इससे स्पष्ट होता है कि पाँचवाँ ध्यान कोई नया नहीं है, बल्कि चतुष्टक ध्यान के द्वितीय ध्यान को ही दो भागों में विभक्त कर दिया गया है।

अरूपावचर ध्यान

रूपावचर ध्यान की प्राप्ति के पश्चात् साधक अरूपावचर ध्यान की ओर अग्रसर होता है। यद्यपि रूपावचर ध्यान की चतुर्थ अथवा पंचम ध्यान की अवस्था के बाद निर्वाण या मोक्ष का साक्षात्कार सम्भव हो जाता है, फिर भी साधक निर्वाण और निराकार आलम्बन पर ध्यान करता है। रूपावचर ध्यान में साधक एक ही निमित्त को आलम्बन के रूप में स्वीकार करता है तथा उसी के सहारे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अवस्था को प्राप्त करता है, वहीं अरूपावचर ध्यान में साधक आलम्बनों को बदलते हुए ध्यान की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अवस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। परन्तु इतना निश्चित है कि चार रूपावचर ध्यान की प्राप्ति के पश्चात् ही चार अरूपावचर ध्यान की प्राप्ति होती है। करजरूप (शुक्रशोणित से उत्पन्न) काय में और इन्द्रिय तथा उनके विषय में दोष देखकर रूप का समतिक्रम करने के हेतु यह ध्यान किया जाता है। फलतः साधक कसिण रूप का अतिक्रमण कर रूप-विमुक्त अरूप-ध्यान की भावना करता है। रूपावचर से अरूपावचर की ओर अग्रसर होने को एक उदाहरण द्वारा बड़े ही सरल शब्दों में समझाया गया है। कहा गया है–जिस प्रकार कोई पुरुष सर्प से भयभीत होकर सर्प के समान दिखनेवाली रस्सी से भी भय खाता है अथवा जिस प्रकार पिशाच से डरनेवाला पुरुष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिशाच के समान दिखनेवाले स्थाणु से भी डरता है, उसी प्रकार करजरूप से भयभीत साधक कसिण रूप से भी भय खाने लगता है।[२०६]

अरूपावचर ध्यान के चार प्रकार बताये गये हैं—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिंञ्चन्यायतन, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन।[२०७]

आकाशानन्त्यायतन (प्रथम आरूप्य-ध्यान)

इस ध्यान में साधक अनन्त आकाश पर विचार करता है। जब साधक चतुर्थ ध्यान में अभ्यस्त हो जाता है तब उसे वह ध्यान कसिण रूप के आलम्बन से उत्पन्न होने के कारण दोषयुक्त दिखाई पड़ता है। उसे यह प्रतीत होता है कि चतुर्थ ध्यान का सुखात्मक अंगोंवाले तृतीय ध्यान से सामीप्य है। अत: उसका स्वभाव शान्त नहीं हो सकता है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के दोषों को देख कर रूप के आलम्बन का त्याग करता है तथा अनन्त आकाश की भावना करता है।[२०८]

प्रारम्भ में साधक के ध्यान का आलम्बन छोटा होता है जिसे वह चतुर्थ ध्यान की अवस्था तक आते-आते विश्वाकार कर लेता है। उस विश्वाकार आकृति पर चतुर्थ-ध्यान साध्य करने के पश्चात् साधक अपने ध्यान-बल से उस आकृति को दूर करके विश्व में केवल एक आकाश ही भरा हुआ है, ऐसा देखता है। इस प्रकार चतुर्थ ध्यान तक आलम्बन रूपात्मक रहता है और अब अरूपात्मक हो जाता है।[२०९] अरूपात्मक यानी कि किसी प्रकार का कोई आकार-प्रकार नहीं होना। चूँकि आकाश की न तो उत्पत्ति ही होती है और न विनाश ही होता है, वह आदि तथा अन्तरहित है। इसलिए उसे अनन्त कहा जाता है। अनन्त आकाश को ध्यान का आलम्बन बनाने के कारण ही यह आकाशानन्त्यायतन रूपी प्रथम आरूप्य ध्यान कहलाता है।[२१०]

विज्ञानानन्त्यायतन (द्वितीय आरूप्य-ध्यान)

आकाशानन्त्यायतन प्रथम आरूप्य ध्यान करने के पश्चात् साधक यह विचारता है कि प्रथम आरूप्य-ध्यान का चतुर्थ रूप-ध्यान से सामीप्य है, अत: प्रथम आरूप्य ध्यान की पंच वशिताओं के द्वारा निरन्तर भावना न करने पर साधक का चतुर्थ रूप-ध्यान में पतन हो सकता है। इस प्रकार प्रथम आरूप्य ध्यान में दोष देखकर साधक द्वितीय आरूप्य ध्यान को प्राप्त करने को उद्यत होता है और वह आकाश का अतिक्रमण कर प्रथम आरूप्य विज्ञान को आलम्बन बनाकर ध्यान करता है।[२११] आकाश की अनन्त मर्यादा ही विज्ञान की मर्यादा है, क्योंकि विज्ञान को आलम्बन बनाने से पूर्व प्रथम आरूप्य ध्यान में आकाश आलम्बन होता है जो अनन्त विशेषणयुक्त है। अत: द्वितीय अरूप ध्यान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विज्ञानानन्त्यायतन भी अनन्त होगा। साधक जब आकाशानन्त्यायतन से विज्ञानानन्त्यायतन की ओर अग्रसर होने की भावना करता है तो वह साधक की परिकर्म भावना होती है। इस प्रकार पुनः-पुनः भावना करता हुआ जब साधक आकाश का अतिक्रमण करता है तो वह उसकी उपचार भावना होती है और विज्ञानानन्त्यायतन की प्राप्ति अर्पणा भावना होती है।

आकिंचन्यायतन (तृतीय आरूप्य ध्यान)

द्वितीय आरूप्य ध्यान करने के पश्चात् साधक को द्वितीय आरूप्य ध्यान भी दोषयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि द्वितीय आरूप्य ध्यान प्रथम आरूप्य ध्यान से सामीप्य रखता है, अतः द्वितीय आरूप्य ध्यान के नष्ट होने पर साधक पुनः प्रथम आरूप्य ध्यान आकाशानन्त्यायतन में पहुँच सकता है। इस दृष्टि से साधक को तृतीय आरूप्य ध्यान अपेक्षाकृत अधिक शान्त और सुखमय प्रतीत होता है। फलतः इस ध्यान में साधक विज्ञान को दोषमय जानकर उसका समतिक्रम करने के लिए विज्ञान के अभाव को अपने ध्यान का आलम्बन बनाता है। यह कुछ भी नहीं हैं, यह कुछ भी नहीं हैं, सब कुछ शान्त है, इस भावना को करता हुआ साधक इस तृतीय अरूपध्यान की प्राप्ति करता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति रास्ते में विद्यमान सभामण्डप में भिक्षुओं को देखता है और लौटते समय तक सभा विसर्जित हो जाने के कारण सभामण्डप में किसी भिक्षु को न देखकर उसके मन में सभामण्डप शून्य है, खाली है, इतना ही भाव आता है।[२१२] ऐसे ही तृतीय आरूप्य ध्यान को प्राप्त साधक 'नहीं है', 'नहीं है' का विचार ध्यान में लाता है।

नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (चतुर्थ आरूप्य ध्यान)

जब साधक तृतीय आरूप्य ध्यान में पूर्णरूपेण अभ्यस्त हो जाता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है कि तृतीय ध्यान भी द्वितीय आरूप्य ध्यान का निकटवर्ती है, अतः तृतीय आरूप्य ध्यान में गिर जाने की संभावना हो सकती है। जबकि चतुर्थ आरूप्य ध्यान इससे अधिक शान्त एवं सौम्य है। ऐसा सोचकर साधक चतुर्थ ध्यान की ओर अग्रसर होता है। इस ध्यान में अभाव की संज्ञा का भी अभाव होता है। अतः अभाव की संज्ञा का भी अभाव जिसमें है, ऐसा अतिशान्त, सूक्ष्म यह चौथा आयतन है। इस ध्यान में संज्ञा अतिसूक्ष्म रूप में रहती है, इसलिए इसे सर्वथा संज्ञा विमुक्त (असंज्ञा) भी नहीं कहा जा सकता है और स्थूल में न होने से उसे संज्ञा भी नहीं कह सकते हैं।[२१३] इसलिए ही इस ध्यान को नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कहा जाता है। एक दृष्टान्त द्वारा इसे बड़े ही सरल तरीके से समझाया गया है। गुरु और शिष्य विहार कर रहे थे। रास्ते में पानी को देखकर शिष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने गुरु से कहा-मार्ग में पानी है, अत: जूते उतार लीजिए। तब गुरु ने शिष्य से कहा- रुक जाओ, स्नान कर लूँ। शिष्य ने कहा- गुरुजी! स्नान करने योग्य पानी पर्याप्त नहीं है। अत: जिस प्रकार उपानह (जूता) को भिगोने के लिए पानी पर्याप्त है, किन्तु स्नान के लिए पर्याप्त नहीं है। इसी प्रकार इस चौथे आरूप्य ध्यान में संज्ञा का अतिसूक्ष्म अंश विद्यमान है, किन्तु संज्ञा का कार्य हो इतना स्थूल भी वह नहीं है। इसीलिए इसको "नैवसंज्ञानासंज्ञायतन" कहा गया है। *विसुद्धिमग्गो*[२१४] में एक दूसरा उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है- किसी श्रामणेर ने पात्र को तेल से मलकर रखा था। किसी स्थविर ने यवागु पीने के लिए श्रामणेर से पात्र माँगा। श्रामणेर ने कहा— पात्र में तेल है। तब स्थविर ने तेल लाने को कहा। श्रामणेर ने कहा कि लाने योग्य तेल नहीं है। अत: तेल से लिप्त पात्र की जो स्थिति है, वही स्थिति नैवसंज्ञानासंज्ञायतन की होती है। जैसे तेल से पात्र के लिप्त होने से यह कहा जाता है कि पात्र में तेल है, किन्तु माँगने पर यह भी कहा जाता है कि तेल नहीं है। इसी प्रकार चतुर्थ ध्यान में साधक न संज्ञाविहीन ही होता और न उसे संज्ञायुक्त ही कहा जा सकता है।

इस प्रकार बौद्ध परम्परा में चार रूपावचर तथा चार अरूपावचर ध्यान हैं। परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि दोनों प्रकार के ध्यानों में कोई असमानता या समानता नहीं है, बल्कि है। हम देखते हैं कि जिस प्रकार रूपावचर ध्यानों में अंगो का प्रहाण होता है उसी प्रकार अरूपावचर ध्यानों में नहीं होता है। वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता आदि रूपावचर के पाँच अंग माने गये हैं। जिनमें द्वितीय रूपावचर ध्यान में प्रीति, सुख तथा एकाग्रता— ये तीन अंग शेष रहते हैं, बाकी दो का प्रहाण हो जाता है। तृतीय ध्यान में प्रीति भी समाप्त हो जाती है और सुख तथा एकाग्रता शेष रहती हैं। चतुर्थ ध्यान में मात्र एकाग्रता ही शेष रह जाती है। इस तरह ध्यान-अंगों में क्रमिक कमी के कारण ध्यान अपेक्षाकृत अधिक शान्त, प्रणीत एवं सूक्ष्म होता जाता है। परन्तु अरूपावचर ध्यानों में अंग-प्रहाण जैसी कोई बात नहीं होती, बल्कि उसमें चित्त की एकाग्रता समान रूप से उपलब्ध होती है।[२१५] चारों आरूप्य ध्यान समान अंगवाले होते हैं फिर भी प्रत्येक बाद का ध्यान पिछले ध्यान की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक शान्त एवं सूक्ष्म होता है, क्योंकि आलम्बन के बदलने से ध्यान क्रमश: सूक्ष्म एवं सौम्य होता जाता है। इन चार आरूप्य ध्यानों में उपेक्षा तथा चित्त की एकाग्रता समान रूप से उपलब्ध होती है। रूप का अतिक्रमण कर आकाशानन्त्यातन नामक प्रथम अरूप ध्यान चतुर्थ रूप ध्यान की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म एवं शान्त होता है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय आरूप्य ध्यान क्रमश: एक-दूसरे से सूक्ष्म एवं शान्त होता है। इस प्रकार चारों आरूप्य ध्यान क्रम से शान्ततर, प्रणीततर और सूक्ष्मतर होते हैं। इसके बाद कोई सूक्ष्म अवस्था नहीं होती जिसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधक भावना से प्राप्त कर सके। कहा भी गया है- जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति असंयमरहित कठोर राजा के दोषों को जानता हुआ भी अपनी वृत्ति के लिए उसी के सहारे रहता है। ठीक उसी प्रकार साधक अन्य आलम्बन के अभाव में दोष देखने पर भी चतुर्थ आरूप्य ध्यान के सहारे ही रहता है।[२१६] इस प्रकार हम देखते हैं कि रूपावचर एवं अरूपावचर ध्यान में समानता और असमानता दोनों ही हैं।

वर्तमान में जैन एवं बौद्ध ध्यान–पद्धति

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रेक्षाध्यान– वि०सं० २०१७ में युवाचार्य महाप्रज्ञ (वर्तमान आचार्य) के मन में प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या जैन साधकों की भी कोई ध्यान-पद्धति है? इसी प्रश्न के समाधान हेतु तेरापंथ के नवम आचार्य तुलसी ने उन्हें प्रेरित कर आगमों से इसे खोज निकालने के लिए मार्ग दर्शन दिया। २०१८ में आचार्य तुलसी ने 'मनोऽनुशासनम्' पुस्तक को लिखा, जिसमें जैन साधना–पद्धति के कुछ रहस्य सामने आये। इसी क्रम में क्रमशः 'चेतना का उर्ध्वारोहण', 'महावीर की साधना का रहस्य', 'तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो' आदि पुस्तकें जैन योग–साधना के सम्बन्ध में प्रकाश में आयीं।[२१७] कई शताब्दियों से ध्यान की जो परम्परा विच्छिन्न हो गयी थी, उसके लिए ये प्रयास पूर्ण नहीं थे। वि०सं० २०२९ में लाडनूं में एक महीने का व चूरू, राजगढ़, हिसार और दिल्ली में दस-दस दिन के साधना शिविर लगाये गये। जिसके कारण अनेक साधु–साध्वी तथा गृहस्थ लोग भी ध्यान–साधना में रुचि लेने लगे। वि०सं० २०३१ में 'अध्यात्म साधना केन्द्र' दिल्ली में सत्यनारायण जी गोयनका ने 'विपश्यना ध्यान शिविर' का आयोजन किया। उस शिविर में अनेक साधु–साध्वियों के साथ युवाचार्य महाप्रज्ञ ने भी भाग लिया और आनापानसती व विपश्यना के प्रयोग किये। इन प्रयोगों से उन्हें जैन ध्यान–साधना पद्धति की समस्या का समाधान मिल गया। महाप्रज्ञजी ने गोयनकाजी से इस विषय पर विस्तार से चर्चा की। चर्चा करने के बाद उन्होंने जैनों का *आचाराङ्ग*, बौद्धों का *विशुद्धिमग्ग* और पतञ्जलि का *योगदर्शन*– इन तीनों को लेकर ध्यान–सूत्रों की अभ्यास पद्धति की खोज प्रारभ कर दी।[२१८]

इस प्रकार लम्बे समय तक अन्वेषण करते-करते युवाचार्य महाप्रज्ञ को सफलता प्राप्त हुई। वि०सं० २०३२ में जैन परम्परागत ध्यान का अभ्यास-क्रम निश्चित करने का संकल्प हुआ और ध्यान की इस अभ्यास विधि का नाम 'प्रेक्षाध्यान' रखा गया। प्रेक्षाध्यान पद्धति को जनसमूह के सामने लाने का पूरा श्रेय आचार्य तुलसी व युवाचार्य महाप्रज्ञ को जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपश्यना– यह भारत की एक अत्यन्त पुरातन ध्यान–विधि है। २५०० वर्ष पूर्व भगवान् *गौतम बुद्ध* ने इसे खोज निकाला और ४५ वर्षों तक स्वयं इसका अभ्यास किया और लोगों से भी करवाया। भगवान् *बुद्ध* ने इसे अपने शिष्य *महाकश्यप* के मन में संप्रेषित कर दिया और *महाकश्यप* ने *आनन्द* के मन में। इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा के क्रम से यह ध्यान–विधि निरन्तर चलती रही। ध्यान–सम्प्रदाय में *महाकश्यप* और *आनन्द* तथा क्रमशः बोधिधर्म तक अट्ठाईस धर्माचार्यों के नाम मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं[२१९]—

१. महाकश्यप २. आनन्द ३. शाणवास ४. उपगुप्त ५. धृतक ६. मिच्छक ७. वसुमित्र ८. बुद्धनन्दी ९. बुद्धमित्र १०. भिक्षु पार्श्व ११. पुण्ययशस् १२. अश्वघोष १३. भिक्षुकपिमाल १४. नागार्जुन १५. काणदेव १६. आर्य राहुलक १७. संघनन्दी १८. संघयशस् १९. कुमारिल २०. जयंत २१. वसुबन्धु २२. मनुर २३. हक्लेनयशस् (हक्लेन) २४. भिक्षु सिंह २५. वाशसित २६. प्रज्ञातर २७. पुण्यमित्र २८. बोधिधर्म।

इस प्रकार *बोधिधर्म* अट्ठाईसवें धर्मनायक हैं। आप चीन में 'ध्यान-सम्प्रदाय' के प्रथम धर्मनायक हुए हैं।[२२०] समय के साथ–साथ यह ध्यान–विधि भारत के पड़ोसी देशों- बर्मा, श्रीलंका, थाईलैण्ड आदि में फैल गई। *बुद्ध* के परिनिर्वाण के लगभग ५०० वर्ष बाद विपश्यना भारत से लुप्त हो गई। दूसरी जगह भी इसकी शुद्धता नष्ट हो गई। केवल बर्मा में इस विधि के प्रति समर्पित आचार्यों की एक कड़ी के कारण यह अपने शुद्ध रूप में कायम रह पाई। इसी परम्परा के प्रख्यात आचार्य सियाजी ऊबा खिन विपश्यना ध्यान का प्रचार करते थे, वे स्वयं साधना का जीवन जीते थे और लोगों को सिखाते थे। ब्रह्मदेश (बर्मा) के ही श्री सत्यनारायण गोयनका का विपश्यना के प्रति बढ़ते उनके आकर्षण को देखकर ही सियाजी ऊबा खिन ने उन्हें लोगों को विपश्यना सिखलाने के लिए १९६९ में आचार्य पद सौंपा।[२२१] गोयनका जी ने भारत में ही नहीं, अपितु ८० से भी अधिक देशों में लोगों को फिर से विपश्यना सिखायी और अपने आचार्य सियाजी ऊबा खिन का स्वप्न साकार किया। इस प्रकार विपश्यना ध्यान–पद्धति को पुनः विकसित करने का श्रेय श्री सत्यनारायण गोयनका जी को ही जाता है।

अर्थ एवं परिभाषा

'प्रेक्षा' शब्द 'ईक्ष्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है–देखना। प्र+ईक्षा= यानी गहराई में उतरकर देखना।[२२२] विपश्यना 'पश्य्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है– देखना। वि+पश्यना=विपश्यना। इसका अर्थ भी प्रेक्षा के समान ही गहराई में उतरकर देखना है।[२२३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेक्षा और विपश्यना दोनों ही ध्यान-पद्धतियों के प्रयोग वर्तमान में चल रहे हैं। प्रेक्षा व विपश्यना–दोनों शब्दों का अर्थ भी एक ही है, परन्तु इनकी पद्धति और दर्शन में अन्तर है। प्रेक्षाध्यान का उद्देश्य है– आत्मा का साक्षात्कार, आत्म–दर्शन तथा विपश्यना का उद्देश्य है–दु:ख को मिटाना, क्योंकि बौद्ध दर्शन में आत्मवाद की स्पष्ट अवधारणा नहीं है।

दार्शनिक आधार- प्रेक्षाध्यान और विपश्यना दोनों में ही क्रमश: श्वास–प्रेक्षा, शरीर–प्रेक्षा और आनापानसति व काय–विपश्यना के प्रयोग चलते हैं। लेकिन प्रेक्षाध्यान में इनके अलावा भी कई प्रयोग चलते हैं। जिनका वर्णन आगे किया जा रहा है । कुछ प्रयोग समान होने पर भी उनमें मूलभूत अन्तर दर्शन का है, क्योंकि एक आत्मवादी है तो दूसरा अनात्मवादी है, एक अनेकान्तवादी है तो दूसरा क्षणभंगवादी ।

प्रेक्षाध्यान- नित्यानित्य का ज्ञान होने पर ही प्रेक्षा होती है। उत्पाद और व्यय को ध्रौव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता है। जो सत् है वह त्रयात्मक है।[२२४] नित्य और अनित्य का ज्ञान ही प्रेक्षाध्यान का आधार है। जैन दर्शन में दु:ख के साथ सुख को भी स्वीकार किया गया है । भगवान् *महावीर* ने जन्म, मरण, बुढ़ापा और रोग इन चारों दु:खों को स्वीकार करने के साथ ही साथ सुख को भी स्वीकार किया है। पौद्गलिक सुख भी सुख है। साधनाकाल में भी सुख की अनुभूति होती है। जैन दर्शन आत्मवादी है। आत्मा को स्वीकार करता है। प्रेक्षा का तो मूल आधार है आत्मा का ज्ञान[२२५], क्योंकि बिना आत्मा का ज्ञान प्राप्त किये प्रेक्षा नहीं हो सकती।

विपश्यना- बौद्ध दर्शन के अनुसार जब अनित्य, दु:ख और अनात्म की चेतना प्रकट होती है तब विपश्यना का प्रादुर्भाव होता है। विपश्यना के लिए इन तीनों का होना आवश्यक है—अनित्य का ज्ञान, दु:ख का ज्ञान और अनात्म का ज्ञान। इन तीनों का ज्ञान होने से ही विपश्यना होती है।

अनित्य का ज्ञान- बौद्ध दर्शन का सिद्धान्त है–क्षणिकवाद। प्रति क्षण उत्पाद और व्यय हो रहा है। क्षणभंगुरता का ज्ञान ही अनित्यता का ज्ञान है।

दु:ख का ज्ञान- जन्म, बुढ़ापा, रोग और मरण ये चारों ही दु:ख हैं। इस दु:ख का ज्ञान ही विपश्यना का आधार है।

अनात्म का ज्ञान- बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है। आत्मा के सन्दर्भ में बौद्ध दर्शन मौन है। अत: अनात्म का ज्ञान हो जाने पर विपश्यना प्रकट होती है। जैन दर्शन में सर्वथा अनित्यवाद, दु:खवाद और अनात्मवाद मान्य नहीं है। इन तीन आधारों से ही प्रेक्षा और विपश्यना के दार्शनिक आधार की भिन्नता स्पष्ट होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिक आधार

प्रेक्षा– प्रेक्षाध्यान पद्धति कायोत्सर्ग पर आधारित है। प्रेक्षाध्यान का प्रारम्भ कायोत्सर्ग यानी शरीर के त्याग से होता है और इसका समापन भी कायोत्सर्ग यानी काया के निरोध, काया के उत्सर्ग से होता है। शरीर और आत्मा एक नहीं है, अलग-अलग है। इस भेद–विज्ञान का स्पष्टीकरण प्रेक्षाध्यान के द्वारा स्पष्ट किया जाता है । जैन दर्शन का दार्शनिक पक्ष और साधना पक्ष दोनों आत्मा के आधार पर चलता है। पूरा आचारशास्त्र ही आत्मा पर आधारित है।

विपश्यना- विपश्यना पद्धति मन को शांत करने के लिए है, राग-द्वेष कम करने के लिए है, स्वयं को जानने और देखने के लिए है। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार कह सकते हैं– विपश्यना राग–द्वेष और मोह से विकृत हुए चित्त को निर्मल बनाने की साधना है, दैनिक जीवन के तनाव खिंचाव से विकृत हुए चित्त को ग्रन्थि विमुक्त करने का सक्रिय अभ्यास है।[२२६]

जैन दर्शन में जहाँ आत्मा की बात कही जाती है, वहीं *बुद्ध* कहते हैं दु:ख को मिटाओ, दु:ख के हेतु को मिटाओ, आत्मा के झगड़े में मत पड़ो। *महावीर* कहते हैं– केवल अग्र को मत पकड़ों मूल तक जाओ।[२२७] *बुद्ध* का दर्शन है–अग्र पर ध्यान केन्द्रित करना, वहीं *महावीर* का दर्शन है–केवल अग्र नहीं, मूल पर ध्यान केन्द्रित करना। प्रेक्षाध्यान के साथ आत्म–साक्षात्कार का दर्शन जुड़ा है वहीं विपश्यना के साथ दु:ख को मिटाने का दर्शन जुड़ा है। प्रेक्षाध्यान और विपश्यना में कुछ प्रयोग समान हैं, फिर भी उनकी प्रयोग विधि में अन्तर है। नीचे कुछ विधियों का किस–किस ध्यान–पद्धति में प्रयोग किया जाता है इसका उल्लेख किया जा रहा है–

श्वास–प्रेक्षा- इसका प्रयोग विपश्यना और प्रेक्षा दोनों में ही किया जाता है। विपश्यना सहज श्वास को देखने पर बल देती है।[२२८] प्रेक्षा में दीर्घश्वास पर बल दिया जाता है।[२२९] विपश्यना में प्रयत्न नहीं किया जाता है जबकि प्रेक्षा में प्रयत्नपूर्वक लम्बा श्वास लेने का निर्देश भी दिया जाता है। जहाँ एक ओर सहज श्वास का प्रयोग है तो दूसरी ओर प्रयत्नकृत दीर्घश्वास का प्रयोग । विपश्यना में कहा जाता है–जो अनायास, सहज श्वास चल रहा है उसकी विपश्यना करो, उसे देखो, किसी प्रकार का आयास मत करो।[२३०] प्रेक्षा में कहा जाता है –गहरा, लम्बा और लयबद्ध श्वास लें, गहरा, लम्बा और लयबद्ध श्वास छोडें, आते–जाते श्वास की प्रेक्षा करें।[२३१] प्रेक्षा में आयास का विरोध नहीं है, अपितु वहाँ पर प्रयत्न द्वारा श्वास लेने का सुझाव दिया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वास–संयम : समवृत्ति श्वास–प्रेक्षा

विपश्यना में कुम्भक का प्रयोग नहीं होता है किन्तु प्रेक्षा में इसका प्रयोग किया जाता है। लयबद्ध श्वास भी प्रेक्षाध्यान में किया जाता है। जिसमें श्वास की प्रत्येक आवृत्ति समान होती है। इसकी विधि है–पाँच सेकेण्ड श्वास लेना, पाँच सेकेण्ड श्वास भीतर रोकना, पाँच सेकेण्ड श्वास बाहर निकालना, पाँच सेकेण्ड श्वास बाहर रोकना।[२३२] इस प्रकार पुनः इस क्रिया को दोहराना चाहिए। प्रेक्षा में समवृत्ति श्वासप्रेक्षा का प्रयोग भी किया जाता है। विपश्यना में ऐसा कोई प्रयोग नहीं कराया जाता है। इस प्रयोग की विधि है– दाएं नथुने से श्वास लेकर बाएं नथुने से निकालें और बायें से श्वास लेकर दाएं नथुने से श्वास बाहर निकालें। चित्त और श्वास दोनों साथ–साथ चले, निरन्तर श्वास का अनुभव करें।[२३३] इसके अतिरिक्त चन्द्रभेदी–श्वास, सूर्यभेदी–श्वास, उज्जाई–श्वास आदि अनेक प्रयोग प्रेक्षा को विपश्यना से अलग करते हैं, क्योंकि विपश्यना में ऐसा कोई प्रयोग नहीं कराया जाता है ।

आसन- विपश्यना में आसन का निषेध है, क्योंकि बौद्ध साधना–पद्धति में आसन–सम्मत नहीं है। भगवान् *महावीर* ने आसनों को बहुत महत्त्व दिया है। *स्थानांग* में आसनों के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं।[२३४] भगवान् *महावीर* ने स्वयं अनेक आसनों के प्रयोग किये थे। यहाँ तक कि उन्हें केवलज्ञान भी एक विशिष्ट आसन गौदुहिका में उपलब्ध हुआ था।[२३५] ध्यान के साथ आसन का होना अत्यन्त जरूरी है, क्योंकि ध्यान से पाचन–तंत्र गड़बड़ा जाता है और अग्नि मंद हो जाती है। आसन से स्वास्थ्य भी सुदृढ़ होता है और ध्यान से होनेवाली शरीर की हानियों से बचा जा सकता है।[२३६]

प्राणायाम- विपश्यना में प्राणायाम को महत्त्व नहीं दिया गया है। प्रेक्षा में यह प्रयोग किया जाता है। प्राण पर नियंत्रण करने के लिए प्राणायाम आवश्यक है। प्राण पर नियंत्रण किये बिना चंचलता पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता है। हठयोग में तो प्राणायाम को अलग से महत्त्व दिया गया है। जिसमें प्राणायाम के अनेक प्रकारों को बताया गया है।[२३७]

मौन- विपश्यना में मौन का प्रयोग बड़ी कड़ाई से कराया जाता है। पूरे शिविर काल तक मौन का प्रयोग होता है।[२३८] प्रेक्षा में मौन पर इतना बल नहीं दिया गया है। उसमें मात्र सुझाव दिया जाता है कि अनावश्यक बातचीत न करें, आवश्यकता होने पर ही बोलें। मौन तभी पूर्ण होता है जब मन, वाणी और शरीर तीनों से उसका पूर्ण पालन किया जाय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर–प्रेक्षा- विपश्यना और प्रेक्षा दोनों में ही यह प्रयोग कराया जाता है। जिसमें शरीर की सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रिया को राग–द्वेष रहित होकर देखने का सुझाव दिया जाता है। पूरे शरीर को ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर कहीं भी रुके बिना देखते रहने का विधान है। यह प्रयोग दोनों ही पद्धतियों में समान है।[२३९]

चैतन्यकेन्द्र–प्रेक्षा- विपश्यना में ऐसा कोई प्रयोग नहीं है। इस प्रयोग में एक केन्द्र पर रुक कर ध्यान किया जाता है। ध्यान का प्रारम्भ चैतन्य केन्द्रों से ही प्रारम्भ होता है। किसी एक केन्द्र पर ध्यान करना धारणा है। जब आधा–एक घंटा तक उसी केन्द्र पर चित्त केन्द्रित बना रहे तो वह ध्यान हो जाता है । ध्यान का प्रारम्भिक अंग ही धारणा है। एक बिन्दु पर धारणा होते–होते जब चित्त उस पर एकाग्र हो जाता है तो वह ध्यान हो जाता है। इसका एक सूत्र भी है–धारणा को बारह से गुणा करने पर वह ध्यान हो जायेगा और ध्यान को बारह से गुणा करने पर वह समाधि हो जाती है।[२४०]

स्वाध्याय और जप- विपश्यना में मंत्र का जप और स्वाध्याय करना निषिद्ध है। प्रेक्षा में इन दोनों को समान महत्त्व दिया गया है, क्योंकि सभी व्यक्तियों की रुचि एवं क्षमता समान नहीं होती है। इसलिए ध्यान करने से पूर्व उन्हें प्रारम्भ में जप का प्रयोग करवाया जाता है, जिससे वे ध्यान में प्रविष्ट हो सकें। आसन, प्राणायाम, जप आदि से ही साधना का प्रारम्भ करना चाहिए।

अनुप्रेक्षा- विपश्यना में अनुप्रेक्षा जैसा कोई प्रयोग नहीं है। अनुप्रेक्षा के सभी प्रयोग चिन्तन पर आधारित हैं। अनुप्रेक्षा का प्रयोग आदतों में परिवर्तन लाने की एक प्रक्रिया है,जिसे पश्चिमी वैज्ञानिक सजेशन और ऑटोसजेशन कहते हैं। अनुप्रेक्षा का प्रयोग प्रेक्षा का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।[२४१]

प्रेक्षाध्यान पद्धति में इन सभी प्रयोगों के अतिरिक्त लेश्याध्यान, अनिमेष प्रेक्षा, एकाग्रता और संकल्पशक्ति के भी विशेष प्रयोग कराये जाते हैं, जो किसी अन्य पद्धति में प्रचलित नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ प्रयोगों में दोनों में समानता नजर आती है। लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य प्रयोगों का विपश्यना में अभाव–सा नजर आता है। जबकि प्रेक्षा में इन प्रयोगों के अनेक प्रकारों का अभ्यास कराया जाता है। प्रेक्षा के सभी प्रयोग स्वतंत्र हैं और उनका विकास भी स्वतंत्र रूप से हुआ है। इन दोनों ही पद्धितयों को हम अपूर्ण नहीं कह सकते हैं। अपने-आप में दोनों ही पूर्ण पद्धतियाँ हैं, अन्तर है तो केवल प्रयोगों का।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुलना

ध्यान सम्बन्धी अवधारणा के अध्ययन के पश्चात् जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में जो समानताएँ एवं विभिन्नताएँ देखने को मिली हैं, उन्हें निम्न रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है-

१. दोनों ही परम्पराओं में चित्त के एकाग्रीकरण को ध्यान की संज्ञा से विभूषित किया गया है।

२. जैन एवं बौद्ध दोनों ने ही ध्यान को मोक्षप्राप्ति का एक साधन माना है। यदि यह कहा जाए कि ध्यान जैन एवं बौद्ध योग-साधना का मूल आधार है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

३. जहाँ तक ध्यान के भेद-भेदाङ्गों की बात है तो दोनों ही परम्पराओं में आचार्यों में मतभेद रहा है। जैन परम्परा के किसी ग्रन्थ में ध्यान के दो प्रकार मिलते हैं तो किसी में चौबीस, ऐसे ही बौद्ध परम्परा के किसी ग्रंन्थ में ध्यान के चार प्रकार हैं तो किसी में पाँच। इन विभिन्नताओं का कारण आचार्यों का अपना दृष्टिकोण हो सकता है, लेकिन सही अर्थों में देखा जाए तो दोनों ही परम्पराओं में ध्यान के मुखयत: दो ही भेद हैं- जैन परम्परा के अनुसार प्रशस्त और अप्रशस्त तो बौद्ध परम्परा के अनुसार रूपावचर तथा अरूपावचर।

४. जैन एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में ध्यान की व्याख्या सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की गयी है, लेकिन जैन परम्परा में जो ध्यान के भेदाङ्ग बताये गये हैं उनमें कुछ एक बौद्ध परम्परा में देखने को नहीं मिलते। यथा-जैन परम्परा में ध्यान के प्रकारों में आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान की चर्चा की गयी है, इसी प्रकार ध्येय की अपेक्षा से ध्यान के पिण्डस्थ आदि चार प्रकार बताये गये हैं। बौद्ध-परम्परा में इन सब ध्यानों का अभाव-सा प्रतीत होता है।

परन्तु जैन परम्परा के धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान के भेद-प्रभेदों तथा बौद्ध परम्परा के रूपावचर के भेद-प्रभेदों में समानता देखने को मिलती है। जिस प्रकार धर्म ध्यान आत्म-विकास की प्रथम अवस्था है, उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में भी रूपावचर ध्यान की प्रथमावस्था है। जहाँ तक बौद्ध परम्परा के अरूपावचर ध्यान का प्रश्न है तो उसकी तुलना जैन परम्परा के रूपातीत ध्यान से की जा सकती है, क्योंकि दोनों पद्धतियों में ही रूप से अतीत होकर निराकार का ध्यान किया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ

१. स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम्।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः।। आत्मानुशासन, ४६
२. आत्माऽऽयत्तं निराबाधमतीन्द्रियमनश्वरम्।
घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत् तन्मोक्षसुखं विदुः।। तत्त्वानुशासन, २४२
३. अंतोमुहुत्तकालं चित्तेस्सेग्गगया हवइ झाणं। आवश्यकनिर्युक्ति, ४६३
४. एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। तत्त्वार्थसूत्र, ९/२७
५. ज्ञानमेवापरिस्पन्दनाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति। सर्वार्थसिद्धि, पृ०-४४५
६. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् । तत्त्वार्थसूत्र, ९/२७
७. छव्विहे संघयणे पण्णत्ते, तं जहा-वइरोसभणारायसंधयणे, उसभणाराय-संघयणे,
नारायसंघयणे अद्धणाराय-संघयणे, खीलिया-संघयणे, छेवट्टसंघयणे। स्थानांगसूत्र, ६/३०
८. जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चितं। ध्यानशतक, २
९. एकाग्रचिन्तानिरोधो यः परिस्पन्देन वर्जितः। तद् ध्यानम्। तत्त्वानुशासन, ५६
१०. एकाग्रयेण निरोधो यश्चित्तयस्कैत्र वस्तुनि। आदिपुराण, २१/८
११. तदाऽस्य योगिनो योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनम्।
प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्यानं स्वेष्टफलप्रदम्।। तत्त्वानुशासन, ६१
१२. तद्धयान निर्जराहेतुः संवरस्य च कारणम्। वही, ५६
१३. आमुहूर्तात। तत्त्वार्थसूत्र, ९/२८
अंतोमुहुत्तमेत्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि। ध्यानशतक, ३
अंतोमुहुत्तपरओ चिंता झाणंतरं व होज्जाहि।
सुचिरंपि होज्ज बहुवत्थुसंकमे झाणसंताणो। वही, ४
मुहूर्त्तात्परतश्चिन्ता यद्वा ध्यानान्तरं भवेत।
बह्वर्थसंक्रमे तु स्याद्दीर्घाऽपि ध्यान-सन्ततिः।। योगशास्त्र, ४/११६
१४. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, सिद्धसेनगणि, ९-२०
१५. आवश्यकनिर्युक्ति, १४६७-१४६८
१६. सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्।
एतदेव समाधिः स्याल्लोक-द्वय-फल-प्रदः।। तत्त्वानुशासन, १३७
१७. ज्ञानार्णव, २८/३६-३८
१८. संस्कृति के दो प्रवाह, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ०-२२२
१९. वही, पृ०-२२२
२०. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा, १४७८
२१. ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं तथा फलम्। योगशास्त्र, ७/१;महापुराण, २१/८४
२२. ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं फलं चेति चतुष्टयम्। ज्ञानार्णव, ४/५
२३. मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तचित्तो वशी स्थिरः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिताक्षः सुवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते।। वही, ४/६

२४. ध्येयम्प्रशस्ताप्रशस्त परिणाम कारकं। चारित्रसार, १६७/२

२५. स्वात्मनं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः।
षट्कारकमयस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात्।। तत्त्वानुशासन, ७४

२६. संग-त्यागः कषायानां निग्रहो व्रत-धारणम्।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यान-जन्मनि।। वही, ७५

२७. निरुन्ध्याच्चित्तर्दुध्यानं निरुन्ध्यादयतं वचः।
निरुन्ध्यात् कायचापल्यं, तत्त्वतल्लीनमानसः।। योगसार, १६३

२८. ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम्।
गुरूपदेशः श्रद्धानं सदाऽभ्यासः स्थिरं मनः।। तत्त्वानुशासन, २१८

२९. किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु झाणे णिरुद्धदिट्ठीओ।
अप्पाणंहि सदिं संधित्ता संसारमोक्खट्ठं।। भगवती आराधना, १७०१

३०. आर्त्तरौद्रविकल्पेन दुर्ध्यानं देहिनां द्विधा।
द्विधा प्रशस्तमत्युक्तं धर्मशुक्लविकल्पतः।। ज्ञानार्णव, २३/१८

३१. चत्तारि झाणा पण्णता, तं जहा-अट्टेझाणे, रोद्देझाणे, धम्मेझाणे, सुक्केझाणे। स्थानांगसूत्र, ४/१/६ समवायांगसूत्र, ४ भगवतीसूत्र, २५/७
अट्टं रुद्दं धम्मं सुक्लं झाणाइ तत्थ अंताइं।
निव्वाणसाहणाइं भवकारणमट्टरुद्दाइं।। ध्यानशतक, ५
आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि। तत्त्वार्थसूत्र, ९/२८ मूलाचार, ५/१९७

३२. परे मोक्षहेतू। तत्त्वार्थसूत्र, ९/३०

३३. संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।। नियमसार, १२३
जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसो।
तस्स समाइगं ठाइ केवलिसासणे।। वही, १३३

३४. झाणं दुविहं-धम्मज्झाणं सुक्कज्झाणमिदि। धवला, १३, पृ०-१७०

३५. योगशास्त्र, ४/११५

३६. आर्त्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति चतुर्विधम्।
ध्यानमुक्तं परं तत्र तपोऽङ्गमुभयं भवेत्।। तत्त्वार्थसार, ६/३५

३७. ऋते भवमथार्तं स्यादसद्ध्यानं शरीरिणाम्।
दिङ्मोहोन्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात्।। ज्ञानार्णव, २३/२१

३८. संस्कृति के दो प्रवाह, पृ०-२२२

३९. स्थानांगसूत्र, ४/१/६१ भगवतीसूत्र, २५/७
ज्ञानार्णव, २३/२० तत्त्वार्थसूत्र, ९/३१-३३

४०. तत्त्वार्थसूत्र, पं० सुखलाल संघवी, पृ०-२२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४१. अमणुण्णाणं सद्दाइविसयवत्थूण दोसमइलस्स।
धणियं विओगचिंतणमसंपओगाणुसरणं च।। ध्यानशतक, ६
४२. ज्ञानार्णव, २३/२२
अमनोज्ञमप्रियं विषकण्टकशत्रुशस्त्रादि,
तद्बाधाकारणत्वाद् अमनोज्ञम् इत्युच्यते। सर्वार्थसिद्धि, ९/३०/१०
४३. तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलाल संघवी), पृ०- २२५
मनोज्ञवस्तुविध्वंसे पुनस्तत्संगमार्थिभिः।
क्लिश्यते यत्तदेतत्स्याद्द्वितीयार्तस्य लक्षणम्।। ज्ञानार्णव, २३/२९
४४. तत्त्वार्थसूत्र, पृ०-२२५
४५. तह सूल-सीसरोगाइवेयणाए विजोगपणिहाणं ।
तदसंपओगचिन्ता तप्पडियाराउलमणस्स ।। ध्यानशतक, ७
कासश्वासभगन्दरोदरयकृत्कुष्ठातिसारज्वरैः ।
पित्तश्लेष्ममरुत्प्रकोपजनितै रोगैः शरीरान्तकैः ।।
स्याच्छश्वत्प्रबलैः प्रतिक्षणभवैर्यद्याकुलत्वं नृणां,
तद्रोगार्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वारदुःखाकरम्।। ज्ञानार्णव, २३/३०
४६. तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलाल संघवी),९/३४, पृ०-२२२
४७. परिजुसित काम-भोग-संपओग-संपउत्ते, तस्स अविप्पओग-सति-समण्णागते यावि भवति। स्थानांगसूत्र, ४/१/६१ तथा भगवतीसूत्र, २५/७
४८. इष्टभोगादिसिद्ध्यर्थं रिपुघातार्थमेव वा।
यन्निदानं मुनिष्याणां स्यादार्त तत्तुरीयकं।। ज्ञानार्णव, २३/३४
४९. ज्ञानार्णव, २५/४३
५०. एयं चउव्विहं रागदोसमोहंकियस्स जीवस्य।
अट्टज्झाणं संसारवद्धणं तिरियगइमूलं।। ध्यानशतक, १०
रागो दोसो मोहो य जेण संसारहेयवो भणिया।
अट्टंमि य ते तिण्णिवि, तो तं संसार-तरुवीयं।। वही, १३
५१. कावोयनीलकाला लेस्साओ णाइसंकिलिट्ठाओ।
अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणिआओ।। वही, १४
५२. अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा-कदंणता, सोयणता, तिप्पणता, परिदेवणता। स्थानांगसूत्र, ४/१/६२
५३. तस्सऽक्कंदणसोयणपरिदेवणताडणाइं लिंगाइं।
इट्ठाणिट्ठवियोगावियोगऽवियणानिमित्ताइं।। ध्यानशतक, १५
५४. रुद्रः क्रूराशयः प्राणी रौद्रकर्मास्य कीर्तितम्।
रुद्रस्य खलुभावो वा रौद्रमित्यभिधीयते।। ज्ञानार्णव, २४/२
५५. प्राणिनां रोदनाद् रुदः क्रूरः सत्वेषु निर्घृणः।
पुसांस्तत्र भंवरौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधम्।। महापुराण, २१/४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा देखिए-मूलाचार, ३९६, भगवती आराधना, १७०३, १५२८

५६. हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः। तत्त्वार्थसूत्र, ९/३६

५७. रोद्दे झाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-हिंसाणुबंधि, मोसाणुबंधि, तेणाणुबंधि, सारक्खणाणुबंधि। स्थानांगसूत्र, ४/१/६३

५८. सत्तवह-वेह-बंधण-डहणंऽकणमारणाइपणिहाणं।
अइकोहग्गहघत्थं निग्घिणमणसोऽहमविवागं।। ध्यानशतक, १९

५९. अनारतं निष्करुणस्वभावः स्वाभावतः क्रोधकषायदीप्तः।
मदोद्धतः पापमतिः कुशीलः स्यान्नास्तिको यः सहि रौद्रधामा।। ज्ञानार्णव, २४/५

६०. असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानसः।
चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम्।। ज्ञानार्णव, २४/१४

६१. पिसुणासब्भासब्भूय-भूयघायाइवयणपणिहाणं।
मायाविणोऽइसंधणपरस्स पच्छन्नपावस्स।। ध्यानशतक, २०

६२. भगवतीसूत्र, २५/७
तह तिव्वकोहलोहाउलस्स भूओवघायणमणज्जं।
परदव्वहरणचित्तं परलोयावायनिरवेक्खं।। ध्यानशतक, २१

६३. सद्दाइविसयसाहणधणसारक्खणपरायणमणिट्ठं।
सव्वाभिसंकणपरोवघायकलुसाउलं चित्तं।। वही, २२

६४. बह्वारम्भपरिग्रहेषु नियतं रक्षार्थमभ्युद्यते,
यत्संकल्पपरम्परां वितनुते प्राणीह रौद्राशयः।
यच्चालम्ब्य महत्त्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते,
तत्तुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम्।। ज्ञानार्णव, २४/२७

६५. एयं चउव्विहं रागदोसमोहाउलस्स जीवस्स।
रौद्दज्झाणं संसारवद्धणं नरयगइमूलं।। ध्यानशतक, २४

६६. लिंगाइं तस्स उस्सण्णबहुलनाणाविहाऽऽमरणदोसा।
तेसिं चिय हिंसाइसु बाहिरकरणोवउत्तस्स।। वही, २६

६७. विस्फुलिङ्गनिभे नेत्रे भ्रूवक्रा भीषणाकृतिः।
कम्पस्वेदादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम्।। ज्ञानार्णव, २४/३६

६८. इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः। सर्वार्थसिद्धि, ९/२

६९. मिथ्यात्वरागादिदिसंसरणरूपेण भावसंसारे प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकार शुद्ध चैतन्ये धरतीति धर्मः। प्रवचनसार (तात्पर्य व्याख्या वृत्ति), ७/९

७०. सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधुः।। तत्त्वानुशासन, ५१

७१. स्थानांगसूत्र, ४/२४७

७२. सुत्तत्थधम्म मग्गणवय गुत्ती समिदि भावणाईणं ।
जं कीरइ चितवणं धम्मज्झाणं च इह भणियं ।। ज्ञानसार, १६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७३. आज्ञापाय विपाकानां, संस्थानस्य चिन्तनात्।
इत्यं वा ध्येय भेदेन, धर्म्य ध्यानं चतुर्विधम।। योगशास्त्र, १०/७
७४. आज्ञाऽपायौ विपाकं च संस्थानं भुवनस्य च।
यथागममविक्षिप्त-चेतसा चिन्तयेन्मुनिः।। तत्त्वानुशासन, ९८
७५. आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य। तत्त्वार्थसूत्र, ९/३७
७६. तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलाल संघवी), पृ०-२२६
७७. सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान् विचिन्तयेत्।
यत्र तद्ध्यानमाम्नातमाज्ञाख्यं योगिपुङ्गवैः। ज्ञानार्णव, ३०/२२
७८. आज्ञां यत्र पुरस्कृत्य सर्वज्ञानामबाधितम्। तत्त्वतश्चिन्तयेदर्थांस्तदाज्ञा-ध्यानमुच्यते।।
सर्वज्ञवचनं सूक्ष्म हन्यते यत्र हेतुभिः। तदाज्ञारूपमादेयं न मृषा-भाषिणो जिनाः।।
योगशास्त्र, १०/८-९
७९. सुनिउणमणाइनिहणं भूयहियं भूयभावणमहग्घं।
अमियमजियं महत्थं महाणुभावं महाविसयं।।
झाइज्जा निरवज्जं जिणाणमाणं जगप्पईवाणं।
अनिउणजणदुन्नेयं नयभंगपमाणगमगहणं।। ध्यानशतक, ४५-४६
८०. रागद्वेषकषायाद्यैर्जायमानान् विचिन्त्येत्।
यत्रा पायांस्तद्पाय-विचय-ध्यानमिष्यते।। योगशास्त्र, १०/१०
८१. कल्लाणपावगाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च।
विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभे य असुभे या।। भगवती आराधना, १७०७
८२. रागद्वेषकषायाद्यैर्जायमानान् विचिन्तयेत्।
यत्रापायांस्तदपायविच य ध्यानमिष्यते।। योगशास्त्र, १०/१
८३. रागद्दोसकसायाऽऽसवादिकिरियासु वट्टमाणाणं।
इहपरलोयावाओ झाइज्जा वज्जपरिवज्जी।। ध्यानशतक, ५०
८४. संसारहेतवः प्रायस्त्रियोगानां प्रवृत्तयः।
अपायो वर्जनं तासां स मे स्यारकथमित्यलं।।
चिन्ताप्रबन्धसंबन्धः शुभलेश्यानुरंजितः।
अपायविचयाख्यं तत्प्रथमं धर्म्यभमीप्सितं।। हरिवंशपुराण, ५६/३९-४०
८५. स विपाक इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः।
प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम्।। ज्ञानार्णव, ३२/१, तथा देखें-आदिपुराण २१/१४३-१४६
८६. एयाणेयभवगदं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं।
उदओदीरणसंकमबंधे मोक्खं च विचिणादि।। भगवती आराधना, १७०८
८७. द्रव्यादि प्रत्ययं कर्मफलानुभवनं प्रति।
भवति प्राणिधान पद् विपाक विचयस्तु सः। तत्वार्थसार, ४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८८. सुप्रतिष्ठितमाकाशमाकाशे वलयत्रयं।
संस्थानध्यानमित्यादि संस्थानविचयं स्थितम्।। हरिवंशपुराण, ५६/४८
८९. अनाद्यनन्तस्य लोकस्य स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मनः।
आकृतिं चिन्तयेद्यत्र संस्थान-विचयः स तु।। योगशास्त्र, १०/१४
९०. जिणदेसियाइं लक्खणसंठाणाऽऽसणविहाणमाणाइं।
उप्पायट्ठिइभंगाइपज्जवा जे य दव्वाणं।। ध्यानशतक, ५२
९१. हरिवंशपुराण, ५६/३८-५०
९२. उपायविचयं तासां पुण्यानामात्मसात्क्रिया।
उपायः स कथं मे स्यादिति संकल्पसन्ततिः।। वही, ५६/४१
९३. अनादिनिधना जीवा द्रव्यार्थादन्यथान्यथा।
असंख्येयप्रदेशास्ते स्वोपयोगत्वलक्षणाः।। वही, ५६/४२
अचेतनोपकरणाः स्वकृतोचित्त भोगिनः।
इत्यादि चेतना ध्यानं यज्जीव विचयं हितत्।। वही, ५६/४२-४३
९४. द्रव्याणाप्यजीवानां धर्माधर्मादिसंज्ञिनाम्।
स्वभाव चिन्तनं धर्म्यमजीवविचयं मतम्। वही, ५६/४४
९५. शरीरमशुचिर्भोगा किंपाकफलपाकिनः।
विरागबुद्धिरित्यादि विरागविचयं स्मृतं।। वही, ५६/४६
९६. अनन्त दुःखसंकीर्णे भवेनादौ सुरवातिगे।
सचित्ताचित्तमिश्रार्दिनानायोनिषुकर्ममिः।।
भ्रमन्ति प्राणिनोश्रान्तकर्मपाशवृता इति।
भवभ्रमण दुःखानु चिन्तनंध्यानसप्तमम्।। मूलाचार प्रदीप, ६/२०५८-५९ तथा देखिये-हरिवंशपुराण, ५६/४७
९७. सर्वज्ञोक्ताः पदार्थाघाः स्थापयन्ते यत्र भूतेले।
यथातथ्येनचित्तेवा तद्धेतुविचयामिघम्।। मूलाचार प्रदीप, ६/२०६५
९८. धम्मणस्सणं झणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा, आणारुई, णिसग्गरुई, सुत्तरुई, ओगाढ़रुई। स्थानांगसूत्र, ४/१/६६ तथा देखिए-
आगम उवएसाणाणिसग्गओ जं जिणप्पणीयांणा।
भावाणं सद्दहणं धम्मज्झणस्स तं लिंगं।। ध्यानशतक, ६७
९९. धम्मणस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता, तं जहा- वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा। स्थानांगसूत्र, ४/१/६७
१००. आलंबणं च वायण पुच्छण परिवट्टणाणुपेहाओ।
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ।। भगवती आराधना, १७०५
१०१. आलंबणाइवायणपुच्छणपरियट्टणाणुचिंताओ।
सामाइयाइयाइं सद्धम्मावस्सयाइं च।। ध्यानशतक, ४२
१०२. धम्मस्सणं झणस्य चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा। स्थानांगसूत्र, १/१२

१०३. निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवर्जितम्।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते।। ज्ञानार्णव, ३९/४.१

१०४. यथा मलद्रव्यापायात् शुचिगुणयोगाच्छुक्लं वस्त्रं तथा तद्गुणसाधर्म्यादात्मपरिणामस्वरूपमपि शुक्लमिति निरुच्यते।। राजवार्तिक, ९/२८/४/६२७

१०५. समवायांग, ४/२०

१०६. इच्चेवमदिक्कंतो धम्मज्झाणं जदा हवइ खवओ।
सुक्कज्झाणं झायदि तत्तो सुविसुद्धलेस्साओ।। भगवती आराधना, १८७१

१०७. पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियावृत्तीनि।। तत्त्वार्थसूत्र, ९/४१
ज्झाणं पुधत्तसवितक्कसवीचारं हवे पढमसुक्कं।
सवितक्केक्कत्तावीचारं ज्झाणं विदियसुक्कं।।
सुहुमकिरियं तु तदियं सुक्कज्झाणं जिणेहिं पण्णत्तं।
वेंति चउत्थं सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु।। भगवती आराधना, १८७२-७३

१०८. शुक्लं परमशुक्लं च प्रत्येकं ते द्विधा मते।
सवीचारविवीचारपृथक्त्वैक्यवितर्कके।।
सूक्ष्मोच्छिन्न क्रिया पूर्वप्रतिपाति निवर्तके।। हरिवंशपुराण, ५६/५३-५४

१०९. छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे शुक्ले परिकीर्तिते।
द्वे त्वन्त्ये क्षीणदोषाणां केवलज्ञानचक्षुषाम्।
श्रुतज्ञानार्थसम्बन्धाच्छु तालम्बनपूर्वके।
पूर्वे परे जिनेन्द्रस्य निःशेषालम्बनच्युते।। ज्ञानार्णव, ४२/७-८

११०. एकत्र पर्यायाणां विविधनयानुसरणं श्रुताद् द्रव्ये।
अर्थ-व्यंजन-योगान्तरेषु संक्रमण-युक्तमाद्यं तत्।। योगशास्त्र, ११/६

१११. उप्पायट्ठिइभंगाइपज्जयाणं जमेगवत्थुंमि।
नाणानयाणुसरणं पुव्वगयसुयाणु सारेणं।।
सवियारमत्थवंजणजोगंतरओ तयं पढमसुक्कं।
होइ पुहुत्तवितक्कं सवियारमरागभावस्स।। ध्यानशतक, ७७-७८

११२. पृथग्भावः पृथक्त्वं हि नानात्वमभिधीयते।
वितर्को द्वादशागं तु श्रुतज्ञानमनाविलं।।
अर्थव्यंजनयोगानां वीचारः संक्रमः क्रमात्।
ध्येयोऽर्थो व्यंजनं शब्दो योगो वागादिलक्षणः ।।
पृथक्त्वेन वितर्कस्य विचारोऽर्थादिषु क्रमात ।
यस्मिन्नास्ति तथोक्तं तत्प्रथमं शुक्लमिष्यते ।। हरिवंशपुराण, ५६/५७-५९

११३. जं पुण सुनिप्पकंपं निवायसरणप्पईवमिव चित्तं।
उप्पायट्ठिइभंगाइयाणमेगंमि पज्जाए ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवियारमत्थवंजणजोगंतरओ तयं वितियसुक्कं ।
पुव्वगयसुयालंबणमेगत्तवितक्कमवियारं।। ध्यानशतक, ७९-८०

११४. अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कं च योगिनः।
एकत्वमेकयोगस्य जायतेऽत्यन्तनिर्मलम्।। ज्ञानार्णव, ४२/२६

११५. सम्प्राप्य केवलज्ञानदर्शने दुर्लभे ततो योगी।
जानाति पश्यति तथा लोकालोकं यथावस्थम्।। योगशास्त्र, ११/२३

११६. निजशुद्धात्मद्रव्ये वा निर्विकारात्मसुखसंवित्तिपर्याये वा निरुपाधिस्वसंवेदनगुणे वा यत्रकस्मिन् प्रवृत्तं तत्रैव वितर्कसंज्ञेन स्वसंवित्तिलक्षणभावश्रुतबलेन स्थिरीभूय वीचारं गुणद्रव्यपर्यायपरावर्त्तनं करोति।.... तेनैव केवलज्ञानोत्पत्तिइति। बृहद् द्रव्यसंग्रह (टीका),४८

११७. तीर्थंकर नामसंज्ञं न यस्य कर्मास्ति सोऽपि योगबलात्।
उत्पन्न-केवलः सन् सत्यायुषि बोधयत्युर्वीम्। वही, ११/४८

११८. एवमेकत्ववितर्कशुक्लध्यानवैश्वानरनिर्दग्धवातिकर्मेन्धनः ... स यदाऽन्तमुहूर्तशेषायुष्क--तदा सर्ववाङ्मनसयोगं बादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगालम्बनः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानमास्कन्दितुमर्हतीति।----समीकृतस्थितिशेषकर्मचतुष्टयः पूर्वशरीरप्रमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति ध्यानं ध्यायति। सर्वार्थसिद्धि, ९/४४/५

११९. संस्कृति के दो प्रवाह, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ०-२२५

१२०. ज्ञानार्णव, ३९/३८

१२१. योगशास्त्र, ११/४९-५५

१२२. निव्वाणगमणकाले केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स।
सुहुमकिरियाऽनियट्टिं तइयं तणुकायकिरियस्स।। ध्यानशतक, ८१

१२३. स्वप्रदेशपरिस्पन्दयोगप्राणादि कर्मणाम्।
समुच्छिन्नतयोक्त तत्समुच्छिन्नक्रियाख्यया।।
सर्वबन्धास्रवाणां हि निरोधस्तत्र यत्नतः।
अयोगस्य यथाख्यात चारित्रं मोक्षसाधनम्।। हरिवंशपुराण, ५६/७८-७९

१२४. लघुवर्ण-ञ्चकोद्गिरणतुल्यकालमवाप्य शैलेशीम्। योगशास्त्र, ११/५७

१२५. द्वासप्ततिर्विलीयन्ते कर्मप्रकृतयस्तदा
अस्मिन् सूक्ष्मक्रिये ध्याने देव देवस्य दुर्जयाः।।
विलयं वीतरागस्य तत्र यान्ति त्रयोदश।
कर्म प्रकृतयः सद्यः पर्यन्ते या व्यवस्थिताः।। ज्ञानार्णव, ३९/४७, ४९

१२६. अवहाऽसंमोहविवेगविउसग्गा तस्स होंति लिंगाइं।
लिगिज्जइ जेहिं मुणी सुक्कज्झाणोवगयचित्तो।। ध्यानशतक, ९०

१२७. चालिज्जइ बीभेइ य धीरो न परीसहोवसग्गेहिं।
सुहुमेसु न संमुज्झइ भावेसु न देवमायासु।। वही, ९१

१२८. वही

१२९. देहविवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सत्वसंजोगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देहोवहिवोसग्गं निस्संगो सव्वहा कुणइ।। वही, ९२

१३०. वही, ९२

१३१. सुक्कस्सणं झणस्स चत्तारि आलंक्णा पण्णत्ता, सं जहां संती, मुत्ती, मद्दवे, अज्जवे। स्थानांगसूत्र, १२१ (पृ०-६७६) तथा देखें तत्त्वार्थसूत्र (पं०सुखलाल संघवी), ९/६

१३२. सुक्कज्झाणसुभावियचित्तो चिंतेइ झाणविरमेऽवि।
णिययमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्तसंपन्नो।। ध्यानशतक, ८७

१३३. आसवदारापाए तह संसारसुहाणुभावं च।
भवसंताणमणन्तं वत्थूणं विपरिणामं चं।। वही, ८८

१३४. परमात्मप्रकाश, १/१/९

१३५. पिण्डस्थं च पदस्थं रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः।। योगशास्त्र, ७/८
जो पिंडत्थु पयत्थु बुह रूपस्थु वि जिणउत्त।
रूवातीतु मुणेहि लहु जिमि परू होहि पवित्तु।। योगसार, ९८
पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीत निरञ्जनम्।। द्रव्यसंग्रह (टीका), ४८
पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः। ज्ञानार्णव, ३४/१

१३६. ज्ञानसार, १८-२८

१३७. पार्थिवी स्यादथाऽनेयी मारुती वारुणी तथा।
तत्त्वभूः पञ्चमी चेति पिण्डस्थे पञ्च धारणाः।। योगशास्त्र, ७/९ तथा
ज्ञानार्णव, ३४/३

१३८. ज्ञानार्णव, ३४/४-९

१३९. वही, ३४/१०-१९

१४०. वही, ३४/२०-२३

१४१. वही, ३४/२७

१४२. सप्तधातुविनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रमलत्विषम्।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति शुद्धधीः।। वही, ३४/२८

१४३. पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः।। वही, ३५/१

१४४. जं झाइज्जइ उच्चारिऊण परमेट्ठिमंतपयममलं।
एयक्खरादि विविहं पयत्थझाणं मुणेयव्वं।। वसुनन्दि श्रावकाचार, ४६४ तथा देखें योगशास्त्र, ८/१

१४५. ध्यायेदनादिसिद्धान्तप्रसिद्धां वर्णमातृकाम्।
निःशेष शब्द-विन्यास-जन्मभूमिं जगन्नताम्।। ज्ञानार्णव, ३५/२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४६. द्विगुणाष्टदलाम्भोजे नाभिमण्डलवर्तिनि।
भ्रमन्तीं चिन्तयद्ध्यानी प्रतिपत्र स्वरावलीम्।। वही, ३५/३
१४७. चतुर्विंशतिपत्राढ्यं हृदिं कञ्जं सकर्णिकम्।
तत्र वर्णानिमान्ध्यायेत्संयमी पञ्चविंशतिम्।। वही, ३५/४
१४८. अकारादि-हकारान्ता मंत्रा: परमशक्तय:।
स्वमण्डल-गता: ध्येया लोकद्वय-फलप्रदा:।। तत्त्वानुशासन, १०७
१४९. अथ मन्त्रपदाधीशं सर्वतत्त्वैकनायकम्।
आदिमध्यान्तभेदेन स्वरव्यंजनसम्भवम्।।
ऊर्ध्वाधोरेफसंरुद्धं सकलं बिन्दुलाञ्छितम्।
अनाहतयुतं तत्त्वं मंत्रराजं प्रचक्षते।। ज्ञानार्णव, ३५/७-८
१५०. वही, ३५/२५ योगशास्त्र, ८/२५
१५१. ज्ञानार्णव, ३५/१०, १६-१९ योगशास्त्र, ८/१८-२२
१५२. ज्ञानार्णव, ३५/२४ योगशास्त्र, ८/२५-२६
१५३. ज्ञानार्णव, ३५/२५,२७ योगशास्त्र, ८/२५-२६
१५४. क्रमात्प्रच्याव्य लक्ष्येभ्यस्ततोऽलक्ष्ये स्थिरं मन: ।
दधतोऽस्य स्फुरत्यन्तर्ज्योतिरत्यक्षमक्षयम ।।
ज्ञानार्णव, ३८/२८; योगशास्त्र, ८/२७-२८
१५५. अरहत्ता-असरीरा-आयरिय-उवज्झाय-मुणिणो।
पंचक्खरनिप्पण्णो ओंकारो पंच परमिट्ठो।।
हृत्पंकजे चतुष्पत्रे ज्योतिषमन्ति प्रदक्षिणम।
अ-स-आ-उ साऽक्षराणिध्येयानि परमेष्ठिनाम्।। तत्त्वानुशासन, १०२
१५६. तथा हृत्पद्मध्यस्थं शब्दब्रह्मैककारणम्।
स्वर-व्यंजन-संवीतं वाचकं परमेष्ठिन:।।
मूर्ध-संस्थित-शीतांशु-कलामृतरस-प्लुतम्।
कुम्भकेन महामन्त्रं प्रणवं परिचिन्तयेत्।। योगशास्त्र, ८/२९-३०
१५७. पीतं स्तम्भेऽरुणं वश्ये क्षोभणे विद्रुमप्रभम्।
कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत् कर्मघाते शशिप्रभम्।। वही, ८/३१
१५८. अष्टपत्रे सिताम्भोजे कर्णिकायां कृतस्थितिम्।
आद्य सप्ताक्षरं मन्त्रं पवित्रं चिन्तयेत्तत:।।
सिद्धादिक-चतुष्कं च दिक्पत्रेषु यथाक्रमम्।
चूलापाद-चतुष्कं च विदिक्पत्रेषु चिन्तयेत्।। वही, ८/३३-३४
१५९. स्फुरद्विमलचन्द्राभे दलाष्टकविभूषिते।
कञ्जे तत्कर्णिकासीनं मन्त्रं सप्ताक्षरं स्मरेत्।।
दिग्दलेषु ततोऽन्येषु विदिक्पत्रेष्वनुक्रमात्।
सिद्धादिकंचतुष्कं च दृष्टिबोधादिकं तथा।। ज्ञानार्णव, ३५/४१-४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६०. पणतीससोलछप्पण चउदुगमेगं च जवह ज्झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं चं गुरुवएसेण।। बृहदद्रव्यसंग्रह, ४९
१६१. ज्ञानार्णव, ३५/५०-५४
१६२. स्मर पञ्चपदोद्भूतां महाविद्यां जगन्नुताम्।
गुरुपञ्चकनामोत्थांषोडशाक्षरराजिताम्। वही, ३८/४९
१६३. पञ्चवर्णमयी पञ्चतत्त्वा विद्योद्धृता श्रुतात्।
अभ्यस्यमाना सततं भवक्लेशं निरस्यति।।
मंगलोत्तम-शरण-पदन्यव्यग्र-मानसः।
चतुः समाश्रयाण्येव स्मरन् मोक्षं प्रपद्यते।। योगशास्त्र, ८/४१-४२
१६४. वीतरागस्य विज्ञेया ध्यानसिद्धिर्ध्रुवं मुनेः।
क्लेश एवं तदर्थं स्याद्रागार्तस्येह देहिनः।। ज्ञानार्णव, ३८/११४
१६५. अर्हतो रूपामालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते। योगशास्त्र, ९/७
१६६. नवकेवललब्धिश्रीसंभवं स्वातम्संभवम्।
तुर्यध्यान महावह्नौ हुतकर्मेन्धनोत्करम्।
रत्नत्रयसुधास्यन्दमन्दीकृतभवभ्रमम्।
वीतसंगं जितद्वैतं शिवं शान्तं च शाश्वतम् ।।
अर्हन्तमजमव्यक्तं कामदं कामघातकम्।
पुराणपुरुषं देवं देवदेवं जिनेश्वरम् ।। ज्ञानार्णव, ३९/२४-२६
१६७. योगशास्त्र, ९/८-१०
१६८. वीतरागो विमुच्यते वीतरागं विचिन्तयन्।
शगिणं तु समालम्ब्य रागीस्यात् क्षोमणादिकृत।। योगशास्त्र, ९/१३
१६९. येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः।
तेन तनमयतां यति विश्वरूपो मणिर्यथा।। वही, ९/१४
१७०. चिदानन्दमयं शुद्धममूर्त्तं ज्ञानविग्रहम्।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते।। ज्ञानार्णव, ३७/१६
१७१. तद्गुणग्रामसंपूर्णं तत्स्वभावैकभावितम्।
कृत्वात्मानं ततो ध्यानी योजयेत्परमात्मनि।। वही, ३७/१९
१७२. योगशास्त्र, १०/३-४
१७३. योगशास्त्र, ७/२-७
१७४. सुन्न-कल-जोइ-बिंदु, नादो तारा लओ लवो भत्ता।
पय-सिद्धी परमजुया झणाइं हुंति चउवीसं।। ध्यान विचार, १
१७५. ध्यान-सम्प्रदाय, पृ०-८१
१७६. रूपध्यानों में ध्यान का विषय एक ही रहता है, किन्तु स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने में प्राप्त चार आवस्थाओं के कारण उसे चार भागों में विभक्त किया गया है। मज्झिमनिकाय, खण्ड-३, पृ०-८८-८९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७७. बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ०-९७-९८

१७८. विषयों के अनुराग को कामच्छन्द कहा जाता है। व्यापाद का अभिप्राय हिंसा है। स्त्यान चित्त की अकर्मण्यता और मिद्ध आलस्य को कहा जाता है। औद्धृत्य का अभिप्राय चित्त की अव्यवस्थितता तथा कौकृत्य का चित्त में खेद-पश्चाताप आदि का होना हैं। विचिकित्सा यानी संशय।

१७९. सेय्यथापि महाराज, यथा आनण्यं यथा आरोग्यं यथा बन्धनामोक्खं यथा भुजिस्सं यथा खेमन्तभूमिं, एवमेव खो, महाराज, भिक्खु इमे पञ्च नीवरणे पहीने अत्तनि समनुपस्सति। दीघनिकाय, खण्ड-१, पृ०-६४-६५

१८०. पकतिचित्तेही ति पाकतिकेहि कामावचरचित्तेहि । बलव .....प..... चित्तेकग्गतानि भावनाबलेन पटुतरसभावप्पत्तिया। विसुद्धिमग्ग, खण्ड-१, पृ०-२९४-२९५

१८१. योगशास्त्र-एक परिशीलन, उपा० अमरमुनि, पृ०-३०-३१

१८२. बौद्ध दर्शन-मीमांसा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ०- ३०७-३०८

१८३. ततो तस्मिं येवारम्मणे चत्तारि पंच वा जवनानि जवन्ति----विसुद्धिमग्ग, खण्ड-१, पृ०-२९४

१८४. सो विविच्चेव कामेहि, विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचार विवेकजं पीतिसुखं पढमं झानं उपसम्पज्ज विहरति। दीघनिकाय, खण्ड-१, पृ० ६५

१८५. तत्थ कामच्छन्दो, ब्यापादो, थिनमिद्धं उद्धच्चकुक्कुच्चं विचिकिच्छा ति इमेसं पञ्चन्नं नीवरणानं पहानवसेन---ज्ञानं उप्पज्जति। तेनस्सेतानि पहानङ्गानी ति वुच्चन्ति। विसुद्धिमग्ग, खण्ड-१, पृ०- ३१०-३११

१८६. वही, पृ०-३०८

१८७. एवमधिगते पन एतस्मिं तेन योगिना ---आकारापरिग्गहेतब्बा। एवं हि सो नट्ठे वा तस्मिं ते आकारे सम्पादेत्वा पुन उप्पादेतुं.... सक्खिस्सति। वही, पृ०-३२०-३२१

१८८. पंच वसिया। आवज्जनवसी, समापज्जनवसी, अधिट्ठानवसी, बुट्ठानवमी पच्चवेक्खणवसी। पटिसम्मिदामग, पृ०-११२

१८९. पठमं ज्ञानं यत्थिच्छकं यदिच्छकं यावतिच्छकं आज्जति, आज्जनाय दन्धयितत्तं नत्थीति आवज्जनवसी। वही, पृ०-११२-११३

१९०. वही, पृ०-११३ १९१. वही, पृ०-११३

१९२. वही, पृ०-११३ १९३. वही, पृ०-११३

१९४. भिक्खु वितक्कविचारानं वूपसमा अज्झत्तं सम्पसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियं झानं उपसम्पज्ज विहरति-- सेय्यथापि, महाराज, उदकरहदो गम्भीरो---अनुपवेच्छेय्य। अथ खो तम्हा व उदकरहदा सीता वारिधारा उब्भिज्जित्वा तमेव उदकरहदं सीतेन वारिना अभिसन्देय्य ..... अप्फुटं अस्स। दीघनिकाय, खण्ड-१, पृ०-६५-६६

१९५. इमस्मिं पन झाने वितक्कविचारपलिबोधाभावेन लद्धोकासा बलवती सद्धा, बलवसद्धासहायपटिलाभेनेव च समाधि पि पाकटो। विसुद्धिमग्गो, खण्ड-१,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृ०-३३४

१९६. प्रीत्यादयः प्रसादश्च द्वितीयेऽङ्ग चतुष्टयम्। तृतीये पञ्च तूपेक्षास्मृतिज्ञानं सुखं स्थिति। अभिधर्मकोश, ८/७, ८/८; उद्धृत–बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ०–७१

१९७. वही, पृ०-७१

१९८. अयं समापत्ति आसन्नवितक्कविचारपच्चत्थिका, 'यदेव तत्थ पीतिगतं चेतसो उप्पिलावितं एतेनेतं ओलारिंक अक्खायती' ति --तदेव निमित्तं "पथवी पथवी" ति पुनप्पुनं मनसिकरोतो--- ततियं झानं उपसम्पज्ज विहरती। विसुद्धिमग्गो, खण्ड-१, पृ०-३३७-३३८

१९९. बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ०-७२

२००. दीघनिकाय, प्रथम खण्ड, पृ०-६६

२०१. बौद्ध धर्म–दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ०-६२

२०२. दीघनिकाय, भाग–१, पृ०-६६

२०३. भिक्खु सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना, पुब्बेव सोमनस्सदोमनस्सानं अत्थङ्गमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासतिपारिसुद्धिं चतुत्थं झानं उपसम्पज्ज विहरति।
दीघनिकाय, खण्ड-१, पृ०-६७

२०४. बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ०-७४

२०५. वही, पृ०-७४-७५

२०६. दिस्सन्ति खो पन रूपाधिकरणं दण्डादान-सत्था-दान-कलह-विग्गह-विवाद-तुवंतुवं-पेसुञ्ञ-मुसावादा। नत्थि खो पनेतं सब्बसो अरूपे ति। सो इति पटिसंखाय रूपानं येव निब्बिदाय विरागाय निरोधाय पटिपन्नो होति। मज्झिमनिकाय, खण्ड-२, पृ०- ८८
तथा, तस्स किञ्चापि रूपावचरचतुत्थाज्झानवसेन करजरूपं अतिक्कन्तं होति, अथ खो कसिणरूपम्पि यस्मा तप्पटिभागमेव, तस्मा तम्पि समतिक्कमितुकामो होति। विसुद्धिमग्गो, खण्ड-२, पृ०-६९८

२०७. बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ०-९७

२०८. आसन्नसोमनस्स पच्चत्थिकं ति च सन्तविमाक्खतो ओलारिकं ति च आदीनवं पस्सति। विसुद्धिमग्गो, खण्ड-२, पृ०-६९९-७००

२०९. बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ०-९७-९८

२१०. एत्थ नास्स उप्पादन्तो वा वयन्तो वा पञ्ञायती ति अनन्तो। विसुद्धिमग्गो, खण्ड-२, पृ०-७०८

२११. आसन्नरूपावचरज्झानपच्चत्थिका अयं समापत्ति, नो च विञ्ञाणञ्चायतनमिव सन्ता'ति --आदीनवं दिस्वा---तं आकासं फरित्वा पवत्तविञ्ञाणं....पुनप्पनुं आवज्जितब्बं। वही, पृ०-७०९

२१२. यथा नाम पुरिसो मण्डलमालादीसु---सन्निपतितं भिक्खुसंघं दिस्वा..... आगन्त्वा द्वारे ठत्वा पुन तं ठानं आलोकेन्तो सुञ्ञमेव पस्सति --- नास्स एवं होति एत्तका नाम भिक्खू कालङ्कता वा दिसापक्कन्ता वा---। वही, पृ०-७१३-७१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१३. बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ०-९८
२१४. विसुद्धिमग्गो, खण्ड-२, पृ०-७२०-७२३
२१५. सब्बासु पि हि एतासु उपेक्खा चित्तेकग्गता ति द्वे एव झानङ्गानि होन्ति। विसुद्धिमग्गो, खण्ड-२, पृ०-७२७
२१६. आरम्मणं करोतेव अञ्ञाभावेन तं इदं ।
दिट्ठदोसम्पि राजानं वुत्तिहेतु जनो यथा।। वही, पृ०- ७३०
२१७. प्रेक्षाध्यान : एक परिचय, मुनि किशनलाल, पृ०-२
२१८. धर्मचक्र का प्रवर्तन, युवाचार्य महाप्रज्ञ
२१९. ध्यान सम्प्रदाय, डॉ० भरत सिंह उपाध्याय, पृ०-१३
२२०. वही, पृ०-१५
२२१. विपश्यना साधना: एक परिचय, पृ०-२
२२२. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ०-६९५
२२३. प्राकृत-हिन्दी कोश-सं० डॉ० के० आर० चन्द्र, पृ०-७४७
२२४. भेद में छिपा अभेद, युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृ०-१०६
२२५. प्रेक्षाध्यान: आधार और स्वरूप, युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृ० -२
२२६. विपश्यना शिविर की अनुशासन संहिता,
२२७. भेद में छिपा अभेद , युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृ०-१०७
२२८. आत्मदर्शन, सत्यनारायण गोयनका , पृ०-९३
२२९. प्रेक्षाध्यान: श्वास प्रेक्षा, युवाचार्य महाप्रज्ञ
२३०. विपश्यना साधना, विट्ठलदास मोदी, पृ०-६
२३१. प्रेक्षाध्यान: प्रयोग पद्धति, युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृ०- ६
२३२. प्रेक्षाध्यान,श्वास प्रेक्षा, युवाचार्य महाप्रज्ञ
२३३. प्रेक्षाध्यानः प्रयोग- पद्धति, युवाचार्य महाप्रज्ञ
२३४. पंच णिसिज्जाओं पण्णत्ताओ, तं जहा-उक्कुडुया, गोदोहिया, समपायपुता, पलियंका, अट्ठपलियंका। स्थानांगसूत्र, युवाचार्य मधुकर मुनि, पृ०-४६५, ५/१/५०
२३५. जैन दर्शन: मनन और मीमांसा, युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृ०-२८
२३६. भेद में छिपा अभेद, युवाचार्य महाप्रज्ञ,पृ०- ११०
२३७. पातञ्जलयोग प्रदीप, श्री स्वामी ओमानन्दतीर्थ, पृ०-४४०
२३८. विपश्यना साधना, विट्ठलदास मोदी, पृ०-५
२३९. वही, पृ०-७ तथा प्रेक्षाध्यान: प्रयोग-पद्धति, युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृ०-१
२४०. भेद में छिपा अभेद, युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृ०-१११
२४१. अमूर्त चिन्तन, युवाचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तम अध्याय

आध्यात्मिक विकास की भूमियाँ

साधना-पद्धति में अध्यात्मिक विकास या नैतिक विकास का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। चाहे वह वैदिक साधना-पद्धति हो, अथवा जैन या बौद्ध साधना-पद्धति, सभी में लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं को स्वीकार किया गया है। आध्यात्मिक विकास को व्यावहारिक रूप में चारित्रिक विकास की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है, क्योंकि चारित्र की विविध दशाओं के आधार पर ही आध्यात्मिक विकास की भूमियों या अवस्थाओं का सहज रूप में अनुमान किया जाता है। अत: योग-सिद्धि के लिए आध्यात्मिक विकास अत्यन्त आवश्यक है।

जैन परम्परा में आध्यात्मिक विकास

जैन धर्म-दर्शन में आध्यात्मिक पूर्णता अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति ही साधक का लक्ष्य माना गया है। आध्यात्मिक विकास का मतलब ही होता है आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति। यदि हम पारिभाषिक रूप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि आत्मा का स्व-स्वरूप में स्थित हो जाना ही आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति है। यही साधक का परम लक्ष्य भी है। साधक को स्व-स्वरूप में स्थित होने के लिए साधना की विभिन्न श्रेणियों से गुजरना पड़ता है। यद्यपि आत्मा का वास्तविक स्वरूप शुद्ध ज्ञानमय व पूर्ण सुखमय होता है। जैन परम्परा की मान्यता है कि आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तानन्द व अनन्तवीर्य ये चार अनन्तचतुष्टय पाए जाते हैं, परन्तु यह अविद्या, कर्म और माया के चक्कर में पड़कर विकृत हो नाना प्रपंचों अथवा विभिन्न अच्छे-बुरे कर्मों का कारण बन जाती है। यही कारण है कि आत्मा की परिशुद्धि के लिए आचार-सम्बन्धी व्रत, नियमों का पालन आवश्यक हो जाता है, ताकि समस्त कर्ममल का नाश हो सके और नये कर्मों का बन्धन रुक सके।

आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं को तीन भागों में विभक्त किया गया है- बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।[१]

बहिरात्मा– यह चेतना की विषयाभिमुखी प्रवृत्ति है। उस आत्मा को बहिरात्मा की संज्ञा से विभूषित किया जाता है, जो सांसारिक विषय-भोगों में रुचि रखता है। यानी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरों के पदार्थों में अपनत्व का आरोपण कर उनके भोगों में लिप्त रहना, बहिरात्मा का कार्य है। यह देहात्मबुद्धि और मिथ्यात्व से युक्त होता है। *आचारांग* में इसे बाल, मन्द और मूढ़ के नाम से वर्णित किया गया है तथा कहा गया है कि ये आत्माएँ ममत्व से युक्त होती हैं तथा बाह्य विषयों में रस लेती हैं।[२]

अन्तरात्मा – यह चेतना की आत्माभिमुखी प्रवृत्ति है। वह आत्मा अन्तरात्मा के नाम से जानी जाती है जो बाह्य विषयों से विमुख होकर अपने अन्दर में झाँकती है अर्थात् स्व-स्वरूप में निमग्न रहती है। वह देहात्मबुद्धि से रहित होती है, क्योंकि वह भेद-विज्ञान के द्वारा आत्मा और शरीर की भिन्नता को जान लेती है।[३]

परमात्मा – राग-द्वेष का विजेता, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी आत्मा परमात्मा कहलाती है। इसकी दो श्रेणियाँ होती हैं-प्रथम अर्हत्, द्वितीय सिद्ध। जीवनमुक्त आत्मा अर्हत् कहलाती है तथा विदेहमुक्त सिद्ध।[४]

आत्मा की उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं को डॉ० मोहनलाल मेहता ने निकृष्टतम, उत्कृष्टतम तथा तदन्नवर्ती तीन मुख्य रूपों में विभक्त किया है। अज्ञान अथवा मोह का प्रगाढ़तम आवरण आत्मा की निकृष्टतम अवस्था है। विशुद्धतम ज्ञान अथवा आत्यन्तिक व्यपगतमोहता आत्मा की उत्कृष्टतम अवस्था है तथा इन दोनों चरम अवस्थाओं के मध्य में अवस्थित दशाएँ तृतीय कोटि की अवस्थाएँ हैं। प्रथम प्रकार की अवस्था में चारित्रशक्ति का सम्पूर्ण ह्रास होता है तथा द्वितीय प्रकार की अवस्था में चारित्रशक्ति का सम्पूर्ण विकास होता है। इन दोनों ही प्रकार की अवस्थाओं के अतिरिक्त चारित्र-विकास की जितनी भी अवस्थाएँ हैं उन सबका समावेश उभय चरमान्तर्वर्ती तीसरी कोटि में होता है।[५] आत्मा के उपर्युक्त विभाजन के आधार पर हम उसे मिथ्यादर्शी आत्मा (बहिरात्मा), सम्यक्- दर्शी आत्मा (अन्तरात्मा) तथा सर्वदर्शी आत्मा (परमात्मा) भी कह सकते हैं। यदि हम साधना की दृष्टि से कहें तो पतितावस्था, साधकावस्था और सिद्धावस्था कह सकते हैं।

आत्म-विकास अथवा चारित्र-विकास की समस्त अवस्थाओं को जैन-कर्मशास्त्र में चौदह भागों में विभाजित किया गया है, जिसे चौदह गुणस्थान के नाम से जाना जाता है। इन चौदह गुणस्थानों द्वारा जैन दर्शन में आत्मा की नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति की यात्रा को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है जो न केवल साधक की विकास-यात्रा की विभिन्न मनोभूमियों का चित्रण करती है, बल्कि विकास–यात्रा के पूर्व की भूमिका से लेकर गन्तव्य आदर्श तक की समुचित व्याख्या भी प्रस्तुत करती है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप को विकृत या आवृत्त करने का कार्य कर्मों का है। कर्मावरण की घटा ज्यों-ज्यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों आत्मिक शक्ति का प्रकाश मन्द होता जाता है। ठीक इसके विपरीत ज्यों-ज्यों कर्मों का आवरण हटता जाता है, त्यों-त्यों आत्मा की शक्ति प्रकट होती जाती है। आत्मशक्ति पर चार प्रकार के आवरण होते हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। इन चारों में मोहनीय रूपी आवरण ही प्रमुख है। मोह की तीव्रता-मन्दता पर ही अन्य आवरणों की तीव्रता-मन्दता निर्भर करती है।

मोह मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं- दर्शनमोह तथा चारित्रमोह। मोह की वह शक्ति जो आत्मा को स्व-स्वरूप या आदर्श का यथार्थ बोध नहीं होने देती जिसके कारण कर्तव्याकर्तव्य का यथार्थ भाव नहीं हो पाता है, दर्शनमोह कहलाता है और जिसके कारण आत्मा स्व-स्वरूप में स्थित होने के लिए प्रयास नहीं कर पाती अथवा नैतिक आचरण नहीं कर पाती है, चारित्रमोह कहलाता है।[६] अत: आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया में आत्मा के दो प्रमुख कार्य हैं- १. स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप का यथार्थ बोध करना तथा २. स्वरूप में स्थित हो जाना। तात्पर्य है कि दर्शनमोह के समाप्त होने से यथार्थ बोध प्रकट होता है और चारित्रमोह के समाप्त होने पर यथार्थ प्रयास का उदय होकर आत्मा की स्व-स्वरूप में स्थिति हो जाती है। आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति हेतु इन दो मोह रूपी राक्षसों से जूझना पड़ता है। आत्मा और दर्शनमोह तथा चारित्र-मोह के संघर्ष में सभी आत्माएँ विजय–लाभ को प्राप्त कर लेती हैं, ऐसी कोई निश्चितता नहीं है। कभी विजय को प्राप्त करती हैं, तो कभी पतनोन्मुख भी हो जाती हैं। कुछ आत्माएँ विजय–लाभ को प्राप्त कर स्व-स्वरूप को प्राप्त करती हैं तो कुछ संघर्ष में डटी रहती हैं और कुछ विमुख हो मैदान से भाग खड़ी होती हैं। जैसा कि *विशेषावश्यकभाष्य* में सोदाहरण वर्णन आया है- तीन व्यक्ति अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर थे, तभी भयानक अटवी में उन लोगों की मुलाकात चोर से हो जाती है। चोर को देखते ही उन तीनों व्यक्ति में से एक तो उनका साथ छोड़कर भाग खड़ा हुआ, दूसरा भागा तो नहीं, परन्तु चोर से संघर्ष करता रहा, फलत: परास्त होकर चोर द्वारा पकड़ा गया। तीसरा जो असाधारण बल एवं कौशल में निपुण था, चोर को परास्त करके अपने गन्तव्य की ओर चल पड़ा।[७] यहाँ हमें तीन प्रकार के व्यक्तियों का चरित्र देखने को मिला। एक वह है जो आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधना के मैदान में उतरते तो हैं, लेकिन साहसहीन होने के कारण चुनौती का सामना न कर साधना रूपी कुरुक्षेत्र से भाग खड़े होते हैं। दूसरे व्यक्ति वे होते हैं जो साधना रूपी क्षेत्र में डटे रहते हैं, शत्रु से संघर्ष भी करते हैं, परन्तु साधना के रणकौशल के अभाव में परास्त हो जाते हैं। इसी तरह तीसरे व्यक्ति वे हैं, जो साहसपूर्वक साधना के रणकौशल को जानते हुए कुशलतापूर्वक प्रयास करते हैं तथा विजय श्री ग्रहण करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन परम्परा में आत्म-विकास (आध्यात्मिक विकास) अथवा चारित्र-विकास की समस्त अवस्थाओं को चौदह भागों में विभाजित किया है जो चौदह गुणस्थान के नाम से जाना जाता है। आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थान जैन चारित्र की चौदह सीढ़ियाँ हैं। साधक को इन्हीं सीढ़ियों से चढ़ना उतरना पड़ता है। आत्मा की विकास-प्रक्रिया में उत्थान-पतन का होना स्वाभाविक है। आत्मशक्ति की विकसित और अविकसित अवस्था को ही जैन परम्परा में गुणस्थान कहा गया है। इसके चौदह प्रकार इस प्रकार हैं[८]-

१. मिथ्यादृष्ट	२. सास्वादनदृष्टि
३. मिश्रदृष्टि	४. अविरत सम्यक्-दृष्टि
५. देश विरत-विरताविरत	६. प्रमत्तसंयत
७. अप्रमत्तसंयत	८. अपूर्वकरण
९. अनिवृत्तिकरण	१०.सूक्ष्मसम्पराय
११. उपशान्तमोह	१२. क्षीणमोह
१३. सयोग केवली	१४. अयोग केवली

उपर्युक्त चौदह गुणस्थानों में से प्रथम तीन का अन्तर्भाव बहिरात्मा में होता है, क्योंकि इन अवस्थाओं में जीव विविध कषायों से रंजित होता है। चतुर्थ से बारहवें गुणस्थान का अन्तर्भाव अन्तरात्मा में होता है। शेष दो गुणस्थान का अन्तर्भाव परमात्मा में होता है, क्योंकि इस अवस्था तक आते-आते जीव परमात्म अर्थात् आत्मा अपने चरमावस्था को प्राप्त कर लेती है।[९] अभिप्राय यह है कि प्रथम गुणस्थान में आत्मशक्ति का प्रकाश अत्यन्त मन्द होता है। लेकिन जैसे-जैसे आत्मशक्ति आगे के गुणस्थानों की ओर बढ़ती जाती है, आत्मप्रकाश भी बढ़ता जाता है और अन्तिम गुणस्थान में आत्मा अपने असली रूप में पहुँच जाती है।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

यह अवस्था आत्मा की अज्ञानमय अवस्था होती है। इसमें मोह की प्रबलतम स्थिति होने के कारण व्यक्ति की आध्यात्मिक स्थिति बिल्कुल गिरी हुई होती है, क्योंकि प्राणी यथार्थबोध के अभाव में बाह्य पदार्थों से सुखों की प्राप्ति की कामना करता है। अयथार्थ दृष्टिकोण के कारण वह असत्य को सत्य और अधर्म को धर्म मानकर चलता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। यदि नैतिक दृष्टि से कहा जाय तो इस अवस्था में प्राणी को शुभ और अशुभ या कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान नहीं होता है। फलतः मिथ्यादृष्टि के कारण राग-द्वेष से वशीभूत हो आत्मा आध्यात्मिक सुख से वंचित रहती है। वह दिग्भ्रमित व्यक्ति की भाँति निरुद्देश्य इधर-उधर भटकती रहती है। उस पर वासनात्मक प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हावी होती हैं कि वह सत्य दर्शन एवं नैतिक आचरण से वंचित रहती है। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में आत्मा ऐकान्तिक धारणाओं, विपरीत धारणाओं, वैनयिकता, संशय और अज्ञान से युक्त रहती है।[१०] जिसके कारण उसको यथार्थ दृष्टिकोण उसी प्रकार अरुचिकर लगता है जिस प्रकार ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को भोजन।[११] परन्तु एक सवाल स्वतः उठता है कि क्या यथार्थ या सत्य कोई वस्तु है जिसे प्राप्त किया जा सकता है? नहीं? वह वस्तु नहीं है बल्कि वह सदैव अपने यथार्थ रूप में ही रहती है। हम ऐकान्तिक दृष्टिकोण या पाक्षिक व्यामोह के कारण उसे देख नहीं पाते हैं। अतः जब व्यक्ति ऐकान्तिक दृष्टिकोण का त्याग कर देता है तो यथार्थ दृष्टिकोणवाला कहलाने लगता है। जैसा कि पंडित सुखलाल जी संघवी ने कहा है कि प्रथम गुणस्थान में रहनेवाली ऐसी अनेक आत्माएँ होती हैं, जो राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को थोड़ा-सा दबाये हुए होती हैं। वे यद्यपि आध्यात्मिक लक्ष्य के सर्वदा अनुकूलगामी नहीं होतीं, तो भी उनका बोध व चारित्र अन्य अविकसित आत्माओं की अपेक्षा अच्छा ही होता है। यद्यपि ऐसी आत्माओं की अवस्था आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा आत्मोन्मुख न होने के कारण मिथ्यादृष्टि, विपरीतदृष्टि या असत्-दृष्टि कहलाती हैं, तथापि वे सत्-दृष्टि के समीप ले जानेवाली होने के कारण उपादेय मानी गयी हैं।[१२] अतः कहा जा सकता है कि इस गुणस्थान का मुख्य लक्षण मिथ्यादर्शन अथवा मिथ्या श्रद्धान् है।

सास्वादन गुणस्थान

यह गुणस्थान आत्मा की पतनोन्मुख अवस्था का चित्रण करता है। सम्यक्त्व का क्षणिक आस्वादन होने से ही इस गुणस्थान को सास्वादन या सासादन कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि व्यक्ति को मोह का प्रभाव कम होने पर जब कुछ क्षणों के लिए सम्यक्त्व अर्थात् यथार्थता की अनुभूति होती है, परन्तु मोहोदय के कारण सम्यक्त्व से गिरकर पुनः आत्मा मिथ्यात्व में प्रविष्ट हो जाती है। ऐसी अवस्था में सम्यक्त्व का अति अल्पकालीन आस्वादन होता है, जिसके कारण इसे सास्वादन सम्यक्-दृष्टि के नाम से अभिहित किया जाता है। जिस प्रकार खाना खाने के बाद वमन होने पर वमित वस्तु का एक विशेष प्रकार का आस्वादन होता है, उसी प्रकार यथार्थ बोध हो जाने पर मोहासक्ति के कारण जब पुनः अयथार्थता का ग्रहण होता है तो उसे ग्रहण करने के पूर्व थोड़े समय के लिए उस यथार्थता का एक विशिष्ट प्रकार का अनुभव बना रहता है। यही सास्वादन गुणस्थान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहलाता है। इस गुणस्थान में कोई भी आत्मा प्रथम गुणस्थान से होकर नहीं आती बल्कि ऊपर की श्रेणियों से पतित होकर प्रथम गुणस्थान की ओर जाती है तो इस द्वितीय गुणस्थान की अवस्था से गुजरती है। इसका काल अति अल्प होता है।

मिश्र गुणस्थान

यह गुणस्थान आत्मा की वह अवस्था है जिसमें न केवल सम्यक्-दृष्टि होती है और न केवल मिथ्यादृष्टि। यह दही और गुड़ की भाँति सम्यक्त्व और असम्यक्त्व का मिश्रित रूप है, इसीलिए इसे मिश्र गुणस्थान कहा जाता है। यह भ्रांति की एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें सत्य और असत्य ऐसे रूप में प्रस्तुत होते हैं कि साधक यह पहचान नहीं पाता है कि इनमें सत्य कौन है और असत्य कौन है? वस्तुत: जब साधक सत्य और असत्य के मध्य किसी एक का चुनाव न कर सकने के कारण अनिर्णय की अवस्था में होता है, तब ही यह अनिश्चय की स्थिति उत्पन्न होती है। अत: इस अनिर्णय की स्थिति में साधक को न तो सम्यक्दृष्टि कहा जा सकता है और न मिथ्यादृष्टि ही। इस गुणस्थान में आत्मा प्रथम गुणस्थान से विकसित होकर नहीं आती है, बल्कि चतुर्थ गुणस्थान से पतित होकर प्रथम गुणस्थान को प्राप्त करने के लिए इस अवस्था से गुजर कर जाती है। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि आत्माएँ तृतीय गुणस्थान में विकसित होकर आ ही नहीं सकती, बल्कि प्राप्त कर सकती हैं। जो आत्माएँ चतुर्थ गुणस्थान में यथार्थ का बोध करके पुन: पतित होकर प्रथम गुणस्थान को प्राप्त करती हैं, वे ही आत्माएँ अपनी उत्क्रान्ति काल में प्रथम गुणस्थान से सीधे तृतीय गुणस्थान में आती हैं, लेकिन जिन आत्माओं ने कभी सम्यक्त्व का स्पर्श नहीं किया है वे अपने विकास में प्रथम गुणस्थान से सीधे चतुर्थ गुणस्थान में जाती हैं। इस प्रकार मिश्र गुणस्थान जीवन के संघर्ष की अवस्था का द्योतक है जिसमें सत्य और असत्य, शुभ और अशुभ अथवा मानव में निहित पाशविकवृत्तियाँ और आध्यात्मिक वृत्तियों के मध्य संघर्ष चलता है। यह संघर्ष अन्तर्मुहूर्त (४८मिनट) से अधिक नहीं चलता, क्योंकि इसमें स्थित आत्मा शीघ्र ही अपनी तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार या तो मिथ्यात्व अवस्था को प्राप्त कर लेती है या सम्यक्त्व अवस्था को। इस गुणस्थान की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि इस अवस्था में मृत्यु नहीं होती। इस सन्दर्भ में आचार्य *नेमीचन्द्र* का कहना है कि मृत्यु उसी स्थिति में संभव होती है, जिसमें भावी आयुकर्म का बन्ध नहीं होता, अत: मृत्यु भी नहीं हो सकती।[१३] यही आध्यात्मिक विकास की तीसरी भूमिका मिश्र गुणस्थान है।

अविरत सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान

आध्यात्मिक विकास की इस अवस्था में साधक को यथार्थता का बोध हो जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। वह सत्य को सत्य के रूप में तथा असत्य को असत्य के रूप में जानने लगता है। परन्तु इसमें विचार-शुद्धि की विद्यमानता होते हुए भी आचार-शुद्धि का असद्भाव होता है। साधक को यह ज्ञान तो होता है कि अशुभ अशुभ है, लेकिन अशुभ के आचरण से वंचित नहीं रह पाता है। वह हिंसा, झूठ, अब्रह्मचर्य आदि को अनैतिक मानते हुए भी उन अनैतिक कार्यों में संलग्न रहता है, क्योंकि उसका ज्ञानात्मक पक्ष सम्यक् रूप होता है और आचरणात्मक पक्ष असम्यक् रूप। आत्मा की ऐसी ही अवस्था को जैन परम्परा में अविरत सम्यक्-दृष्टि कहा गया है। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि अविरत सम्यक्-दृष्टि आत्मा में आत्मसंयम या वासनात्मक वृत्तियों पर किसी न किसी अंश तक संयम होता है, क्योंकि अविरत सम्यक्-दृष्टि में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि चार कषायों के स्थायी और तीव्रतम आवेगों का अभाव होता है। कारण कि जब तक इन कषायों के तीव्रतम आवेगों का क्षय या उपशम नहीं हो जाता है तब तक आत्मा को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। अत: कहा जा सकता है कि चतुर्थ गुणस्थान आत्मा की वह अवस्था है जिसमें मोह की शिथिलता के कारण सम्यक्-श्रद्धा अर्थात् सद्-असद् विवेक तो विद्यमान रहता है, किन्तु सम्यक्-चारित्र का अभाव होता है। इस गुणस्थान में सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करना होता है-१. अनन्तानुबन्धी क्रोध २. अनन्तानुबन्धी मान ३. अनन्तानुबन्धी माया ४. अनन्तानुबन्धी लोभ ५. मिथ्यात्व मोह ६. मिश्र मोह और ७.सम्यक्त्व क्षायिकावस्था है, जिसका पतन नहीं होता। यदि इन कर्मप्रकृतियों का शमन करके आत्मा आगे बढ़ती है तो वह उसकी औपशमिक सम्यकावस्था कहलाती है। इस अवस्था से आत्मा एक अन्तर्मुहूर्त के भीतर ही अयथार्थता की ओर अग्रसर हो जाती है। इसी प्रकार इन कर्म प्रकृतियों को जब आंशिक रूप से क्षय और दमित किया जाता है तो वह आत्मा की क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अवस्था कहलाती है। इस अवस्था में दमित अवस्थाएँ साधक को यथार्थ दृष्टि से नीचे गिरा देती हैं।

देशविरति सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान

देशविरति का अर्थ होता है-वासनामय जीवन से आंशिक रूप में निवृत्ति। अर्थात् देशविरति सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान की अवस्था में साधक पूर्णरूप से सम्यक्-चारित्र की आराधना तो नहीं कर पाता है, किन्तु आंशिक रूप से उसका पालन अवश्य करता है। जैसाकि चतुर्थ गुणस्थान में साधक कर्तव्याकर्तव्य का बोध होते हुए भी कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ नहीं हो पाता है, जबकि इस पाँचवें देशविरति सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान में साधक कर्तव्य पथ पर यथाशक्ति चलने का प्रयास करता है। चतुर्थ गुणस्थान में व्यक्ति में वासनाओं एवं कषायों के आवेगों के प्रकटन की संभावना रहती है, क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनकी स्थिति क्षायोपशमिक होती है। साधक उस पर नियंत्रण की क्षमता नहीं रखता है। किन्तु पाँचवे गुणस्थान की प्राप्ति के लिए अनियंत्रित कषायों का उपशान्त होना अत्यावश्यक है, क्योंकि जिस व्यक्ति में वासनाओं एवं कषायों पर नियंत्रण करने की क्षमता नहीं होगी, वह नैतिक आचरण कभी नहीं कर सकता। इसलिए आध्यात्मिक विकासक्रम की इस भूमि में वासनाओं एवं कषायों पर आंशिक नियंत्रण को आवश्यक बताया गया है। आंशिक अवस्था में स्थित व्यक्ति को जैन आचारशास्त्र में उपासक या श्रावक कहा गया है। अत: कहा जा सकता है कि इस गुणस्थान में व्यक्ति सम्यक्-चारित्र का पूर्णरूपेण अथवा सूक्ष्मतया पालन नहीं करता बल्कि मोटे तौर पर चारित्र का पालन करता है। स्थूल हिंसा, झूठ आदि का त्याग करते हुए, अपना व्यवहार चलाते हुए आध्यात्मिक साधना में संलग्न रहता है।

प्रमत्तसंयत्त गुणस्थान

इस छठे गुणस्थान में साधक देशविरति अर्थात् आंशिक विरति से सर्वविरति अर्थात् साधक अशुभाचरण अथवा नैतिक आचरण से पूर्णरूपेण विरत हो जाता है। इस अवस्था में वह पूर्णतया सम्यक्-चारित्र की आराधना प्रारम्भ कर देता है। उसका व्रत अणुव्रत न कहलाकर महाव्रत कहलाता है और इसका पालन करनेवाला महाव्रती या साधक कहलाता है। परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इस अवस्था में स्थित साधक का चारित्र सर्वथा विशुद्ध होता है, अर्थात् उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं आता, बल्कि प्रमादादि दोषों की थोड़ी-बहुत संभावना यहाँ भी बनी रहती है। साधक अपनी आध्यात्मिक परिस्थिति के अनुसार इस भूमिका से नीचे गिर सकता है और ऊपर चढ़ सकता है। जब-जब साधक कषायादि प्रमादों पर अधिकार कर लेता है तब-तब वह ऊपर की श्रेणी में चला जाता है और जब-जब कषाय आदि प्रमाद उस पर हावी होते हैं तब-तब वह आगे की श्रेणी से लौटकर पुन: इस श्रेणी में आ जाता है। प्रमत्तसंयत गुणस्थान के साधक साधनापथ में परिचारण करते हुए आगे बढ़ना तो चाहता है, लेकिन प्रमाद उसमें अवरोध का कार्य करता है। साधकों में साधना के लक्ष्य का भाव तो रहता है, लेकिन लक्ष्य के प्रति जिस सतत् जागरुकता की अपेक्षा होती है, उसका साधक में अभाव होता है। इन्द्रियाँ चंचल होती हैं और अपने विषय की ओर इन्द्रियों की चंचलता के कारण जब-जब साधक लक्ष्य के प्रति सतत् जागरुकता नहीं रख पाता, तब-तक वह इस गुणस्थान में आ जाता है और पुन: लक्ष्य के प्रति जागरुक बनकर सातवें गुणस्थान में चला जाता है।

इस गुणस्थान में आने के लिए साधक को मोहकर्म की १५ प्रकृतियों का क्षय, उपशम, क्षयोपशम करना होता है। मोहकर्म की १५ प्रकृतियाँ निम्न हैं[१४]—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. स्थायी प्रबलतम (अनन्तानुबंधी) क्रोध, मान, माया और लोभ—४

२. अस्थायी किन्तु अनियंत्रणीय (अप्रत्याख्यानी) क्रोध, मान, माया और लोभ—४

३. नियंत्रणीय (प्रत्याख्यानी) क्रोध, मान, माया और लोभ—४

४. मिथ्यात्वमोह, मिश्रमोह और सम्यक्त्वमोह—३

प्रमाद के अवरोध के कारण साधक के अन्दर पूर्ण आत्मजागृति सम्भव नहीं हो पाती है, इसलिए साधक को प्रमाद के कारणों का उपशमन करना होता है और जब वह प्रमादों को शमित करने में सफल हो जाता है तब विकास की अगली श्रेणी में प्रवेश कर जाता है।

अप्रमत्तसंयत्त गुणस्थान

इस अवस्था में साधक व्यक्त-अव्यक्त सम्पूर्ण प्रमाद आदि दोषों से रहित होकर आत्मसाधना में लीन रहता है। यह पूर्ण सजगता की स्थिति होती है। साधक का ध्यान अपने लक्ष्य पर केन्द्रित होता है, लेकिन प्रमादजन्य वासनाएँ बीच-बीच में साधक का ध्यान विचलित करती रहती हैं। फलतः साधक कभी प्रमादावस्था में विद्यमान रहता है तो कभी अप्रमादावस्था में। इस प्रकार साधक की नैया छठवें और सातवें गुणस्थान के बीच में डोलती रहती है। इस श्रेणी में कोई भी साधक एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रह पाता है। यदि वह एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक देहातीत भाव में रहता है तो वह आगे की श्रेणियों की ओर प्रस्थान कर जाता है या फिर प्रमाद के जाग्रत होने पर पुनः छठे गुणस्थान में चला जाता है।

अपूर्वकरण गुणस्थान

यह अवस्था आत्मगुण-शुद्धि अथवा लाभ की अवस्था है, क्योंकि इस अवस्था में साधक का चारित्रबल विशेष बलवान होता है और वह प्रमाद एवं अप्रमाद के इस संघर्ष में विजयी बनकर विशेष स्थायी अप्रमत अवस्था को प्राप्त कर लेता है, फलतः उसे एक ऐसी शक्ति की प्राप्ति होती है जिससे वह शेष बचे मोहबल को भी नष्ट कर सकता है। इस अवस्था में कर्मावरण के कम हो जाने के कारण आत्मा एक विशेष प्रकार के आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति करती है, ऐसी अनुभूति साधक को पूर्व में कभी नहीं हुई रहती है, इसीलिए इसे अपूर्व कहा गया है। इस गुणस्थान की अवस्था में साधक मोक्ष को अपने अधिकार क्षेत्र के अधीन समझता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिक विकास की चौदह भूमियों में प्रथम सात भूमियों तक आत्मा पर अनात्मा का आधिपत्य रहता है और अन्तिम सात भूमियों में अनात्मा पर आत्मा का अधिशासन रहता है। प्रथम सात गुणस्थानों में आत्मा और अनात्मा की अवस्थाओं को एक उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हुए डॉ० सागरमल जैन ने कुछ इस तरह कहा है— "ऐसे किसी उपनिवेश की कल्पना कीजिए, जिस पर किसी विदेशी जाति ने अनादिकाल से आधिपत्य कर रखा हो और वहाँ की जनता को गुलाम बना लिया हो, यही प्रथम गुणस्थान है। उस पराधीतना की अवस्था में ही शासक वर्ग द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का लाभ उठाकर वहीं की जनता में स्वतंत्रता की चेतना का उदय हो जाता है- यही चतुर्थ गुणस्थान है। बाद में वह जनता कुछ अधिकारों की माँग प्रस्तुत करती है और कुछ प्रयासों और परिस्थितियों के आधार पर उनकी यह माँग स्वीकृत होती है- यही पाँचवाँ गुणस्थान है। इसमें सफलता प्राप्त कर जनता अपने हितों की कल्पना के सक्रिय होने पर औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति का प्रयास करती है और संयोग उसके अनुकूल होने से उनकी वह माँग भी स्वीकृत हो जाती है- यह छठा गुणस्थान है। औपनिवेशिक स्वराज्य की इस अवस्था में जनता पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्ति का प्रयास करती है, उसके हेतु सजग होकर अपनी शक्ति का संचय करती है- यह सातवाँ गुणस्थान है। आगे वह अपनी पूर्ण स्वतंत्रता का उद्घोष करती हुई उन विदेशियों से संघर्ष प्रारम्भ करती है। संघर्ष की प्रथम स्थिति में यद्यपि उसकी शक्ति सीमित होती है और शत्रु वर्ग भयंकर होता है, फिर भी अपने अद्भुत साहस और शौर्य से उसको परास्त करती है-यही आठवाँ गुणस्थान है। नवाँ गुणस्थान वैसे ही है जैसे युद्ध के बाद आन्तरिक अवस्था को सुधारने और छिपे हुए शत्रुओं का उन्मूलन किया जाता है।[१५]

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान

दृष्ट, श्रुत अथवा भुक्त विषयों की आकांक्षा का अभाव होने के कारण नवें गुणस्थान में अध्यवसायों की विषयाभिमुखता नहीं होती अर्थात् भाव पुनः विषयों की ओर नहीं लौटते। इस प्रकार भावों-अध्यवसायों की अनिवृत्ति के कारण इस अवस्था का नाम अनिवृत्तिकरण गुणस्थान रखा गया है।[१६] आध्यात्मिक विकास के क्रम में गतिशील साधक जब कषायों में केवल बीजरूप सूक्ष्म लोभ छोड़कर शेष सभी कषायों का क्षय या उपशमन कर देता है, उसके काम आदि वासनात्मक भाव भी समूल नष्ट हो जाते हैं, तब आध्यात्मिक विकास की यह अवस्था प्राप्त होती है। इस गुणस्थान में आत्मा बादर अर्थात् स्थूल कषायों के उपशमन अथवा क्षपण में तत्पर रहती है। अतः इसे अनिवृत्तिबादर गुणस्थान, अनिवृत्ति बादर सम्पराय (कषाय) गुणस्थान अथवा बादर सम्पराय गुणस्थान भी कहते हैं।[१७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान

मोहनीयकर्म की २८ कर्म-प्रकृतियों में से २७ कर्म-प्रकृतियों के क्षय या उपशम हो जाने पर जब मात्र संज्वलन लोभ शेष रह जाता है तब साधक इस गुणस्थान में पहुँचता है। आध्यात्मिक पतन के कारणों में मात्र सूक्ष्म लोभ के शेष रहने के कारण ही इस गुणस्थान का नाम सूक्ष्मसम्पराय है।

उपशान्तमोह गुणस्थान

आध्यात्मिक विकास की इस भूमि में वे साधक आते हैं जो क्रोधादि का दमन कर या उपशम कर विकास की ओर बढ़ते हैं और जो साधक वासनाओं को सर्वथा निर्मूल करते हुए क्षायिक की श्रेणी से विकास करते हैं, वे आध्यात्मिक विकास की इस भूमि में न आकर सीधे बारहवें गुणस्थान में चले जाते हैं। इस गुणस्थान में साधक के समस्त कषाय उपशान्त हो जाते हैं, दब जाते हैं, इसलिए इसका नाम उपशान्त कषाय गुणस्थान या उपशान्त मोह गुणस्थान कहा गया है। इसमें आत्मा (साधक) मोह को एक बार दबा तो देती है, किन्तु निर्मूल नाश के अभाव में दबा हुआ मोह राख में दबी हुई अग्नि की भाँति समय आने पर पुनः उत्पन्न हो जाता है और साधक का साधना-पथ से पतन हो जाता है। इस अवस्था में आत्मा एक बार निश्चित रूप से पतित होकर नीचे की किसी भूमिका पर आ टिकती है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि आत्मा पतित होकर सबसे नीचे की भूमिका मिथ्यात्व गुणस्थान तक पहुँच जाती है। ऐसा क्यों होता है? प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है। उत्तरस्वरूप यह कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक विकास की तीन विधियाँ हैं-क्षायिकविधि, उपशमविधि और क्षयोपशम विधि। क्षायिक विधि में साधक कषायों को नष्ट करते हुए आगे बढ़ता है और उपशम विधि में कषायों को दबाकर आगे बढ़ता है। क्षायोपशमिक क्षायिक और उपशम का मिश्रित रूप है जिसमें कषाय को आंशिक रूप में नष्ट करके या आंशिक रूप में दबाकर साधक विकास-क्रम में आगे बढ़ता है। अतः साधक इस ग्यारहवें गुणस्थान मे उपशम विधि द्वारा कषायों को दबाकर ही प्रवेश करता है। यही कारण है कि जो साधक उपशम विधि द्वारा कषायों को दमित करके आगे बढ़ता है, उसके पतन की सम्भावना निश्चित रहती है। *गोम्मटसार* में कहा गया है कि जिस प्रकार शरद ऋतु में सरोवर का पानी मिट्टी के नीचे बैठ जाने से स्वच्छ दिखाई पड़ता है, लेकिन उसकी निर्मलता स्थायी नहीं होती, मिट्टी के कारण समय आने पर वह पुनः मलिन हो जाता है, उसी प्रकार जो आत्माएँ मिट्टी के समान कर्ममल के दब जाने से नैतिक प्रगति एवं आत्मशुद्धि की इस अवस्था को प्राप्त करती हैं वे एक समयावधि के पश्चात् पुनः पतित हो जाती हैं।[१८] यही कारण है कि उपशम विधि के द्वारा आध्यात्मिक विकास करनेवाला साधक साधना के मार्ग में उच्च स्तर पर पहुँच कर भी पतित हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षीणकषाय(मोह) गुणस्थान

इस गुणस्थान में साधक के मन में नैतिकता एवं अनैतिकता के बीच होनेवाला संघर्ष हमेशा के लिए शांत हो जाता है, कारण कि उसकी समस्त वासनाएँ, समस्त आकांक्षाएँ क्षीण हो चुकी होती हैं। इस गुणस्थान में आनेवाला साधक मोहकर्म की २८ प्रवृत्तियों को पूर्ण रूप से समाप्त कर देता है, इसीलिए इस गुणस्थान को क्षीणमोह गुणस्थान कहा गया है। यह नैतिक विकास की पूर्ण अवस्था है। इस स्थिति में पहुँचने के बाद साधक के लिए कोई भी नैतिक कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है। साधक दशवें गुणस्थान में बचे हुए अवशेष सूक्ष्म लोभ को भी नष्ट कर सीधे बारहवें गुणस्थान में आ जाता है। अत: विकास की इस श्रेणी में पतन का कोई भय नहीं रह जाता। साधक विकास की अग्रिम भूमियों में बढ़ता जाता है। यह नैतिक पूर्णता की अवस्था है और व्यक्ति जब यथार्थ नैतिक पूर्णता को प्राप्त कर लेता है तो आध्यात्मिक पूर्णता को भी उपलब्ध कर लेता है। ग्यारहवें गुणस्थान के विपरीत स्वरूपवाले बारहवें गुणस्थान की यही विशेषता है कि विकास की भूमि में साधक के पतन की कोई सम्भावना नहीं रहती।

सयोग केवली गुणस्थान

जैन दर्शन में कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार को 'योग' संज्ञा से विभूषित किया जाता है और इन योगों के अस्तित्व के कारण ही इस अवस्था को सयोग केवली गुणस्थान कहा गया है। इस गुणस्थान में आनेवाला साधक, साधक की श्रेणी में नहीं रह जाता, उसे सिद्ध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी आध्यात्मिक पूर्णता में कुछ कमी रहती है। अष्ट कर्मों में से चार घाती कर्म तो क्षय कर चुके होते हैं लेकिन चार अघाती कर्म— आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय आदि कर्मों के अस्तित्व के बने रहने के कारण आत्मा देह से अपने सम्बन्ध का परित्याग नहीं कर पाती है। इसे सदेहमुक्ति भी कहते हैं। जैन परम्परा में इस अवस्था को अर्हत्, सर्वज्ञ, केवली आदि नामों से विभूषित किया गया है।

अयोग केवली गुणस्थान

सयोग केवली गुणस्थान में स्थित आत्मा (साधक) आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त तो कर लेती है, लेकिन आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध बना रहता है। सयोग केवली जब अपने शरीर से मुक्ति पाने के लिए विशुद्ध ध्यान का आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक एवं कायिक व्यापारों को सर्वथा रोक देता है तब वह (साधक) आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। आत्मा की इसी अवस्था का नाम अयोग केवली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान है। इस अवस्था में कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार का पूर्णतः निरोध हो जाता है। यह चारित्र विकास या आध्यात्म विकास की चरमावस्था है। आत्मा उत्कृष्टतम शुक्लध्यान द्वारा सुमेरु पर्वत की तरह निष्प्रकम्पस्थिति को प्राप्त कर अन्त में देहत्यागपूर्वक सिद्धावस्था को प्राप्त होती है।[१९] इसे जैन दर्शन में मोक्ष, निर्वाण, शिवपद एवं निर्गुण-ब्रह्म स्थिति कहा गया है।[२०]

योगदृष्टियाँ

जीवन के समग्र कार्य-कलापों का मूल आधार दृष्टि (Vision) होती है। सत्व, रज और तम में से जिस ओर हमारी दृष्टि मुड़ जाती है, हमारा जीवन प्रवाह उसी ओर स्वतः बढ़ जाता है। इसीलिए आचार्य *हरिभद्र* ने आत्मा के क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए योग की आठ दृष्टियों का उल्लेख किया है। दृष्टि को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा है कि जिससे समीचीन श्रद्धा के साथ बोध हो और जिससे असत् प्रवृत्तियों का क्षय करके सत् प्रवृत्तियाँ प्राप्त हों, वह दृष्टि है।[२१] दृष्टि दो प्रकार की होती है-ओघदृष्टि और योगदृष्टि। मेघाच्छन्न रात्रि, मेघरहितरात्रि, मेघयुक्त दिवस में ग्रह, भूत-प्रेत आदि से ग्रस्त पुरुष, उनसे अग्रस्त पुरुष, बालक, व्यस्क, मोतियाबिन्द आदि से विकृत, मोतियाबिन्द आदि से रहित दृष्टि ओघदृष्टि होती है।[२२] तात्पर्य है कि सांसारिकभाव, सांसारिक सुख, सांसारिक पदार्थ, क्रिया-कलाप आदि में जो रची-बसी रहती है, वह ओघदृष्टि है। योगदृष्टि के प्रकार को बताते हुए आचार्य *हरिभद्र* ने कहा है-तृण के अग्निकण, गोबर या उपला के अग्निकण, काष्ठ के अग्निकण, दीपक की प्रभा, रत्न की प्रभा, सूर्य की प्रभा तथा चन्द्र की प्रभा के सदृश साधक की दृष्टि आठ प्रकार की होती है।[२३] वे आठों दृष्टियाँ हैं[२४]- १. मित्रा २. तारा ३. बला ४. दीप्रा ५. स्थिरा ६. कान्ता ७. प्रभा ८. परा।

उपर्युक्त आठों प्रकार में से प्रथम चार ओघदृष्टि में अन्तर्निहित हैं, क्योंकि इनकी वृत्ति संसाराभिमुख रहती है, अर्थात् जीव का उत्थान-पतन होता है। शेष चार दृष्टियाँ योगदृष्टि में समाहित होती हैं, क्योंकि इनमें आत्मा की प्रवृत्ति आत्मविकास की ओर अग्रसर होती है। पाँचवीं दृष्टि के बाद जीव सर्वथा उन्नतिशील बना रहता है, उसके गिरने की सम्भावना नहीं रहती। अतः कहा जा सकता है कि ओघदृष्टि असत्दृष्टि है और योग दृष्टि सत्दृष्टि है। आचार्य *हरिभद्र* ने प्रथम चार दृष्टियों को अवेद्य-संवेद्य पद[२५] अथवा प्रतिपाति[२६] तथा अन्तिम चार दृष्टियों को वेद्य-संवेद्य पद अथवा अप्रतिपाति कहा है। वेद्य-संवेद्य पद से अभिप्राय है, जिस पद में वेद्य विषयों का यथार्थ स्वरूप जाना जा सके और उसमें अप्रवृत्ति बुद्धि पैदा हो। इसी प्रकार जिसमें बाह्य वेद्य विषयों का यथार्थस्वरूप में संवेदन और ज्ञान न किया जा सके वह अवेद्य-संवेद्य पद है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मित्रादृष्टि

इस प्रथम दृष्टि को आचार्य ने तृण के अग्निकणों की उपमा से उपमित किया हैं। जिस प्रकार तिनकों की अग्नि में सिर्फ नाम की अग्नि होती है, उसके सहारे किसी वस्तु का स्पष्ट रूप से दर्शन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार इस दृष्टि में साधक को ज्ञान तो प्राप्त होता है लेकिन उस अल्पज्ञान में तत्त्वबोध नहीं हो पाता, क्योंकि मिथ्यात्व अथवा अज्ञान इतना घना होता है कि वह ज्ञान और दर्शन पर आवरण डाल देता है। इसलिए साधक को तात्त्विक एवं पारमार्थिक ज्ञान का बोध नही हो पाता है। यह अल्पस्थिति होती है। चूँकि यह मन्द, हल्की, धुँधली और स्वल्प शक्तिक है, इसलिए साधक में कोई ऐसा संस्कार निष्पन्न नहीं कर पाती है जिसके सहारे साधक आध्यात्मिक बोध की ओर गति कर सके। इसका मात्र इतना-सा उपयोग है कि यह बोधमय प्रकाश की एक हल्की सी रश्मि आविर्भूत कर देती है जो मन में आध्यात्मिक बोध के प्रति हल्का-सा आकर्षण पैदा कर जाती है। फिर भी साधक सर्वज्ञ को अन्तःकरणपूर्वक नमस्कार करता हुआ आचार्य एवं तपस्वी की यथोचित सेवा करता है तथा औषधदान, शास्त्रदान, वैराग्य, पूजा, श्रवण,पाठन, स्वाध्याय आदि क्रियाओं और भावनाओं का पालन व चिन्तन आदि करता है। इस दृष्टि में दर्शन की मंदता, अहिंसादि यमों का पालन करने की इच्छा और देवपूजादि धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति लगाव रहता है।[२७] साधक द्वारा माध्यस्थादि भावनाओं का चिन्तन करने और मोक्ष की कारणभूत सामग्रियों को जुटाते रहने के कारण इसे योगबीज की संज्ञा से विभूषित किया गया है।[२८]

तारादृष्टि

तारा द्वितीय दृष्टि है, जिसे आचार्य ने गोबर या उपला के अग्निवेशों की उपमा से उपमित किया है। तिनकों की अग्नि की अपेक्षा उपलों की अग्नि प्रकाश की दृष्टि से कुछ विशिष्ट होती है, परन्तु कोई खास अन्तर नहीं होता है। तिनकों की अग्नि की भाँति उपलों की अग्नि का प्रकाश भी अल्पकालिक होता है, इसलिए उसके सहारे भी किसी पदार्थ का सम्यक्तया दर्शन नहीं हो पाता है। तारादृष्टि भी कुछ ऐसी ही होती है। बोधमय प्रकाश की जो झलक उद्घाटित होती है वह मित्रा दृष्टि की अपेक्षा कुछ तीव्र तो अवश्य होती है, परन्तु उसमें स्थिरता, शक्ति आदि की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। हाँ! इतना अन्तर अवश्य है कि मित्रादृष्टि में जो दिव्य झलक मिली होती है, वह कुछ अधिक ज्योतिर्मयता तथा तीव्रता के साथ साधक को तारादृष्टि में प्राप्त होती है। साथ ही, साधक को यहाँ शौचादि नियमों का पालन करते हुए आत्महित का कार्य करने में खेद नहीं होता है, बल्कि उसमें तात्त्विक जिज्ञासा जागृत हो जाती है।[२९] इसमें साधक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतना सावधान हो जाता है कि वह सोचने लगता है- कहीं मेरे द्वारा किये गये व्रत, पूजनादि क्रियाकलापों से दूसरों को कष्ट तो नहीं है[३०] और इस तरह साधक वैराग्य की तथा संसार की असारता सम्बन्धी योग-कथाओं को सुनने की इच्छा रखते हुए बड़े लोगों के प्रति समताभाव रखता है और उनका आदर-सत्कार करता है।[३१] यदि पूर्व से ही साधक के अन्तर्मन में योगी, संन्यासी, साधु आदि के प्रति अनादर का भाव रहता है तो भी वह इस अवस्था में प्रेम और सद्व्यवहार करता है।[३२] संसार की असारता तथा मोक्ष के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन करने में समर्थ न होते हुए भी निर्दिष्ट अथवा उपदिष्ट कथनों पर श्रद्धा के भाव रखता है।[३३] क्योंकि गुरु सत्संग के कारण साधक की अशुभ प्रवृत्तियाँ बन्द हो जाती हैं और संसार सम्बन्धी किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। फलतः साधक धार्मिक कार्यों में अनजाने में भी अनुचित वर्तन नहीं करता है।[३४] किन्तु सत्कार्य में लगे रहने पर भी साधक में अशुभ प्रवृत्तियाँ रहती हैं। कारण कि साधक इस अवस्था में सम्यग्ज्ञान के अभाव में सम्यक् - असम्यक् का अन्तर नहीं जान पाता है, जिसके फलस्वरूप वह जो आत्मा का स्वभाव नहीं है, उसे ही आत्मा का स्वभाव मानता है। इसी अज्ञान के कारण वह सर्वज्ञ के द्वारा कथित तत्त्वों पर श्रद्धा एवं विनीत भाव रखता है। तात्पर्य है कि तारादृष्टि में साधक को अचानक अध्यात्म-उद्बोध की कुछ विशद् झलक दिखाई तो देती है, परन्तु साधक का पूर्व का कोई संस्कार नहीं छूट पाता है, इसलिए साधक के कार्य-कलापों में द्रव्यात्मकता से अधिक विकास नहीं हो पाता है।

बलादृष्टि

इस तीसरी दृष्टि की उपमा काष्ठाग्नि से दी गयी है। जिस प्रकार काष्ठाग्नि का प्रकाश कुछ स्थिर होता है, अधिक समय तक टिकता है, शक्तिमान होता है ठीक उसी प्रकार बलादृष्टि में उत्पन्न बोध कुछ समय तक टिकता है, स्थिर रहता है, सशक्त होता है और संस्कार भी छोड़ता है। साथ ही साधक में तत्त्वज्ञान के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होती है तथा योग-साधना में किसी प्रकार का उद्वेग नहीं होता।[३५] एक उदाहरण देते हुए इस दृष्टि को बहुत ही सुन्दर ढंग से निरूपित किया गया है—जिस प्रकार सुन्दर युवक, सुन्दर युवती के साथ नाच–गाना सुनने में तद्रूप होकर अतीव आनन्द की प्राप्ति करता है, उसी प्रकार शान्त स्थिर परिणामी योगी भी शास्त्र-श्रवण देवगुरुपूजादि में उत्साह अथवा आनन्द की प्राप्ति करता है।[३६] इस अवस्था में साधक की मनोस्थिरता अत्यन्त सुदृढ़ हो जाती है और वास्तविक लक्ष्य की ओर साधक को उद्भूत किये रहने का प्रयास करती है, जिससे साधक में सत्कर्म के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। भले ही उसे तत्त्व चर्चा सुनने को मिले या न मिले, परन्तु उसकी भावना इतनी निर्मल एवं पवित्र हो जाती है कि उसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इच्छा मात्र से ही उसका कर्मक्षय होने लगता है।[३७] शुभ परिणामों के कारण समताभाव का विकास होता है जिससे साधक के मन में प्रिय वस्तु के प्रति आग्रह नहीं रहता।[३८] साथ ही साधक चारित्र-विकास की सारी क्रियाओं को आलस्यरहित होकर करता है, जिनसे बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा अथवा आसक्ति क्षीण हो जाती है और वह धर्म-क्रिया में संलग्न हो जाता है।[३९] इस प्रकार बलादृष्टि में साधक के अन्तर्मन में समताभाव का उदय होता है और आत्मशुद्धि सुदृढ़ होती है।

दीप्रादृष्टि

दीप्रा चौथी दृष्टि है। जिसकी उपमा आचार्य ने दीपक की ज्योति से दी है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश तृणाग्नि, उपलाग्नि और काष्ठाग्नि की अपेक्षा अधिक स्थिर होता है और जिसके सहारे पदार्थ को देखा जा सकता है, उसी प्रकार दीप्रादृष्टि में होने वाला बोध उपर्युक्त दृष्टियों की अपेक्षा अधिक समय तक टिकता है। परन्तु जिस प्रकार दीपक का प्रकाश हवा के झोंके से बुझ जाता है, उसी प्रकार तीव्र मिथ्यावरण के कारण यह दर्शन भी नष्ट हो जाता है। *योगदृष्टिसमुच्चय* में इस दृष्टि को प्राणायाम एवं तत्त्वश्रवणसंयुक्त तथा सूक्ष्मबोध भाव से रहित माना गया है।[४०] कहा गया है-जिस प्रकार प्राणायाम न केवल शरीर को ही सुदृढ़ बनाता है, बल्कि आन्तरिक नाड़ियों के साथ-साथ मन की मलीनता को भी धोता है, ठीक उसी प्रकार इस दृष्टि में रेचक प्राणायाम की भाँति बाह्य विषयों में ममत्वबुद्धि होने के साथ-साथ पूरक प्राणायाम की भाँति विवेकशक्ति की वृद्धि भी होती है और कुम्भक प्राणायाम की तरह ज्ञानकेन्द्रित होता है। *तारादात्रिंशिका* में इसे भावप्राणायाम कहा गया है।[४१] जो भी साधक इस दृष्टि पर अपना अधिकार कर लेता है वह बिना किसी संदेह के धर्म पर श्रद्धा करने लगता है। उसकी श्रद्धा इतनी प्रबल हो जाती है कि वह धर्म के लिए प्राण का त्याग कर सकता है, लेकिन प्राण की रक्षा के लिए धर्म का त्याग नहीं कर सकता।[४२]

अब तक की उपर्युक्त वर्णित दृष्टियाँ ओघदृष्टियाँ हैं। इनमें यदि तत्त्वज्ञान हो भी जाता है तो वह स्पष्ट नहीं होता है,[४३] क्योंकि पूर्वसंचित कर्मों के कारण धार्मिक व्रत-नियमों का यथाविधि पालन करने से भी सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। इसी मिथ्यात्व दोष के कारण इन दृष्टियों के जीवों को अवेद्य-संवेद्य पद कहा गया है, क्योंकि अज्ञानवश जीव अपना आचरण मूढ़वत करता है, जिसके कारण अनेक दुःख उत्पन्न होते हैं।[४४] किन्तु संचित एवं संचायमाण कर्मों का छेदन करने तथा सांसारिक कारणों को जानने पर ही सूक्ष्म तत्त्व की प्राप्ति होती है।[४५] फलतः एक ओर जहाँ संसाराभिमुखता का विच्छेद होता है, वहीं दूसरी ओर अवेद्य-संवेद्य पद भी नष्ट हो जाते हैं और परमानन्द की उपलब्धि होती है।[४६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिरादृष्टि

स्थिरादृष्टि को रत्नप्रभा से उपमित किया गया है। जिस प्रकार रत्न की प्रभा कभी मिटती नहीं, सहजतया प्रकाशमान रहती है, ठीक उसी प्रकार स्थिरादृष्टि में प्राप्त बोधमय प्रकाश स्थिर रहता है। यहाँ साधक की दृष्टि सम्यक् हो जाती है, भ्रांतियाँ मिट जाती हैं, सूक्ष्मबोध अथवा भेदज्ञान हो जाता है, इन्द्रियाँ संयमित हो जाती हैं, धर्म-क्रियाओं में आनेवाली बाधाओं का परिहार हो जाता है तथा परमात्म स्वरूप को पहचानने का प्रयास करने लगता है।[४७] साथ ही आत्मा और पर-पदार्थों की भिन्नता का साधक अनुभव करने लगता है। अब तक पर में स्व की जो बुद्धि थी, वह अचानक आत्मोन्मुख हो जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने साधक की इस आन्तरिक अनुभूति को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा है-मोह मेरा कुछ नहीं है, मैं तो एक मात्र उपयोग चेतना रूप हूँ। यों चिन्तन करनेवाले को सिद्धान्तवेत्ता, ज्ञानी, मोहात्मक ममता से ऊँचा उठा हुआ कहते हैं।[४८] आगे पुनः कहते हैं-निश्चतरूप से मैं दर्शन-ज्ञानमय, सदा अरूपी, एकमात्र शुद्ध आत्मा हूँ, अन्य कुछ भी परमाणुमात्र मेरा नहीं है।[४९]

इस प्रकार दृष्टि में सम्यक्त्व आ जाने पर आस्था स्थिर हो जाती है, विश्वास सुदृढ़ हो जाता है तथा जीव दर्शन प्रत्याहार से युक्त कृत्य, अभ्रान्त, निर्दोष एवं सूक्ष्मबोध वाला हो जाता है।[५०] जिस प्रकार रत्न का प्रकाश कभी मिटता नहीं है उसी प्रकार स्थिरा दृष्टि में प्राप्त बोध नष्ट नहीं होता और साधक का बोध सद्‌ाभ्यास, आत्मानुभूति, सत्‌चिन्तन आदि के द्वारा उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होता जाता है।

कान्तादृष्टि

इस दृष्टि की उपमा तारे की प्रभा से दी गयी है। जिस प्रकार तारे की प्रभा आकाश में स्वाभाविक रूप में होती है, अखण्डित होती है। उसी प्रकार कान्ता की दृष्टि का बोध—उद्योत, अविचल, अखण्डित और प्रगाढ़ रूप में चिन्मय आकाश में सहज रूप में प्रकाशित रहता है। इस दृष्टि में साधक को धारणा नामक योग के संयोग से सुस्थिर अवस्था प्राप्त होती है, परोपकार एवं सद्‌विचारों से उसका हृदय आप्लावित हो जाता है तथा उसके दोष अर्थात् चित्त की विकलता नष्ट हो जाती है।[५१] इन्द्रियों के विषयों के शान्त हो जाने तथा धार्मिक सदाचारों के सम्यक् परिपालन से साधक क्षमाशील स्वभाववाला बन जाता है, वह सभी प्राणियों का प्रिय हो जाता है।[५२] इस प्रकार साधक को शान्त, धीर एवं परमानन्द की अनुभूति होने लगती है, सम्यक्-ज्ञान की प्राप्ति से उसे स्व और पर वस्तु का बोध होने के साथ-साथ उसमें ईर्ष्या, क्रोध आदि दोषों का सर्वथा नाश हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि हम कान्ता के शाब्दिक अर्थ को देखें तो कान्ता का अर्थ ही होता है- लावण्यमयी, प्रियंकारी गृहस्वामिनी। ऐसी सद्नारी पतिव्रता होती है, जिसकी अपनी विशेषता होती है। वह घर, परिवार तथा जगत के सारे कार्य को करते हुए भी एक मात्र अपना चित्त अपने पति से जोड़े रहती है। उसके चिन्तन का एकमात्र केन्द्र उसका पति ही होता है। इसी प्रकार कान्तादृष्टि में पहुँचा हुआ साधक आवश्यक और कर्तव्य की दृष्टि से जहाँ जैसा करना अपेक्षित है, वह सब करता है, परन्तु उसमें आसक्त नहीं होता। उसका मन तो एक मात्र श्रुत-निर्दिष्ट धर्म में ही लीन रहता है। उसके चिन्तन का केन्द्र आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। अत: कहा जा सकता है कि कान्तादृष्टि में साधक की स्थिति अनासक्त कर्मयोगी की होती है। जैसा कि गीता में श्री *कृष्ण* ने कहा है कि अनासक्त होकर कर्म करते जाओ,फल की इच्छा मत करो। आसक्ति का परित्यागकर, सिद्धि-सफलता, असिद्धि-असफलता में समान बनकर योग में स्थित होकर तुम कर्म करो। यह समत्व ही योग है।[५३]

प्रभादृष्टि

इस दृष्टि की उपमा सूर्य के प्रकाश से दी गयी है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से सारा विश्व प्रकाशित होता है तथा उसका प्रकाश अत्यन्त तीव्र, ओजस्वी एवं तेजस्वी होता है, उसी प्रकार प्रभादृष्टि का बोध-प्रकाश भी अत्यन्त तीव्र, ओजस्वी एवं तेजस्वी होता है तथा साधक को समस्त पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। सूर्य की भाँति अत्यन्त सुस्पष्ट दर्शन की प्राप्ति होती है। किसी भी प्रकार का रोग नहीं होता तथा प्रतिपाति नामक गुण का आर्विभावहोता है।[५४]इस अवस्था में साधक को इतना आत्मविश्वास हो जाता है कि वह कषायों में लिप्त होते हुए भी अलिप्त–सा रहता है, रोगादि क्लेशों से पीड़ित होने पर भी विचलित नहीं होता। फलत: उसमें पूर्व में संचित विषमवृत्ति के बदले प्राणियों में समता अथवा असंगानुष्ठान का उदय होता है, इच्छाओं का नाश हो जाता है और साधक सदाचार का पालन करते हुए मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होता है अर्थात् यहीं से मोक्षमार्ग का श्री गणेश होता है।[५५] असंगानुष्ठान चार प्रकार के होते हैं- प्रीति, भक्ति,वचन और असंगानुष्ठान। जिसे *योगदृष्टिसमुच्चय* में प्रशांतवाहिता, विसंभाग-परिक्षय, शैववर्त्म और ध्रुवाध्वा के नाम से बताया गया है।[५६]

अत: यहाँ साधक का प्रातिभज्ञान या अनुभूति प्रसूतज्ञान इतना प्रबल एवं उज्ज्वल हो जाता है कि उसे शास्त्र के प्रयोजन की आवश्यकता नहीं रहती, ज्ञान की साक्षात् उपलब्धि उसे हो जाती है। आत्मसाधना की यह बहुत ही ऊँची स्थिति होती है। ऐसी उत्तम, अविचल, ध्यानावस्था से आत्मा में अपरिसीम सुख का स्रोत फूट पड़ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परादृष्टि

यह अन्तिम दृष्टि है, जिसकी उपमा चन्द्रमा की प्रभा से दी गयी है, जो शीतल, सौम्य तथा शान्त होता है और सबके लिए आनन्द और उल्लासप्रद होता है। जिस प्रकार चन्द्रमा की ज्योत्सना सारे विश्व को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार परादृष्टि में प्राप्त बोध-प्रभा समस्त विश्व को जो ज्ञेयात्म है, उद्योतित करती है। इसमें सभी प्रकार के मन-व्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं और आत्मा केवल आत्मा के रूप को ही देखती है, क्योंकि यह आत्मस्वरूप में निष्प्रयास परिरमण की उच्चतम दशा है, जिसका सुख सर्वथा निर्विकल्प होता है। यह बोध की निर्विकल्प दशा है। इस दशा में बोध और सुख की निर्विकल्पता में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी और ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की त्रिपदी एकमात्र अभेद आत्मस्वरूप में परिणत हो जाती है, जहाँ द्वैतभाव सर्वथा विलय को प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था सासक्तिहीन और दोषरहित होती है। इस अवस्थावाले योगी को सांसारिक वस्तुओं के प्रति न मोह होता है, न आसिक्त और न उसमें किसी प्रकार का दोष ही रह जाता है। इस तरह आचार और अतिचार से वर्जित होने के कारण साधक (योगी) क्षपक श्रेणी अथवा उपशम श्रेणी द्वारा आत्मविकास करता है।[५७] क्षपक श्रेणी से अभिप्राय है जो साधक तीव्र संवेग आदि प्रयत्नों द्वारा राग, द्वेष एवं मोह को क्रमशः निर्मूल करते-करते उत्तरोत्तर समता-शुद्धि की साधना करता है, वह क्षपक श्रेणी में आता है। ऐसे ही जो साधक अपने संक्लेशों को अर्थात् कर्मों का मूलतः क्षय न करके उनका केवल उपशम ही करता है, सर्वथा निर्मूल नहीं कर पाता, वह उपशम श्रेणी में आता है। जिसमें प्रथम श्रेणी का साधक एक ही प्रयत्न में मुक्ति पा जाता है, लेकिन द्वितीय श्रेणी के साधक को मुक्ति के लिए जन्मान्तर लेना पड़ता है।

इस दृष्टि में समस्त कषायों के क्षीण होने के कारण साधक को अनेक लब्धियाँ प्राप्त होती हैं और वह मुमुक्षु जीवों के कल्याणार्थ उपदेश देता है। इस क्रम में योगी निर्वाण पाने की स्थिति में योग-संन्यास नामक योग को प्राप्त करता है,[५८] जिसके अन्तिम समय में शेष चार अघातीय कर्मों को नष्ट करके वहाँ पाँच अक्षरों के उच्चारण मात्र समय में शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है यानी मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य *हरिभद्र* ने गुणस्थान के आधार पर आध्यात्मिक विकास की आठ दृष्टियों का वर्णन किया है। परन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित जान पड़ता है कि गुणस्थान तथा उपर्युक्त आठ दृष्टियों में कोई असमानता नहीं है, क्योंकि प्रथम चार दृष्टियों में प्रथम तीन गुणस्थान, पंचम एवं षष्ठ दृष्टि मे चतुर्थ, पंचम और षष्ठ, सप्तम में सप्तम और अष्टम् गुणस्थान तथा अन्तिम यानी अष्टम् दृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में चतुर्दश गुणस्थान का समावेश हो जाता है।

आचार्य *हरिभद्र* ने अपनी दूसरी पुस्तक *योगबिन्दु* में आध्यात्मिक विकास की पाँच अन्य भूमियों का वर्णन किया है, जो चौदह गुणस्थान एवं उपर्युक्त आठ दृष्टियों का ही संक्षिप्त रूप है। वे पाँच भूमियाँ इस प्रकार हैं[५९]–

१. अध्यात्म २. भावना ३. ध्यान ४. समता और ५. वृत्तिसंक्षय

अध्यात्म- आध्यात्म का अर्थ होता है- आत्मा को आत्मा में अधिष्ठित करके रहना। तात्पर्य है कि जो सदैव अपने में ही बना रहता है, अपने में ही रमण करता रहता है, वह अध्यात्म है। अपनी शक्ति के अनुसार अणुव्रत, महाव्रत आदि को स्वीकार करके मैत्री आदि चार भावनाओं का भली-भाँति चिन्तन-मनन करना ही अध्यात्म है।[६०] औचित्य, वृत्तसमवेतत्त्व, आगमानुसारित्व और मैत्री आदि भावना– ये चार अध्यात्म योग तत्त्वचिन्तन के महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं। इन पर विचार करने से अध्यात्म का वास्तविक रहस्य भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। *योगबिन्दु* में कहा है कि प्राणीजगत के प्रति मैत्री आदि भावनाओं का चिन्तन-मनन और आचरण करने से अध्यात्मयोग पुष्ट होता है।[६१] इसी प्रकार आचार्य *हेमचन्द्र* ने अपने *योगशास्त्र* में लिखा है कि इन भावनाओं के चिन्तन से उत्पन्न रसायन से ध्यान की पुष्टि होती है।[६२]

भावना- *भावतीति भावना,* अर्थात् भाव का अर्थ होता है-विचार अथवा अभिप्राय। आचार्य *शीलांक* ने भाव के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि चित्त का अभिप्राय भाव है।[६३] अत: जिसके द्वारा मन को भावित किया जाए या संस्कारित किया जाए, वह भावना है।[६४] भावना को अनुप्रेक्षा के नाम से भी जाना जाता है। आचार्य *हरिभद्र* ने भावना को ध्यान की पूर्व भूमिका माना है। जब साधक मैत्री आदि चार भावनाओं का मन,वचन और कर्म से चिन्तन करता है तो अशुभ कर्मों की निवृत्ति होती है तथा सद्भावनाओं अथवा समताभाव की वृद्धि होती है।[६५] *सूत्रकृतांग* में कहा गया है कि जिस साधक की आत्मा भावनायोग से शुद्ध हो गयी है, वह साधक जल में नौका के समान है। जैसे नौका तट पर विश्राम करती है, वैसे ही भावना योग से शुद्ध साधक को भी परम-शक्ति प्राप्त होती है।[६६] इस प्रकार भावना कर्म–निरोध में सहायक होती है। साधक के धार्मिक प्रेम, वैराग्य और चारित्र की दृढ़ता की दृष्टि से इनका चिन्तन एवं मनन करना अभीष्ट कहा गया है।[६७] *उमास्वाति* ने भी *तत्त्वार्थसूत्र* में कहा है कि ये भावनाएँ चिन्तन, संवेग और वैराग्य की अभिवृद्धि के लिए हैं।[६८] भावनाएँ बारह प्रकार की मानी गयी हैं, जो निम्नलिखित हैं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. अनित्य भावना २. अशरण भावना ३. एकत्व भावना ४. अन्यत्व भावना ५. संसार भावना ६. लोक भावना ७. अशुचि भावना ८. आस्रव भावना ९. संवर भावना १०. निर्जरा भावना ११. धर्म भावना १२. बोधि-दुर्लभ भावना।

इस प्रकार अध्यात्म विकास के लिए इन भावनाओं का चिन्तन-मनन अत्यन्त आवश्यक है। इससे साधक के वैभाविक संस्कारों का विलय, अध्यात्म-तत्त्व की स्थिरता और आत्मगुणों का उत्कर्ष होता है।

ध्यान- मन को सदा स्थिर रखने और अचंचल बनाने के लिए ध्यान-योग की प्ररूपना की गयी है। *तत्त्वार्थसूत्र* में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त एक ही विषय पर चित्त की एकाग्रता अर्थात् ध्येय विषय में एकाकारवृत्ति का प्रवाहित होना ध्यान है।[६९] इसी प्रकार आचार्य *हरिभद्र* ने कहा है-शुभ प्रतीकों के आलम्बन पर चित्त का स्थिरीकरण रूप ध्यान दीपक की लौ के समान ज्योतिर्मान तथा सूक्ष्म और अन्त:प्रविष्ट चिन्तन में संयुक्त होता है।[७०] परन्तु आचार्य *शीलांक* ने मन, वचन एवं काय के विशिष्ट व्यापार को ही ध्यान कहा है।[७१] पूर्व के अध्याय में ध्यान की विस्तृत चर्चा की गयी है।

समता- अविद्या द्वारा कल्पित इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में की जानेवाली इष्ट-अनिष्ट कल्पना को अविद्या का प्रभाव समझकर उनमें उपेक्षावृत्ति धारण करना समता कहलाता है।[७२] साधक में समता के आ जाने से उसके सूक्ष्म कर्मों का क्षय होने लगता है तथा उसकी आकांक्षाओं, आशाओं के तन्तु टूटने लगते हैं।[७३] समता आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा मानी जाती है, क्योंकि सम्यक्त्वरूपी जलाशय में अवगाहन करनेवाले पुरुषों का राग-द्वेष रूपी मल सहसा नष्ट हो जाता है।[७४]

यद्यपि देखा जाए तो समता और ध्यान एक-दूसरे के सापेक्ष दृष्टिगोचर होते हैं, क्योंकि ध्यान के बिना समता की उपलब्धि नहीं हो सकती और समता के बिना ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है। समभाव की प्राप्ति के बिना ध्यान करना आत्म विडम्बना के अतिरिक्त कुछ नहीं है, क्योंकि समत्व अभाव में ध्यान लगाना सम्भव नहीं है।[७५] समभाव रूपी सूर्य के द्वारा राग-द्वेष और मोह का अन्धकार नष्ट कर देने पर साधक अपनी आत्मा में परमात्मा का स्वरूप देखने लगता है।[७६]

वृत्तिसंक्षय- वृत्तिसंक्षय अध्यात्मयोग का अन्तिम सोपान है। मन एवं शरीर से उत्पन्न चित्तवृत्तियों को जड़ से नष्ट करना वृत्तिसंक्षय कहलाता है।[७७] जिस प्रकार वृक्ष की तना काट देने पर पत्र आदि की उत्पत्ति होने से नहीं रोका जा सकता, वैसे ही संसार रूपी वृक्ष की स्थिति है। जिस प्रकार वृक्ष को समाप्त करने के लिए उसके जड़ को काटना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है उसी प्रकार संसार रूपी वृक्ष को समाप्त करने के लिए उसके मूल का उच्छेद करना आवश्यक है।[७८] वृत्तिसंक्षय से साधक समस्त कर्मों का अवरोध करता हुआ केवलज्ञान प्राप्त कर शैलेशी अवस्था में पहुँचता है, जहाँ सभी प्रकार की बाधाओं से अतीत सदानन्दमयी मोक्षावस्था को प्राप्त करता है।[७९]

उपर्युक्त पाँचों भूमियाँ चौदह गुणस्थान में समाहित हैं। पूर्व सेवा से लेकर समता तक जो धार्मिक अनुष्ठान साधक करते हैं, वे सब धर्म-व्यापार होने के कारण योग के उपाय मात्र हैं।[८०] अध्यात्म, भावना, अपुनर्बन्धक एवं सम्यक्-दृष्टि आदि व्यवहार नय से तात्त्विक हैं और देशविरत एवं सर्वविरत निश्चय नय से तात्त्विक हैं। अप्रमत्त, सर्वविरत आदि गुणस्थानों में ध्यान तथा समता उत्तरोत्तर तात्त्विक रूप से होती हैं तथा वृत्तिसंक्षय तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में हुआ माना जाता है।[८१]

इस प्रकार आध्यात्मिक विकास की भूमियों में मुख्यत: चौदह गुणस्थान ही प्रमुख हैं, जिन्हें विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। आचार्य *हरिभद्र* द्वारा निरूपित आध्यात्मिक विकास की आठ तथा पाँच भूमियों का समावेश चौदह गुणस्थान में हो जाता है। चौथे से बारहवें गुणस्थान तक सम्प्रज्ञात योग और तेरहवें से चौदहवें गुणस्थान में असम्प्रज्ञात योग की अवस्था होती है।

बौद्ध परम्परा में आध्यात्मिक विकास

जैन परम्परा की भाँति बौद्ध परम्परा में भी आध्यात्मिक विकास की भूमियों की चर्चा मिलती है। साधक जितना अधिक आध्यात्मिक विकास की सीमा को स्पर्श करता है, उतना ही अधिक निर्वाण की भूमिका के समीप होता है। आध्यात्मिक विकास की प्राप्ति के क्रम में वह निरंतर बुद्ध द्वारा बताए गये मार्ग का अनुसरण करता रहता है और अन्त में निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। जैन परम्परा में आध्यात्मिक विकास की १४ भूमियाँ स्वीकार की गयी हैं, लेकिन आध्यात्मिक विकास को लेकर बौद्ध परम्परा में मत वैभिन्न्य देखने को मिलता है। किसी ने चार भूमियों को स्वीकार किया है तो किसी ने दस। हीनयान सम्प्रदाय जो वैयक्तिक निर्वाण अथवा अर्हत् पद की प्राप्ति पर बल देता है, ने चार भूमियों को ही मान्यता दी है; वही महायान सम्प्रदाय जो बुद्धत्व की प्राप्ति के द्वारा लोकमंगल की साधना पर बल देता है, ने आध्यात्मिक विकास की दस भूमियों को किया है।

यद्यपि आध्यात्मिक विकास के साधन के रूप में श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा को माना गया है, जो आध्यात्मिक विकास की पाँच इन्द्रियाँ या जीवनी शक्तियाँ कहलाती हैं। *मिलिन्दपञ्ह* में कहा गया है कि चित्त के सम्प्रसाद का नाम ही श्रद्धा है।[८२]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रद्धा में प्रतिष्ठित होकर साधक वीर्यारम्भ करता है। श्रद्धा से ही वीर्य की उत्पत्ति होती है। वीर्यारम्भ करनेवाले की स्मृति ठहरती है। जिसकी स्मृति ठहरती है, उसी का चित्त समाधिमग्न होता है और चित्त की समाधि से ही मनुष्य प्रज्ञा को प्राप्त करता है। इस प्रकार श्रद्धा की अन्तिम परिणति प्रज्ञा होती है।

हीनयान सम्प्रदाय में सम्यक्–दृष्टि सम्पन्न निर्वाण मार्ग पर आरूढ़ साधक अर्हत् अवस्था (सर्वोच्च पद) को प्राप्त करने तक निम्न चार भूमियों की साधना करता है-

१. स्रोतापन्न भूमि, २. सकृदागामी भूमि, ३. अनागामी भूमि, ४. अर्हत् भूमि।

स्रोतापन्नभूमि

दीघनिकाय में कहा गया है कि इस भूमि में साधक तीन संयोजनों[८३] के क्षय से फिर न पतित होनेवाला, नियत सम्बोधी की ओर जानेवाला स्रोतापन्न कहलाता है।[८४] पं. बलदेव उपाध्याय ने "स्रोतापन्न" शब्द का अर्थ 'धारा' में पड़नेवाला किया है। जब साधक का चित्त प्रपञ्च से एकदम हटकर निर्वाण के मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है, जहाँ से गिरने की संभावना तनिक भी नहीं रहती तब उसे स्रोतापन्न कहते हैं। स्रोतापन्नभूमि की प्रथम अवस्था को गोत्रभू कहा जाता है।[८५] इसी प्रकार डॉ० सागरमल जैन ने स्रोतापन्न भूमि को स्पष्ट करते हुए कहा है-साधक जब बुद्ध कथित मार्ग को भली-भाँति जानकर शास्त्र का अच्छी तरह मनन-चिन्तन करते हुए तीन संयोजनो का क्षय कर देता है, तब सत्काय–दृष्टि अर्थात् शरीर को आत्मा मानकर उसके प्रति ममत्व या मेरापन का भाव रखता है, विचिकित्सा अर्थात् सन्देहात्मकता तथा शीलव्रत परामर्श अर्थात् व्रतादि में आसक्ति आदि अवस्थाओं को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि जब साधक दार्शनिक मिथ्यादृष्टिकोण (सत्काय दृष्टिकोण) एवं कर्मकाण्डात्मक मिथ्यादृष्टिकोण (शीलव्रत परामर्श) का त्याग कर सभी प्रकार के संशयों (विचिकित्सा) की अवस्था को पार कर जाता है, तब इस स्रोतापन्नभूमि पर प्रतिष्ठित होता है।[८६] इस अवस्था पर प्रतिष्ठित साधक विचार एवं आचार दोनों से शुद्ध होता है। जो भी साधक इस स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त कर लेता है वह अधिक से अधिक सात जन्मों में निर्वाण लाभ कर लेता है। इस भूमि में दार्शनिक एवं कर्मकाण्डात्मक मिथ्यादृष्टिकोणों एवं संदेहशीलता के समाप्त हो जाने के कारण इस भूमि से पतन की संभावना नहीं रहती है और साधक निर्वाण की दिशा में अभिमुख हो आध्यात्मिक दिशा में प्रगति करता है। स्रोतापन्नभूमि के साधक बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति, शील एवं समाधि आदि गुणों से युक्त होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकृदागामीभूमि

सकृदागामी को परिभाषित करते हुए *दीघनिकाय* में कहा गया है तीनों संयोजनों के क्षीण होने पर; राग, द्वेष, मोह के निर्बल पड़ने पर साधक सकृदागामी कहलाता है।[८७] आनेवाला सकृदागामी साधक संसार में एक ही बार आता है। पं० बलदेव उपाध्याय सकृदागामी का अर्थ बताते हुए कहते हैं कि स्रोतापन्न भिक्षु कामराग (इन्द्रिय लिप्सा) तथा प्रतिध (दूसरे के प्रति अनिष्ट करने की भावना) नामक दो बन्धनों को दुर्बल मात्र बनाकर मुक्तिमार्ग में आगे बढ़ता है, किन्तु इस भूमि में साधक द्वारा क्लेशों का नाश प्रधान कार्य होता है।[८८] स्रोतापन्नभूमि और सकृदागामीभूमि में सामंजस्य स्थापित करते हुए भगवान् बुद्ध इस बात पर बल देते हैं कि साधक को अष्टांगिक मार्ग का आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि ऐसा नहीं करने पर वह प्रथम भूमि जो कि आध्यात्मिक विकास की पहली सीढ़ी है उस पर ही आरूढ़ नहीं हो पायेगा।[८९]

अनागामीभूमि

अनागामी अर्थात् पुन: जन्म न लेनेवाला। *दीघनिकाय* में कहा गया है कि पाँच अवरभागीय संयोजनों[९०] के क्षय से देवता हो देवलोक से न लौटनेवाला (जीव) अनागामी कहलाता है। [९१]तात्पर्य है कि अनागामीभूमि में साधक स्रोतापन्नभूमि और सकृदागामीभूमि दोनो बन्धनों को काट देने पर मित्र अनागामी बन जाता है। वह न तो संसार में जन्म लेता है और न किसी दिव्यलोक में।[९२] डॉ० सागरमल जैन के अनुसार— इस भूमि में साधक सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा और शीलव्रत-परामर्श आदि तीन संयोजनों तथा सकृदागामी भूमि के कामराग और प्रतिध आदि दो संयोजनों को, यानी इन पाँच संयोजनों को नष्ट कर देता है तब वह अनागामीभूमि को प्राप्त करता है। साधनात्मक दृष्टि से साधक का कार्य इस भूमि में यह होता है कि वह शेष पाँच उद्भागीय संयोजन रूप राग, अरूप राग, मान, औद्धत्य तथा अविद्या को नष्ट करे। जब साधक इन पाँचों संयोजनों का भी नाश कर देता है तब वह विकास की अग्रिम भूमिका अर्हतावस्था को प्राप्त करता है। इस अनागामी भूमि को प्राप्त साधक यदि विकास की दिशा में आगे नहीं बढ़ पाता है तो मृत्यु को प्राप्त होने पर ब्रह्मलोक में जन्म लेकर वहीं से सीधे निर्वाण को प्राप्त करता है। उसे पुन: इस लोक में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रहती।[९३]

अर्हतावस्था

व्यक्तिगत निर्वाण पद की प्राप्ति अर्हत् का प्रधान ध्येय है। इस भूमि में साधक उपर्युक्त दसो संयोजनों[९४] या बन्धनों को तोड़कर अर्हतावस्था को प्राप्त कर लेता है। समस्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्धनों या संयोजनों के नष्ट हो जाने के कारण उसके समस्त क्लेशों या दु:खों का प्रहनन हो जाता है और वह कृतार्थ हो जाता है अर्थात् उसे कुछ भी करणीय नहीं रहता, फलत: वह संघ की सेवा के लिए क्रियाएँ करता है।[९५]

उपर्युक्त चार भूमियों के आतिरिक्त *मिलिन्दपञ्ह* में चित्त की अवस्थाओं का वर्णन करते हुए चित्त की सात भूमियों का वर्णन किया गया है। जिनमें चार तो उपर्युक्त ही है। शेष तीन इस प्रकार है- संक्लेशचित्तभूमि, प्रत्येकबुद्धभूमि और सम्यक्सम्बुद्ध भूमि।[९६]

संक्लेशचित्तभूमि

यह भूमि अज्ञान की भूमि है, क्योंकि इस भूमि में साधक राग, द्वेष, मोह एवं क्लेश से युक्त होता है। राग, द्वेष, मोह और क्लेश व्यक्ति को बन्धन में डालने में प्रमुख कारण बनते हैं, क्योंकि इनके कारण ही व्यक्ति अपने स्व-स्वरूप को भूल जाता है। वह सांसारिक विषय-वासनाओं को ही अपना सुख एवं वैभव मानता है। इस प्रकार वह अपनी तृष्णा को बढ़ाता रहता है। तृष्णा अज्ञानतावश ही होती है और व्यक्ति जितना अधिक इसमें रमता जाता है वह सांसारिक बन्धनों में बँधता जाता है। यही कारण है कि भगवान् बुद्ध व्यक्ति से संक्लेशभूमि रूपी अज्ञान को बुद्धत्व के प्रकाश से नष्ट करने को कहते हैं।

प्रत्येकबुद्धभूमि

स्फूर्ति से जिसके सब तत्त्व परिस्फुरित हो जाते हैं, जिसे तत्त्वशिक्षा के लिए किसी भी गुरु के परतन्त्र नहीं होना पड़ता, वही प्रत्येकबुद्ध नाम से अभिहित किया जाता हैं।[९७] इस भूमि में साधक स्वयं अपना स्वामी होता है। प्रत्येकबुद्ध का पद अर्हत् और बोधिसत्व के बीच का होता है।[९८] यह अवस्था सम्यक् सम्बोधि-परमज्ञान से निम्न कोटि की मानी जाती है।

सम्यक्सम्बुद्धभूमि

सम्यक्-सम्बुद्ध का अर्थ होता है -परमज्ञानी। *दीघनिकाय* में कहा गया है कि इस भूमि में साधक अर्हत् सम्यक्–सम्बुद्ध (परमज्ञानी), विद्या आचरण से युक्त, सुगत, लोकविद्, पुरुषों के दमन करने में अनुपम चाबुक-सवार, देवताओं और मनुष्यों के उपदेशक बुद्ध (ज्ञानी) भगवान् हैं।[९९] यह सर्वज्ञता की स्थिति होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दस भूमियाँ

महायान सम्प्रदाय ने बुद्धत्व या निर्वाण की प्राप्ति के लिए दस भूमियों को स्वीकार किया है। एक भूमि को पार कर लेने पर बोधिसत्व अगली भूमि में पदार्पण करता है और धीरे-धीरे आध्यात्मिक विकास प्राप्त कर बुद्धत्व पद पर आरूढ़ होता है। यद्यपि बौद्ध ग्रन्थों में कहीं-कहीं दस से अधिक भूमियों की संख्या बतायी गयी है। यथा-*लंकावतारसूत्र* में धर्ममेघा और तथागत भूमियों को अलग-अलग स्वीकार किया गया है।[१००]

दसभूमिकसूत्रम्[१०१] के अनुसार आध्यात्मिक विकास की दस भूमियाँ निम्नलिखित हैं-

१. प्रमुदिता	२. विमला
३. प्रभाकरी	४. अर्चिष्मती
५. सुदुर्जया	६. अभिमुखी
७. दूरंगमा	८. अचला
९. साधुमति	१०. धर्ममेघा।

प्रमुदिता

प्रकृष्ट-मोद यानी प्रकृष्ट आनन्द की उपलब्धि होने के कारण ही इस भूमि को प्रमुदिता कहा जाता है। इस भूमि में साधक अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है। फलत: वह निम्न पाँच प्रकार के भयों से मुक्त हो जाता है- १. जीविका २. निन्दा ३. मृत्यु ४. दुर्गति तथा ५. परिषद्।[१०२] दूसरी भाषा में साधक इस भूमि में शील-पारिमिता का अभ्यास करता है। वह अपने शील को विशुद्ध करता है, सूक्ष्म अपराध भी नहीं करता। फलत: साधक के हृदय में पहले-पहल सम्बोधि के प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। इसी को बोधिचित्त का उत्पाद कहते हैं। इस प्रकार साधक पृथक्जन (साधारण जन) की कोटि से निकल कर तथागत के कुटुम्ब में प्रवेश करता है। बुद्ध और बोधिसत्वों के गौरवपूर्ण कार्यों को स्मरण करके उसका हृदय आनन्द से प्रफुल्लित हो जाता है। फलत: साधक के हृदय में महाकरुणा का उदय होता है और वह दस महाप्रणिधान व्रत के सम्पादन का संकल्प करता है। जो इस प्रकार है-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. प्रत्येक देश में और सब तरह से बुद्ध की पूजा करना।[१०३]

२. सभी बुद्धों के द्वारा कहे गये सद्धर्मों का रक्षण करना।[१०४]

३. तुषित भवन में अवस्थान से महापरिनिर्वाणपर्यन्त बुद्ध ने जिन कार्यों का अनुष्ठान किया उनका अनुष्ठान कर निर्वाणाभिमुख होना।[१०५]

४. सभी भूमियों का परिशोधन करना,जिससे चित्तोत्पाद हो सके।[१०६]

५. सभी प्राणियों का आध्यात्मिक-परिपाक सम्पादन करना,जिससे बुद्धों के द्वारा निर्दिष्ट धर्म में प्रवेश लाभ कर सके और सर्वज्ञ-ज्ञान में प्रतिष्ठान प्राप्त करे।[१०७]

६. सभी लोक धातुओं के प्रकार भेद की अवगति कराना।[१०८]

७. सभी बुद्धक्षेत्रों का परिशोधन करना।[१०९]

८. महायान में प्रवेश करना।[११०]

९. सभी बोधिसत्वचर्या के अनुरूप अनुष्ठान करना एवं सभी चेष्टाएँ अव्यर्थ करना।[१११]

१०. अभिसम्बोधिमहाज्ञान एवं अभिज्ञा निष्पादन करना।[११२]

विमला

साधक का किसी तरह के मल से सम्बन्ध का न होना विमला कहलाता है। इस भूमि में अवस्थित भावी बोधिसत्व के सभी नीति एवं शील की अभ्युन्नति होती है। वे दस प्रकार के कुशल कर्मपथ के द्वारा सम्पन्न होते हैं। वे दश कुशल कर्मपथ[११३] निम्नलिखित हैं- १. प्राणातिपात से प्रतिविरति, २. चौर्य से प्रतिविरति, ३. काम एवं मिथ्याचार से प्रतिविरति, ४. अमृतवचन से प्रतिविरति, ५. पिशुनवचन से प्रतिविरति, ६. कर्कशवचन से प्रतिविरति, ७. असम्बद्ध अथवा निरर्थक प्रलाप से प्रतिविरति, ८. लोभ से प्रतिविरति, ९. ईर्ष्या त्याग और १०. कुदृष्टि त्याग। इन दस कर्मपथ में से क्रमशः प्रथम तीन शरीर, चार वचन तथा तीन मन से सम्बन्धित हैं। साधक इन दशविध कुशल कर्मपथ का विशेष रूप से अनुसरण करते हुए अपने चित्ताशय की ओर भी क्रमिक अभ्युन्नति सम्पादित करता है।[११४] इस भूमि में अवस्थान करनेवाले साधक (बोधिसत्व) ऐसा अनुभव करते हैं कि उनकी दृष्टि में आभासित असंख्य बुद्ध महात्याग एवं शील

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पारमिता की पवित्रता लाभ करने में समर्थ होते हैं। साथ ही भावीबोधिसत्व के प्रियवादिता एवं शीलपारमिता रूप गुण प्रधान रूप से प्रादुर्भूत होते हैं।[११५]

प्रभाकरी

साधक आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर होते हुए तृतीय भूमि में प्रवेश करता है, जिसे प्रभाकरी के नाम से अभिहित किया जाता है। इस भूमि में अवस्थान किया हुआ साधक इन्द्र की भाँति हो जाता है तथा दशविध चित्ताशय में दश प्रकार के मनस्कार से युक्त होकर विचरण करता है, तब उसकी परिगणना निम्न रूप से की जाती है- १. शुद्ध चित्ताशय में मनस्कार, २. स्थिर चित्ताशय में मनस्कार, ३. निर्विच्चित्ताशय में मनस्कार, ४. अविराग चित्ताशय में मनस्कार, ५. दृढ़ चित्ताशय में मनस्कार, ६. उतप्तचित्ताशय में मनस्कार ७. अविनिवर्त चित्ताशय में मनस्कार ८. अतिरिक्त चित्ताशय में मनस्कार।[११६] साथ ही वह चिन्तन करता है कि वस्तु की सभी उत्पन्नावस्थाएँ अनित्य, दु:खरूप, उत्पाद-विनाशशील हैं, अत: वह सभी दु:खी प्राणियों को दश प्रकार के चित्ताशय द्वारा सम्पन्न करता है तब उसकी परिगणना इस प्रकार की जाती है- १. जो अनाथ का परित्राण करने में आश्रयरूप है २. जो दरिद्र का परित्राण करने में आश्रयरूप है ३. जो राग, द्वेष एवं मोह रूप अग्नि के द्वारा समप्रदीप्त है तथा ४. जो संसार रूपी कारागार में आबद्ध है।[११७] साधक इस भूमि में निरन्तर उन्हीं उपायों का चिन्तन करता है जिनके द्वारा पूर्वोक्त आर्त प्राणियों को निर्वाण में प्रतिष्ठित किया जा सके। इस सन्दर्भ में दीर्घकालीन चिन्तन के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि भगवान् बुद्ध द्वारा बताया गया मार्ग तथा उपदिष्ट धर्म ही सत्य है, अत: उनका अनुसरण करना चाहिए। अत: वह पूर्व में कहे गये धर्म [११८] के ध्यान[११९] में आविष्ट हो जाता है। फलत: उसे चार प्रकार की निराकार सम्पत्तियों की उपलब्धि होती है जिससे साधक का मन मैत्री, करुणा, मोद और निर्ममत्व से पूर्ण हो जाता है।[१२०]

अर्चिष्मती

प्रभाकरी भूमि का अतिक्रमण कर साधक इस भूमि में प्रवेश करता है। इस भूमि में साधक का आत्मा, सत्व, जीव, पोष, पुद्गल, स्कन्ध धातु आयतन के सम्बन्ध में जो अभिनिवेश रहता है वह विनष्ट हो जाता है। इस स्थिति में साधक का आध्यात्मिक संसार अधिकांशत: समृद्ध रहता है। वह ज्ञान का परिपाक करा देनेवाले दश प्रकार के धर्म द्वारा सम्पन्न होता है। दशविध धर्म निम्नलिखित हैं- १. अप्रत्य-दावर्त्याशय २. त्रिरत्नाभेद्यप्रसादनिष्ठागमन ३. संस्कारदोयण्ययविभावन ४. सभावानुपत्याशयता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. लोकप्रवृत्तित्याशयता ६. कर्मभवोपत्याशयता ७. संसार निर्वाणाशयता ८.सत्यक्षेत्रकर्माशयता ९. पूर्वान्तापरान्तकर्माशयता तथा १०. अभावक्षय।[१२१] साथ ही भाविबोधिसत्व सैंतीस प्रकार के धर्म का परिपालन करता है जो बोधिलाभ का अनुगुण माना जाता है। अनुगुण इस प्रकार हैं- १. स्मृति सहित चार प्रकार के व्यापार[१२२]– काम, वेदना, चित्त और धर्म। २. चार प्रकार के उचित प्रयत्न[१२३]– (क) जो विद्यमान न हो ऐसे अकुशल धर्म को उत्पन्न न होने देना, (ख) जो अकुशल धर्म समूह विद्यमान हैं, उनका परिहास करना, (ग) जो कुशल धर्म उत्पन्न नहीं हुए हैं, उनका उत्पादन करना तथा (घ) जो कुशल धर्म विद्यमान हैं, उनका पूर्णत: सम्पादन करना। ३. चार प्रकार के ऋद्धिपाद[१२४]-छन्द, समाधि प्रहाण, संस्कार, समन्वागत। ४. चार नीतिविषयक सामर्थ्य [१२५]-श्रद्धा, वीर्य, स्मृतिसमाधि और प्रज्ञा ५. पाँच प्रकार के बल[१२६]-अद्धाबल, वीर्यबल, स्मृतिबल, समाधिबल और प्रज्ञाबल ६. सात प्रकार के सम्बोधि अंग[१२७] - स्मृति, धर्मविजय, वीर्य, प्रीति, प्रस्रब्धि, समाधि तथा उपेक्षा। ७. अष्टांगिक मार्ग।[१२८]

सुदुर्जया

सुदुर्जया का अभिप्राय है जिस पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। अर्चिष्मती नामक भूमि का अतिक्रमण कर साधक इस भूमि में प्रवेश करता है तथा चार आर्य सत्य का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है। फलत: उसे विभिन्न प्रकार के सत्यों की उपलब्धि होती है। वे सत्य हैं– १. संवृत्ति सत्य २. परमार्थ सत्य ३. लक्षण सत्य ४. विभाग सत्य ५. निस्तीर्ण सत्य ६. वस्तु सत्य ७. प्रभव सत्य ८. क्षयानुत्पाद सत्य ९. मार्गज्ञानावतार सत्य तथा १० तथागत ज्ञान सत्य प्रभृति।[१२९] जिससे उसके अन्दर सभी प्राणियों के लिए करुणा तथा महामैत्री का आलोक प्रादुर्भूत होता है।[१३०] इस भूमि में अवस्थान करनेवाला भाविबोधिसत्व अपने मन और प्रज्ञा में विशेष गुण का आधान करता है। शास्त्र एवं साहित्य पर अधिकार कर दान, प्रियवादिता, धर्मोपदेश, अतिप्राकृत एवं अलौकिक-शक्ति के सामर्थ्य से जनसाधारण को वह इस संसार में कल्याण का मार्ग निर्दिष्ट करता है।

अभिमुखी

दश प्रकार की धर्म समता[१३१] का परिचिन्तन करने से साधक को इस भूमि की प्राप्ति होती है। साधक जगत के समस्त पदार्थों को शून्य जानने लगता है, उसके लिए संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। तात्पर्य है कि सभी धर्म कारण, लक्षण एवं उत्पत्ति से शून्य हैं।[१३२] आत्मा में अभिनिवेश न रहने से सभी जागतिक क्रिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कलाप एवं व्यवहार की निवृत्ति हो जाती है, इस सत्य का ज्ञान हो जाता है।[१३३] जब भाविबोधिसत्व को धर्मसमूह का यथार्थ स्वरूप उपलब्ध हो जाता है तब वह उन सबों की उत्पत्ति एवं विनाश के सम्बन्ध में अधिकतर मन का प्रणिधान करता है। उसका मन मैत्री एवं करुणा से परिपूर्ण हो जाता है। इस भूमि में अन्य पारमिताओं की अपेक्षा प्रज्ञा-पारमिता की प्रधानता रहती है तथा साधक प्रज्ञा-पारमिता का ही विशेष लाभ करता है।

दूरङ्गमा

अभिमुखी भूमि का अतिक्रमण करके साधक इस भूमि में प्रवेश करता है। इस अवस्था में साधक की साधना पूर्ण हो जाती है। वह निर्वाण प्राप्ति के सर्वथा योग्य हो जाता है, किन्तु निर्वाण की प्राप्ति से अभी दूर रहता है। साधक का मन आदर्श-विशुद्धि का लाभ करता है। साथ ही वह अनुभव करता है कि सभी वस्तुएँ निरात्म और सत्ताशून्य हैं, जीव या पुद्गल कोई भी वस्तु नहीं है। लेकिन वह चार प्रकार के ब्रह्मविहार के कर्म का परित्याग नहीं करता। वे चार कर्म निम्न हैं- १. मैत्री, २. करुणा, ३. मुदिता और ४. उपेक्षा।[१३४] इस भूमि की विशेषता यह है कि इसमें साधक दश प्रकार की पारमिता[१३५] का अनुष्ठान, चार प्रकार की संग्रह-वस्तु[१३६] का निष्पादन, चार प्रकार के अधिष्ठानों की परिपूर्ति[१३७] तथा सैंतीस प्रकार के बोधिलाभ[१३८]का निष्पादन करता है। इसमें अन्य पारमिताओं की अपेक्षा उपाय कौशल पारमिता की प्रधानता रहती है।

अचला

अचला अर्थात् इस भूमि में आरूढ़ होने के पश्चात् साधक की परावृत्ति होने की संभावना नहीं रहती है। विचार एवं विषय ही चित्त की चंचलता के कारण होते हैं, अत: इस भूमि में उनका सर्वथा अभाव होता है। इससे पूर्व की सात भूमियों में साधक प्रयास के द्वारा प्रवेश करता था, लेकिन इस भूमि में उसका सभी कार्य स्वत: ही सम्पन्न हो जाता है। इस भूमि का लाभ करने से पूर्व भाविबोधिसत्व का ही शरीर रहता है[१३९] और उसी के द्वारा वह बोधिचर्या का अनुष्ठान करता है, लेकिन इस भूमि में वह शरीर को असंख्य कर लेता है जिसके फलस्वरूप वह बोधिसत्वचर्या नामक बल के लाभ करने में समर्थ होता है। इस भूमि में भाविबोधिसत्व के सभी प्रकार की आध्यात्मिक-समुन्नति की सीमा नहीं रहती। सर्वज्ञता का आविर्भाव होने के कारण वह सभी लोगों को जानने में समर्थ हो जाता है। इस भूमि का लाभ करने पर भी बोधिसत्व निर्वाण में प्रवेश नहीं कर पाता, क्योंकि निर्वाण में प्रवेश करने पर सभी प्राणियों के उद्धार करने का जो बोधिसत्वों का प्रयास होता है, वह समाप्त हो जाता है। इस भूमि की विशेषता यह है कि इसमें दश पारिमिताओं में प्रणिधान पारमिता की प्रधानता रहती है।[१४०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधुमती

जो बोधिसत्व (साधक) इस भूमि में अवस्थान करता है वह कुशल-अकुशल आदि की निष्पत्ति प्रकार को अवितथरूप से अवगत करने में समर्थ होता है।[१४१] तत्पश्चात् साधक मनुष्यों के उद्धार के लिए नये-नये उपायों का आलम्बन करता है, धर्म का उपदेश देता है और बोधिसत्व के चार प्रकार के विषय पर्यालोचन का अभ्यास करता है। वे चार प्रकार के पर्यालोचन (प्रतिसंवित्) इस प्रकार हैं- १. धर्म प्रतिसंविद् २. अर्थ प्रतिसंविद् ३. निरुक्त प्रतिसंविद् तथा ४. प्रतिमान-प्रतिसंविद्।[१४२]

धर्ममेघा

आध्यात्मिक विकास की यह अन्तिम भूमि है। चूँकि बोधिसत्व अज्ञान के द्वारा उत्पादित क्लेशरूप अग्नि को धर्ममेघा रूपी वर्षा के द्वारा निर्वाचित करते हैं। इसलिए इस भूमि का नाम धर्ममेघा कहलाता है। बोधिसत्व भूमियों का यह पर्यवसान है। इसमें दश प्रकार की समाधियाँ महत्त्वपूर्ण होती हैं। इस भूमि में ज्ञान पारमिता अधिक प्रधानता रखती है। अन्त में पूर्वोक्त बोधिसत्व को सर्वज्ञज्ञानविशेषाभिषेक नामक समाधि आविर्भूत होती है। बोधिसत्व जब इस समाधि का लाभ करता है तब वह महारत्नराजपद्म नामक आसन पर उपविष्टावस्था में दिखाई पड़ता है।[१४३]

तुलना

जैन एवं बौद्ध दोनों ने ही आध्यात्मिक विकास के सोपान को महत्त्व दिया है। दोनों परम्पराओं में वर्णित आध्यात्मिक सोपानों में जो समानताएँ एवं विभिन्नताएँ हैं, वे निम्नलिखित हैं-

१. जैन परम्परा में आत्मविकास के सोपानों को जीवसमास या गुणस्थान नाम से अभिहित किया गया है तो बौद्ध परम्परा में भूमि के नाम से विभूषित किया गया है।

२. जैन परम्परा में गुणस्थानों की संख्या १४ (चौदह) है, तो बौद्ध परम्परा में हीनयानियों के मत में भूमियों की संख्या ४ तथा महायानी विचारकों के मत में १० (दश) हैं।

३. लेकिन दोनों ही परम्पराओं में आध्यात्मिक विकास के सोपानों की संख्या में अन्तर होने का यह मतलब नहीं है कि दोनों में विभेद है, बल्कि दोनों ही परम्पराओं में मान्य सोपान एक-दूसरे में समाहित हो जाते हैं, यथा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(क) जैन परम्परा में चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक की तुलना बौद्ध परम्परा में स्रोतापन्नभूमि से की जा सकती है, क्योंकि दोनों में यह माना गया है कि इन अवस्थाओं में कामधातु तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु रूपधातु शेष रह जाते हैं।

(ख) जैन परम्परा के आठवें गुणस्थान से बौद्ध परम्परा के सकृदागामीभूमि की तुलना की जा सकती है, क्योंकि दोनों ही यह मानते हैं कि साधक बन्धन के मूल कारण राग-द्वेष-मोह का प्रहाण करता हुआ क्रमशः क्षीण-मोह-गुणस्थान और अनागामी (बौद्ध परम्परा) भूमि में प्रविष्ट करता है।

(ग) आठवें से बारहवें गुणस्थान की तुलना बौद्ध-परम्परा के अनागामीभूमि से की जा सकती है। जिसमें यह कहा गया है कि साधक अर्हत् पद की प्राप्ति हेतु अग्रसर होता है।

(घ) जैन परम्परा के सयोगी केवली गुणस्थान तथा बौद्ध परम्परा की अर्हतावस्था दोनों ही समान हैं। दोनों विचारधाराएँ इस भूमि के विषय में अत्यन्त ही निकट हैं।

इसी प्रकार महायान परम्परा में वर्णित आध्यात्मिक विकास की भूमियों का भी समावेश जैन परम्परा के १४ (चौदह) गुणस्थानों में हो जाता है। जो इस प्रकार हैं-

(क) जैन परम्परा का पंचम एवं षष्ठ विरताविरत एवं सर्वविरति सम्यक्-दृष्टि और बौद्ध-परम्परा की प्रमुदिताभूमि की तुलना की जा सकती हैं। जिन्हें पूर्ण शील विशुद्धि की अवस्था कहा गया है।

(ख) जैन परम्परा का अप्रमतसंयत्त गुणस्थान और बौद्ध परम्परा की विमला और प्रभाकरी भूमि एक समान है। जिसमें अनैतिक आचरण से पूर्णतया मुक्त होने तथा ज्ञानरूपी प्रकाश लोक में फैलाने पर बल दिया गया है।

(ग) अपूर्वकरण आठवाँ गुणस्थान तथा अर्चिष्मतीभूमि दोनों ही क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण के दाह की अवस्था है।

(घ) आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक तथा सुदुर्जयाभूमि दोनों को ही साधना के विकास की अत्यन्त ही दुष्कर अवस्था माना गया है।

(ङ) जिस प्रकार बारहवें गुणस्थान की प्राप्ति के अन्तिम चरण में साधक मोक्ष प्रप्ति के योग्य हो जाता है, उसी प्रकार दूरंगमाभूमि में साधक निर्वाण प्राप्ति के योग्य हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(च) सयोगी केवली नामक तेरहवें गुणस्थान के समकक्ष अचला, साधुमती तथा धर्ममेघा नामक भूमियाँ हैं।

४. गुणस्थानों तथा भूमियों दोनों की इस बात से सहमति है कि साधक को सर्वप्रथम सम्यक्-दृष्टि का लाभ जरूरी है, तब जाकर विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है। तत्पश्चात् क्लेश या कषायों का निवारण होता है। इतना होने पर ही सर्वोत्तम ज्ञान केवल ज्ञान या सर्वज्ञत्व का लाभ होता है।

५. क्लेश निवारण की प्रक्रिया में उपशम और क्षय में दोनों सर्वसम्मत हैं। दोनों परम्पराओं का यह मानना है कि उपशम की प्रक्रिया में उपशान्त दोष जब अपना कार्य करना शुरु करता है तब पतन होता है और ऐसा पतन क्षय की प्रक्रिया में सम्भव नहीं होता।

अत: दोनों परम्पराओं की यह मान्यता तो स्पष्ट है कि बिना सम्यक्-दृष्टि के योग–साधना के आध्यात्मिक विकास में साधक का प्रवेश असम्भव है।

सन्दर्भ

१. मोक्खपाहुड ४ तथा,
बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरांतर: ।
चित्तदोषात्मविभ्रान्ति: परमात्माऽतिनिर्मल: ।। समाधितंत्र-५।
२. आचारांग १/३-५
३. मोक्खपाहुड ५,९
४. वही ५,६,१२
५. जैन धर्म-दर्शन, पृ०-४९३
६. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन,पृ०–४४९
७. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा, १२११-१२१४
८. स्थानांग–१४, कर्मग्रन्थ, भाग २/२
९. अन्ये तु मिथ्यादर्शनादिभावपरिणतो बाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादिपरिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादिपरिणतस्तु परमात्मा। तत्राद्यगुणस्थानत्रये बाह्यात्मा, तत: परं क्षीणमोहगुणस्थानं यावदन्तरात्मा। तत: परन्तु परमात्मेति। अध्यात्ममतपरीक्षा, १२५
देखिए-आध्यात्मिक विकास–क्रम, पं० सुखलाल संघवी, पृ०– ५५
१०. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन,पृ० ४५५
११. गोम्मटसार, जीवकाण्ड–१७
१२. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ०,४५।
१३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), २

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों को तुलनात्मक अध्ययन, पृ०- ४६३
१५. वही, पृ०-४६६
१६. जैन धर्म-दर्शन, पृ०-४९८
१७. वही, पृ०- ४९
१८. गोम्मटसार, गाथा ६१
१९. जैन धर्म-दर्शन, पृ०- ५०
२०. ज्ञानसार त्यागाष्टक (उद्धृत-दर्शन एवं चिन्तन, पं० सुखलाल संघवी), पृ०-२७५
२१. सच्छ्रद्धासंगतो बोधो दृष्टिरित्यभिधीयते ।
असत्प्रवृत्तिव्याघातात् सत्प्रवृत्तिपदावहः । योगदृष्टिसमुच्चय, १७
२२. समेघामेघरात्र्यादौ सग्रहाद्यर्भकादिवत् ।
ओधदृष्टिरिह ज्ञेया मिथ्यादृष्टीतराश्रया ॥ वही, १४
२३. तृणगोमयकाष्ठाग्निकणदीप्रप्रभोपमा ।
रत्नतारार्कचन्द्राभा सद्दृष्टेर्दृष्टिरष्टधा ॥ वही, १५
तृणगोमयकाष्ठाग्निकणदीप्रप्रभोपमा ।
रत्नतारार्कचन्द्राभाः क्रमेणेक्ष्वादिसन्निभा ॥ योगावतार द्वांत्रिंशिका, २६
२४. मित्रा-तारा-बला-दीप्रा-स्थिरा-कान्ता-प्रभा-परा ।
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत ॥ योगदृष्टिसमुच्चय, १३
२५. वही, ७०
२६. प्रतिपातयुताश्चाद्याश्चतस्रो नोत्तरास्तथा ।
सापायाऽपि चैतास्तत्प्रतिपातेन नेतराः ॥ वही, १९
२७. मित्रा द्वांत्रिंशिका- १
२८. करोति योग बीजानामुपादानमिह स्थितः।
अवन्ध्यमोक्षहेतूनामिति योगविदो विदुः॥ योगदृष्टिसमुच्च्य, २२
जिनेषु कुशलं चित्तं तन्नमस्कार एव च ।
प्रणामादि च संशुद्धं योगबीजमनुत्तमम् ॥ वही, २३
आचार्यादिष्वपि ह्येतद्विशुद्धं भावयोगिषु ।
वैयावृत्त्यं च विधिवच्छुद्धाशयविशेषतः ॥ वही, २६
लेखना पूजना दानं श्रवणं वचनोद्ग्रह ।
प्रकाशनाथ स्वाध्यायश्चिन्ता भावनेति च ॥ वही, २८
२९. तारायां तु मनाक्स्पष्टं, नियमश्च तथाविधः ।
अनुद्वेगो हितारम्भे जिज्ञासा तत्त्वगोचरा ॥ वही, ४१
३०. वही, ४६
३१. अध्यात्मतत्त्वालोक, ४६ तथा
भवत्यस्यामविभिन्नाप्रीतियोगकथासु च ।
यथाशक्त्युपचारश्च बहुमानश्च योगिषु ॥ तारादात्रिंशिका, ६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२. योगदृष्टिसमुच्चय, ४७
३३. वही, ४८
३४. भयं नातीव भवजं कृत्यहानिर्न चोचिते ।
तथानाभोगतोऽप्युच्चैर्न चाप्यनुचितक्रिया ॥ वही, ४५
३५. सुखासनसमायुक्तं बलायां दर्शनं दृढ़म् ।
परा च तत्त्वशुश्रूषा न क्षेपो योगगोचरः ॥ वही, ४९
३६. कान्तकान्तासमेतस्य दिव्यगेयश्रुतौ यथा ।
यूनो भवति शुश्रूषा तथास्यां तत्त्वगोचरा ॥ वही, ५२
३७. श्रुताभावेऽपि भावेऽस्याः शुभभावप्रवृत्तितः ।
फलं कर्मक्षयाख्यं स्यात् परबोधनिबन्धनम् । वही, ५४
३८. परिष्कारगतः प्रायो विघातोऽपि न विद्यते ।
अविघातश्च सावद्यपरिहारान्महोदयः ॥ वही, ५६
३९. असाधुतृष्णात्वरयोरभावावात् स्थिरं सुखं चासनमाविरस्ति ॥ अध्यात्मतत्त्वालोक, ३/९८
४०. प्राणायामवती दीप्रा न योगोत्थानवत्यलम् ।
तत्त्वश्रवणसंयुक्ता सूक्ष्मबोधविवर्जिता । योगदृष्टिसमुच्चय, ५७
४१. रेचनाद्बाह्य भावनामन्तर्भावस्य पूरणात् ।
कुम्भनान्निश्चितार्थस्य प्राणायामश्च भावतः ॥ तारादृांत्रिंशिका १९
४२. प्राणेभ्योऽपि गुरुर्धर्मः सत्यामस्यामस्यामसंशयम् ।
प्राणांस्त्यजति धर्मार्थं न धर्मं प्राणसंकटे ॥ योगदृष्टिसमुच्चय, ५८
४३. नैतद्वतौऽयं तत्तत्त्वे कदाचितुपजायते । वही, ६८
४४. अवेधसंवेध पदाभिधेयौ मिथ्यात्वदोषाशय उच्यते स्म। उग्रोदये तत्र विवेकहीना
अधोगतिं सूढ़धियो व्रजन्ति ॥ अध्यात्मतत्त्वालोक, १०९
४५. भवाम्भोधिसमुत्तारात् कर्मवज्रविभेदतः ।
ज्ञेय व्याप्तेश्च कात्स्न्येन सूक्ष्मत्वं नायमत्र तु ॥ योगदृष्टिसमुच्चय, ६६
४६. अवेद्यसंवेद्यपदं सत्संगागमयोगतः ।
तद्बुर्गगतिप्रदं जैयं परमानन्द मिब्भता ॥ तारादृात्रिंशिका, ३२
४७. एवं विवेकिनो धीराः प्रत्याहारपरास्तथा ।
धर्मबाधापरित्यागयत्नवन्तश्च तत्त्वतः ॥ योगदृष्टिसमुच्चय ,१५७
४८. णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ समयसार, ३६
४९. अहमेक्को खुल सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारुवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥ वही, ३८
५०. स्थिरायां दर्शनं नित्यं प्रत्याहारवदेव च ।
कृत्यमभ्रान्तमनघं सूक्ष्मबोधसमन्वितम् । योगदृष्टिसमुच्चय, १५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५१. कान्तायामेतदन्येषां प्रीतये धारणा परा ।
अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं मीमांसास्ति हितोदय । वही, १६१

५२. अस्यां तु धर्ममाहात्म्यात्समाचारविशुद्धितः ।
प्रियो भवति भूतानां धर्मैकाग्रमनास्तथा ॥ वही, १६२

५३. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ श्रीमद्भगवतदगीता, २/४७-४८

५४. ध्यानप्रिया प्रभा प्रायो नास्यां रूगत एव हि ।
तत्त्वप्रतिपत्तियुता विशेषेण शमान्विता ॥ योगदृष्टिसमुच्चय, १६०

५५. सत्प्रवृत्तिपदं चेहासंगानुष्ठानसंज्ञितम् ।
महापथप्रयाणं यदनागामिपदावहम् ॥ वही, १७४

५६. प्रशांतवाहितासंज्ञं विसभागपरिक्षयः ।
शिववर्त्म ध्रुवाध्वेति योगिभिर्गीयते ह्यदः ॥ वही, १७५

५७. निराचारपदोह्यस्यामतिचारविवर्जितः ।
आरूढ़ारोहणाभावगतिवत्त्वस्य चेष्टितम् ॥ वही, १७८

५८. क्षीणदोषोऽथ सर्वज्ञः सर्वलब्धिफलान्वितः ।
परं परार्थं सम्पाद्य ततो योगान्तमश्नुते ॥ वही, १८४

५९. अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृतिसंक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥ योगबिन्दु, ३१

६०. औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य वचनात्तत्त्वचिन्तनम् ।
मैत्र्यादिसारमत्यन्तेमध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥ वही, ३५७

६१. वही, ३५८

६२. मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि नियोजयेत् ।
धर्म-ध्यानमुपस्कर्तुं तद्धि तस्य रसायनम् ॥ योगशास्त्र, ४/११७

६३. भावश्चित्ताभिप्रायः । उत्तराध्ययन (टीका), २९/२२

६४. भाव्यतेऽनयेति भावना। आवश्यकसूत्र (टीका, हरिभद्र) ,५

६५. अभ्यासो वृद्धिमानस्य भावना बुद्धिसंगतः।
निवृत्तिरशुभाभ्यासाद्भाववृद्धिश्च तत्फलम्। योगभेदद्वात्रिंशिका,९ तथा देखें योग बिन्दु, ३५९

६६. भावनाजोगशुद्धप्पा जले दावा व आहिया ।
गावा व तीरसम्पन्ना, सत्वदुक्खाति उद्दई ॥ सूत्रकृतांग, १/१५/५

६७. ताश्च संवेगवैराग्ययमप्रशमसिद्धये ।
आलानिता मनःस्तम्भे मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ॥ ज्ञानार्णव, २/६

६८. संवेगवैराग्यार्थम् । तत्त्वार्थसूत्र, ७/७

६९. एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् । तत्त्वार्थसूत्र, ९/२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७०. शुभैकालम्बनं चित्तं ध्यानमाहुर्मनीषिणः ।
स्थिरप्रदीपसदृशं सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ॥ योगबिन्दु, ३६१

७१. झाणजोगं समाहट्टु कायं विउसेज्जे सव्वसो ।
तितिक्खं परमंण नच्चा आमोक्खाए परिव्वएज्जासि। सूत्रकृतांग,१/८/४३६ तथा ध्यानचित्तनिरोधलक्षणं धर्मध्यानदिकं तत्र योगो विशिष्टमनोकवाक्काय-व्यापारस्तं ध्यानयोगम् ॥ वही,(टीका)

७२. अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु ।
संज्ञानात् तद्वयुदासेन समता समतोच्यते ॥ योगबिन्दु, ३६३ तथा व्यवहारकुदृष्ट्यौच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु ।
कल्पितेषु विवेकेन, तत्त्वधीः समतोच्यते। योगभेदद्वात्रिंशिका, २२

७३. ऋद्ध्यप्रवर्तनँ चैव सूक्ष्मकर्मक्षयस्तथा ।
अपेक्षातन्तुविच्छेदः फलमस्याः प्रचक्षते ॥ योगबिन्दु, ३६४

७४. अमन्दानन्द-जनने साम्यवारिणि मज्जताम् ।
जायते सहसा पुंसां राग-द्वेष-मल-क्षयः ॥ योगशास्त्र, ४/५०

७५. समत्वमवलम्ब्यार्थं ध्यानं योगी सामाश्रयेत् ।
विना समत्वमारब्धे ध्याने स्वात्मा विडम्बयते ॥ वही, ४/११२

७६. रागादिध्वान्तविध्वंसे, कृते सामायिकांशुना ।
स्वस्मिन् स्वरूपं पश्यन्ति योगिनः परमात्मनः ॥ वही, ४/५३

७७. विकल्पस्यन्दरूपाणां वृत्तीनामन्यजन्मनाम् ।
अपुनर्भावतो रोधः प्रोच्यते वृत्तिसंक्षयः ॥ योगभेदद्वात्रिंशिका, २५

७८. पल्लवाद्यपुनर्भावो न स्कन्धापगमे तरोः ।
स्यान्मूलापगमे यद्वत् तद्वत् भवतरोरपि॥ योगबिन्दु, ४०७

७९. अतोऽपि केवलज्ञानं शैलेशीसम्परिग्रहः ।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायनी ॥ वही, ३६६

८०. उपायत्वेऽत्र पूर्वेषामन्त्य एवावशिष्यते ।
तत्पञ्चमगुणस्थानादुपायोऽर्वागिति ॥ योगभेदद्वात्रिंशिका, ३१

८१. अध्यात्मिक विकासक्रम,पृ०- ४८

८२. मिलिन्दपञ्ह, २/१/८

८३. सत्कायदृष्टि विचिकित्सा और शीलव्रत परामर्श।

८४. दीर्घनिकाय (अनु० पं० राहुल सांकृत्यायन),पृ०- ५७

८५. बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ०- १०३

८६. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृ०-४७२

८७. दीर्घनिकाय,पृ०- ५७

८८. बौद्ध दर्शन-मीमांसा,पृ०- १०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८९. दीर्घनिकाय, पृ०- ५८
९०. सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत परामर्श, कामछन्द और व्यापाद।
९१. दीर्घनिकाय, पृ०- १२७
९२. बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ०- १०४
९३. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२ पृ०-४७३
९४. १. सक्कायदिदि्ठ २. विचिकच्छा ३. सीलव्रत परामास ४. कामराग ५. पटीघ ६. रूपराग ७. अरूपराग ८. मान ९. उद्धव १०. अविच्चा । विशुद्धिमार्ग, भाग-२, परिच्छेद २२, पृ०- २७१
९५. चुल्लवग्ग, ४१४
९६. मिलिन्दपञ्ह, ४/१/३
९७. बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ०- १०४
९८. वही,
९९. दीर्घनिकाय (अनु० - राहुल सांकृत्यायन), पृ०- १२७
१००. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ०, ४७४
१०१. दशभूमिकसूत्रम्, पृ०- १
१०२. यदिदमाजीविकाभयं वा अश्लोकभयं वा मरणभयं -----अतोऽस्य अश्लोकभयं न भवति। आत्मदृष्टिविगमाच्च ------ मरणभयं न भवति। मृतस्यैव में नियतं ----दुर्गतिभयं न भवति। नास्ति में कश्यिदाशयेन---- पर्षच्छारद्यभयं न भवति। एवं सर्वभयत्रासच्छम्भितत्वरोमहर्षापगतः।। वही, पृ०- ९
१०३. महापूजोपस्थानाय प्रथमं महाप्रणिधानमभिनिर्हरति। वही, पृ०- १०
१०४. सर्वतथागतभाषितधर्मनेत्रीसंधारणाय सर्वबुद्धबोधिसत्त्वसुपरिग्रहाय सर्वसम्यक्संबुद्धशासनपरिरक्षणाय----बुद्धोत्पादसद्धर्मपरिग्रहाय द्वितीयम्। वही
१०५. तुषितभवनवासमादिं कृत्वा--यावन्महापरिनिर्वाणोपसंक्रमणाय तृतीयम्। वही, पृ०-१०
१०६. सर्वभूमिपरिशोधनम् ------चित्तोत्पादाभिनिर्हाराय चतुर्थम्। वही, पृ०- १०
१०७. सर्वसत्त्वधातुपरिपाचनाय सर्वबुद्धधर्मावतारणाय..... सर्वज्ञज्ञानप्रतिष्ठापनाय --पञ्चम्। वही, पृ०- १०
१०८. ------लोकधातुवैमात्र्यावतारणाय षष्ठम्। वही
१०९. ------सर्वबुद्धक्षेत्रपरिशोधनाय सप्तमम्। वही
११०. महायानावतारणाम अष्टम् । वही
१११. सर्वबोधिसत्त्वचर्याचरणाय....अमोघसर्वचेष्टतायै नवमम् ।
११२. अभिसम्बोधिमहाज्ञानाभिज्ञाभिनिर्हाराय दशमम्। वही
११३. ---८----दशभिः कुशलैः कर्मपथैः समन्वागतो भवति। वही, पृ०- १५
११४. वही, पृ०-१५-१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११५. तस्य चतुर्भ्यः संग्रहवस्तुभ्यः प्रियवद्यता अतिरिक्ततमा भवति। दशभ्यः पारमिताभ्यः शीलपारमिताऽतिरिक्ततमा भवति। वही, पृ०- १८
११६. दशभिश्चित्ताशयमनस्कारैराक्रमति----अतृप्तचित्ताशयमनस्कारेण च। वही, पृ०- १९
११७. सत्त्वानामन्तिके दश चित्ताशयानुपस्थापयति---भवचारकावरुद्धप्रतिशरणचित्ताशयतां च---। वही, पृ०- १९
११८. धर्मारामो धर्मरतो------धर्मत्राणो धर्मानुधर्मचारी। वही, पृ०- २०
११९. सोऽस्यां प्रभाकर्यां------चतुर्थ ध्यानमुपसंपद्य विहरति। वही, पृ०- २०
१२०. मैत्रीसहगतेन------चित्तेन विहरति। वही, पृ०- २१
१२१. वही, पृ०- २४
१२२. वही, पृ०- २४
१२३. वही, पृ०- २४
१२४. छन्दसमाधिप्रहाणसंस्कारसमन्वागतं ऋद्धिपादं भावयति । वही, पृ०- २४
१२५. वही, पृ०-२४
१२६. श्रद्धाबलं भावयति--वीर्यबलं--स्मृतिबलं--समाधिबलं--प्रज्ञाबलं-- । वही, पृ०- २४
१२७. स्मृतिसम्बोध्यङ्गं----- धर्मप्रविचय,------वीर्य,---------प्रीति,----- प्रस्रब्धि,------- समाधि,------उपेक्षा------। वही, पृ०- २४
१२८. वही, पृ०- २४
१२९. वही, पृ०- २७
१३०. तस्य भूयस्या मात्रया सत्त्वेषु महाकरुणा अभिमुखीभवति, महामैत्र्यालोकश्च प्रादुर्भवति। वही, पृ०-२७
१३१. दश प्रकार की समताएँ निम्न हैं- १. अतीतबुद्धधर्मविशुद्ध्याशयसमतया २.अनागतबुद्धधर्मविशुद्ध्याशयसमतया ३. प्रत्युत्पन्नबुद्धधर्मविशुद्ध्याशयसमतया ४. शील विशुद्ध्याशयसमतया ५. चित्तविशुद्ध्याशयसमतया ६. दृष्टिकाङ्क्षाविमतिविलेखापनयनविशुद्ध्याशयसमतया ७. मार्गामार्गज्ञानविशुद्ध्याशयसमतया ८. प्रतिपत्प्रहाणज्ञानविशुद्ध्याशयसमतया ९. सर्वबोधिपक्ष्यधर्मोत्तरोत्तरविभावनविशुद्ध्याशयसमतया १०. सर्वसत्त्वपरिपाचनविशुद्ध्याशयसमतया। वही, पृ०- २७
१३२. स दशभिर्धर्मसमताभिरवतरति------सर्वधर्माजाततया च------। वही, पृ०-३१
१३३. वही, पृ०-३१
१३४. नैरात्म्यनिःसत्त्वनिर्जीवनिष्पुद्गलतां-------नोत्सृजति। वही, पृ०- ३६
१३५. दश पारमिता निम्नलिखित हैं- १. दान पारमिता २. शील पारमिता ३. क्षान्ति पारमिता ४. वीर्य ५. ध्यान ६. प्रज्ञा ७. उपाय कौशल ८. प्रणिधान ९. बल और १०. ज्ञान ।
१३६. चार संग्रह वस्तु—दान, प्रियवचन, अर्थ क्रिया तथा समानार्थता।
१३७. चार अधिष्ठान— सत्य, त्याग, उपशम तथा प्रज्ञा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३८. सैंतिस प्रकार के बोधिलाभ का पहले वर्णन आ चुका है।
१३९. पूर्वमेककायाभिनिर्हारतया---- बोधिसत्त्वचर्याबलं समुदागच्छति। वहीं, पृ०- ४३
१४०. तस्य दशभ्यः पारमिताभ्यः---अतिरिक्ततमा भवति। वही, पृ०- ४८
१४१. सोऽस्यां साधुमत्यां------यथाभूतं प्रजानाति। वही, पृ०- ४९
१४२. धर्मप्रतिसंविदा------भूमिमपर्यन्ताकारेण निर्दिशति॥ वही, पृ०-५२
१४३. स तस्य सर्वज्ञानविशेषाभिषेकवतः ----महारत्नराजपद्मे निषण्णः संदृश्यते। वही, पृ०-५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अष्टम अध्याय

बन्धन एवं मोक्ष

बन्धन एवं मोक्ष दार्शनिक चिन्तन जगत में एक ऐसा प्रत्यय है जिसकी चर्चा प्राय: सभी चिन्तन परम्परा एवं धर्मों में देखने को मिलती है। आत्मा और शरीर का एक साथ होना बन्धन तथा एक-दूसरे से अलग होना मोक्ष कहलाता है। असंसारी तथा अविकारी आत्मा शरीर संयोग तथा विकारी बनकर नाना प्रकार के दु:खों को सहन करती है तथा कर्म-प्रभाव से विभिन्न योनियों में भ्रमण करती रहती है। जैसा कि तुलसीदास ने कहा है- *"जनमत मरत दुसह दु:ख होई,"* अर्थात् जन्म लेने के समय और मरने के समय असहनीय पीड़ा होती है। अत: जन्म-मरण ही सभी दु:खों की जननी है, ऐसा माना जाता है। यह आत्मा उन बन्धनों को पुरुषार्थहीन बनकर न चुपचाप सहती आयी है,बल्कि उन्हें तोड़ने के प्रयत्न सदा-सर्वदा करती रहती है। बन्धन एवं मोक्ष की स्थिति आत्मा या जीव के लिए उसी प्रकार है, जिस प्रकार सूर्य का बादलों से ढ़क जाना। जब तक सूर्य बादलों से घिरा रहता है, तब तक उसकी प्रकाश किरणें नहीं दिखाई पड़ती हैं, ठीक वैसे ही जीव का चेतना रूपी प्रकाश अविद्या और अज्ञान रूपी काले बादलों से घिरा रहता है। जीव की यह अवस्था ही बन्धन की अवस्था है। जब अज्ञानता और अविद्या रूपी बादल ज्ञान के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं तब जीव को पूर्व स्थिति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

जैन परम्परा में बन्धन एवं मोक्ष

बन्धन

आत्मा का अनात्मा से, जड़ का चेतन से, देह का देही से संयोग ही बन्धन है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सम्बन्ध कैसे और क्यों होता है?

उत्तरस्वरूप कहा जा सकता है कि कर्म-वर्गणा या कर्म-परमाणु जो एक भौतिक द्रव्य है, से आत्मा का सम्बन्धित होना ही बन्धन है। जैसाकि *उमास्वाति* ने कहा है- कषायभाव के कारण जीव का कर्म-पुद्गलों से आक्रान्त हो जाना ही बन्धन है।[१] इसी प्रकार *कर्मग्रन्थ* में कहा गया है कि आत्मा जिस शक्ति विशेष से कर्म-परमाणुओं को आकर्षित कर उन्हें आठ प्रकार के कर्मों के रूप में जीव-प्रदेशों से सम्बन्धित रखती है तथा कर्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमाणु और आत्मा परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, वह बन्धन है।[२] यह प्रक्रिया वैसे ही होती है जिस प्रकार दीपक अपनी उष्मा शक्ति के द्वारा तेल को आकर्षित कर उसे लौ रूपी शरीर में बदल देता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा रूपी दीपक अपने रागभावरूपी उष्मा के कारण क्रिया रूपी बत्ती के द्वारा कर्म-परमाणु रूपी तेल को आकर्षित कर उसे अपने शरीर रूपी लौ में बदल देती है।[३] वस्तुत: देखा जाए तो शरीर ही बन्धन का कारण है। यहाँ शरीर का तात्पर्य लिंग-शरीर, कर्म-शरीर या सूक्ष्म शरीर से है। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है। व्यावहारिक जगत मे भी देखा जाए तो जहाँ आत्मा है वहाँ शरीर है और जहाँ शरीर है वहाँ आत्मा है। दोनों का सम्बन्ध दूध और पानी की भाँति है। यद्यपि दोनों का स्वरूप अलग-अलग है, किन्तु अनन्तानन्त काल से शरीर में आत्मा का निवास रहा है। एक शरीर छोड़ा तो दूसरा मिल गया, दूसरा छोड़ा तो तीसरा मिल गया। यह प्रक्रिया चलती रहती है। कर्म के बन्धन हेतु जीव या आत्मा को कहीं जाना नहीं पड़ता, बल्कि सारे लोक में कर्म-परमाणु बिखरे पड़े हैं जो मोह रूपी चिकनाहट के कारण जीव या आत्मा से चिपकते हैं। आत्मा में राग-भाव से क्रियाएं होती हैं, क्रियाओं से कर्म-परमाणुओं का आस्रव (आकर्षण) होता है और कर्मास्रव से कर्मबन्ध होता है। यह बन्धन की प्रक्रिया कर्मों के स्वभाव (प्रकृति), मात्रा, काल, मर्यादा और तीव्रता-इन चारों बातों का निश्चय कर सम्पन्न होती है।[४]

बन्धन के प्रकार

बन्धन के मुख्यत: दो प्रकार हैं- भावबन्ध एवं द्रव्यबन्ध। जिन राग-द्वेष और विकारी भावों से कर्म का बन्धन होता है उन भावों को भावबन्ध कहते हैं तथा कर्म-पुद्गल और आत्मप्रदेश के परस्पर सम्बन्ध को द्रव्यबन्ध कहते हैं।[५]

इसके अतिरिक्त भी जैन-परम्परा में चार प्रकार के बन्ध बताये गये हैं-प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध।[६]

प्रकृतिबन्ध- प्रकृति अर्थात् स्वभाव के बन्धने को प्रकृतिबन्ध कहते हैं। यथा-ज्ञान को ढँकने का स्वभाव, सुख-दु:ख अनुभव कराने का स्वभाव इत्यादि। तात्पर्य है कि कर्म के द्वारा आत्मा की ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, वीर्यशक्ति आदि किस शक्ति का आवरण होगा, इस बात का निर्धारण कर्म की प्रकृति करती है। जैसे ज्ञान को आवृत करने के स्वभाववाला कर्म-पुद्गल ज्ञानावरण कर्म है, ऐसे ही सुख-दु:ख का अनुभव कराने के स्वभाववाला कर्म-पुद्गल वेदनीय कर्म है। इस प्रकार कार्यभेद के आधार पर कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ भागों मे विभक्त हैं— ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय।[७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रदेशबन्ध-यह एकीभाव की व्यवस्था है। *तत्त्वार्थसूत्र* में प्रदेशबन्ध की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि योग के कारण समस्त आत्मप्रदेशों पर सभी ओर से सूक्ष्म कर्म-पुद्गल आकर एक क्षेत्रावगाही हो जाते हैं। जिस क्षेत्र में आत्मप्रदेश हैं उसी क्षेत्र में वे पुद्गल ठहर जाते हैं। इसी का नाम प्रदेशबन्ध है।[८]

स्थितिबन्ध-प्रत्येक कर्म आत्मा के साथ निश्चित समय तक ही रहता है। कर्म-पुद्गल जीव के साथ कब तक चिपके रहेंगे और कब अपना फल देना प्रारम्भ करेंगे, इसकी काल मर्यादा भी निर्धारित होती है। काल मर्यादा के इस निर्माण को ही स्थितिबन्ध के नाम से जाना जाता है।

अनुभागबन्ध-इसमें फलदान-शक्ति की व्यवस्था बनती है। कर्मों के बन्ध एवं विपाक की तीव्रता और मंदता का निश्चय होता है। स्वभाव के निर्माण के साथ ही साथ फल चखने की शक्ति का भी निर्माण हो जाता है। इस प्रकार की शक्ति अथवा विशेषता अनुभागबन्ध कहलाती है।

बन्ध के ये चारों प्रकार एक साथ ही होते हैं, किन्तु आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों के एकीभाव की दृष्टि से प्रदेशबन्ध पहले आता है। इसके होते ही उनमें स्वभाव-निर्माण, काल-मर्यादा और फल-शक्ति का निर्माण हो जाता है। बन्ध के इन चारों प्रकारों में से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग (मन, वचन और काय) के कारण होते हैं, क्योंकि अकषायी आत्मा का केवल योग के कारण ही कर्मबन्ध होता है, परन्तु उसका क्षणिक एवं अनुभागबन्ध नहीं होता। स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय के कारण होते हैं।

बन्धन के कारण

संसार के प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। अत: इस बन्धन का भी कोई कारण अवश्य होगा। जैन परम्परा में बन्धन के पाँच कारण माने गये हैं-मिथ्यात्व; अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।[९]

मिथ्यात्व- मिथ्यात्व यानी अयथार्थ दृष्टिकोण। मिथ्यात्व दृष्टिवाला लौकिक यश, लाभ आदि की दृष्टि से धर्म का आचरण करता है, क्योंकि उसमें स्व-पर विवेक नहीं होता। फलत: कल्याण मार्ग में उसकी सम्यक्-श्रद्धा नहीं होती। वह अनेक प्रकार के देव, गुरु तथा लोक मूढ़ताओं को धर्म मानता है। जरा-सा प्रलोभन से वह सभी अनर्थ-कार्य करने को उद्यत रहता है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि और शरीर के मद में मस्त रहता है तथा दूसरे को तिरस्कृत दृष्टि से देखता है। यही मिथ्यादृष्टि है। इसके भी पाँच प्रकार होते हैं-एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान।[१०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविरति- दोषों से विरत न रहना अविरति है। इसे दूसरी भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि सदाचार या चारित्र धारण करने की ओर रुचि या प्रवृत्ति का न होना अविरति है। इसके पाँच प्रकार हैं-हिंसा, असत्य, स्तेयवृत्ति, मैथुन और परिग्रह।

प्रमाद-आत्मविस्मरण अर्थात् कुशल कार्यों में अनादर या कर्तव्य-अकर्तव्य की स्मृति में असावधानी को प्रमाद कहते हैं।[११] इस असावधानी के कारण कुशल कर्म के प्रति अनास्था तो होती है, साथ-ही-साथ हिंसा की भूमिका भी तैयार होने लगती है, क्योंकि प्रमाद हिंसा के हेतुओं में प्रमुख हेतु है। दूसरे प्राणी की हिंसा हो या न हो लेकिन जो प्रमादी व्यक्ति है उसे हिंसा दोष निश्चित रूप से लगता है। यही कारण है कि उत्तराध्ययन के दशवें अध्याय में भगवान् *महावीर* ने इस कथन पर बल देते हुए गणधर *गौतम* को चेतावनी दी है कि *'समयं गोयम मा पमायए'* अर्थात् *गौतम* क्षणभर भी प्रमाद मत करो। विकथा, कषाय, राग, विषय-सेवन, निद्रा आदि पाँच प्रमाद हैं।[१२]

कषाय-समभाव की मर्यादा को तोड़ना कषाय कहलाता है।[१३] क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं जो आत्मा को अपने शान्त और निर्विकारी स्वरूप से च्युत कर देते हैं। यद्यपि ये चारों मुख्यत: दो ही हैं-राग और द्वेष। क्रोध कषाय द्वेष रूप होता है। यह द्वेष का कारण और कार्य भी होता है। मान यदि क्रोध को उत्पन्न करता है तो द्वेष रूप ही होता है। ऐसे ही लोभ रागरूप होता है। माया यदि लोभ को जाग्रत करती है तो रागरूप होती है। तात्पर्य है कि यह राग और द्वेष ही सभी अनर्थों, व्यभिचारों की जड़ है। इन कषायों के अतिरिक्त हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद आदि नो कषाय हैं जो आत्मा में विकारपरिणति उत्पन्न करते हैं।[१४]

योग— मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को योग कहते हैं।[१५] शुभ योग और अशुभ योग, योग के दो प्रकार हैं।[१६] शुभ योग पुण्यकर्म का आस्रव कराता है और अशुभयोग पापकर्म का। सबका शुभ चिन्तन यानी अहिंसक विचारधारा शुभ मनोयोग कहलाता है। ऐसे ही हित, मित, प्रिय वचन बोलना शुभ वचनयोग है और पर को बाधा न देनेवाली यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति शुभकाय योग है। ठीक इसके विपरीत चिन्तन, वचन, तथा कार्यप्रवृत्ति अशुभ मन-वचन-काययोग है।[१७]

बन्धन के इन कारणों को लेकर विद्वानों में मतभेद देखा जाता है। पं० सुखलाल संघवी के शब्दों में-एक परम्परा के अनुसार कषाय और योग ये दो ही बन्ध के हेतु हैं। दूसरी परम्परा में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बन्ध के हेतु माने गये हैं। तीसरी परम्परा में उक्त चार हेतुओं में प्रमाद को बढ़ाकर पाँच बन्ध हेतुओं का वर्णन है।[१८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेकिन संख्या में भेद दिखाई देने से यह नहीं समझना चाहिए कि ये परस्पर भिन्न हैं, बल्कि तात्त्विक दृष्टि से इन परम्पराओं में अन्तर नहीं है। यदि सही माने में देखा जाए तो मुख्य रूप से राग, द्वेष और मोह ये तीन ही बन्धन के मूल कारण हैं। *उत्तराध्ययन* के बत्तीसवें अध्याय में राग और द्वेष को कर्मबीज कहा गया है तथा मोह को उनका कारण माना गया है।[१९] परन्तु राग और द्वेष में राग ही प्रमुख माना जाता है। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है- आसक्त आत्मा ही कर्म-बन्ध करती है और अनासक्त मुक्त हो जाती है, यही जिनदेव का उपदेश है। अत: कर्मों में आसक्ति मत रखो।[२०] राग, द्वेष और मोह परस्पर एक-दूसरे के कारण हैं। द्वेष का कारण राग होता है और राग का कारण मोह तथा राग और मोह परस्पर एक-दूसरे के कारण होते हैं। अत: जैन परम्परा में यही तीन बन्धन के मूल कारण माने गये हैं। लेकिन द्वेष जो राग जनित होता है, को छोड़ देने पर शेष राग और मोह दो ही कारण मुख्य रूप से रह जाते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त सूत्र से कर्म-वर्गणाओं का आत्मा में आस्रवण होता है। कर्म-वर्गणाओं का यह आस्रवण ही जैन चिन्तन की भाषा में आस्रव है। जैसा कि *तत्त्वार्थसूत्र* में कहा गया है-काय, वचन और मन की क्रिया योग है, यही आस्रव है अर्थात् कर्म का सम्बन्ध करानेवाला है।[२१] योग की प्रवृत्तियाँ दो रूपों में होती हैं- शुभ प्रवृत्ति और अशुभ प्रवृत्ति[२२]। शुभयोग कार्य पुण्य-प्रकृतिबन्ध और अशुभ योग कार्य पाप-प्रकृतिबन्ध है। हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य आदि कायिक व्यापार अशुभ काययोग और दया, दान, ब्रह्मचर्य पालन आदि शुभ काययोग है।

कर्मास्रव के दो प्रकार हैं-साम्परायिक और ईर्यापथिक।[२३] पं० सुखलाल संघवी के अनुसार-आत्मा का पराभव करनेवाला कर्म साम्परायिक कहलाता है।[२४] यथा-गीले चमड़े पर हवा द्वारा पड़ी हुई रज-कण उससे चिपक जाती है, वैसे ही योग द्वारा आकृष्ट होनेवाला जो कर्म कषाय के उदय के कारण आत्मा के साथ सम्बद्ध होकर स्थिति पा लेता है वह साम्परायिक कर्मास्रव कहलाता है। ठीक इसके विपरीत सूखी दीवाल के ऊपर लगे हुए लकड़ी के गोले की भाँति योग से आकृष्ट जो कर्म कषाय के उदय न होने से आत्मा के साथ लगकर तुरन्त छूट जाता है वह ईर्यापथिक कर्मास्रव कहलाता है। इसके पहले क्षण में आस्रव होता है तथा दूसरे क्षण में वह निर्जरित हो जाता है अर्थात् ईर्यापथिक कर्म की स्थिति मात्र एक समय की होती है। ऐसी क्रिया आत्मा में कोई विभाव उत्पन्न नहीं करती। डॉ० सागरमल जैन के अनुसार कर्मास्रव के निम्न दो भेद हैं- १. भावास्रव २. द्रव्यास्रव। आत्मा की विकारी मनोदशा भावास्रव है और कर्म-वर्गणाओं के आत्मा मे आने की प्रक्रिया द्रव्यास्रव है। जिसमें भावास्रव कारण है तथा द्रव्यास्रव कार्य या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रक्रिया। द्रव्यास्रव का कारण भावास्रव है, लेकिन यह भावात्मक परिवर्तन भी अकारण नहीं होता है, वरन पूर्वबद्ध कर्म के कारण होता है। इस प्रकार पूर्वबन्धन के कारण भावास्रव तथा भावास्रव के कारण द्रव्यास्रव और द्रवयास्रव से कर्म का बन्धन होता है।[२५]

साम्परायिक कर्मास्रव के ३९ भेद बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं[२६]-

१. पाँच अव्रत- हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह।

२. चार कषाय- क्रोध, मान, माया और लोभ।

३. पाँच इन्द्रिय विषयों का सेवन- स्पर्शन, रसन, घ्राण, चाक्षुष और श्रोत्र।

४. पच्चीस साम्परायिक क्रियाएं-निम्नलिखित हैं-

१. सम्यक्त्व क्रिया- देव, गुरु व शास्त्र की पूजाप्रतिपत्तिरूप होने से सम्यक्त्व पोषक क्रिया सम्यक्त्व क्रिया है। २. मिथ्यात्व क्रिया-मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म से होनेवाली सराग देव की स्तुति-उपासना आदि मिथ्यात्व क्रिया है। ३. प्रयोग क्रिया-शरीर आदि द्वारा जाने-आने में कषाययुक्त प्रवृत्ति प्रयोग क्रिया है। ४. समादान क्रिया- त्यागी होते हुए भोगवृत्ति की ओर झुकाव समादान क्रिया है। ५. ईर्यापथ क्रिया- एक सामयिक कर्म के बन्धन या वेदन की कारण भूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है। १. कायिकी क्रिया- किसी कार्य में दुष्ट भाव से युक्त होकर प्रयत्न करना कायिकी क्रिया है। २. आधिकरणिकी क्रिया- हिंसा की दृष्टि से अस्त्र-शस्त्र धारण करने की क्रिया आधिकरणिकी क्रिया है। ३. प्रादोषिकी क्रिया- क्रोध, ईर्ष्या आदि से होनेवाली क्रिया प्रादोषिकी क्रिया है। ४. पारितापनिकी क्रिया- प्राणीमात्र को कष्ट देना पारितापनिकी क्रिया है। ५. प्राणातिपातिकी क्रिया- प्राणियों को प्राणों से वियुक्त करने की क्रिया प्राणातिपातिकी क्रिया है। १. दर्शनक्रिया- रागवश रमणीय रूप को देखने की वृत्ति दर्शनक्रिया है । २. स्पर्शन क्रिया- प्रमादवश स्पर्श करने योग्य वस्तुओं के स्पर्श की वृत्ति स्पर्शन क्रिया है। ३. प्रात्ययिकी क्रिया- नये शस्त्रों का निर्माण प्रात्ययिकी क्रिया है। ४. समन्तानुपातन क्रिया- स्त्री, पुरुष और पशुओं के जाने-आने वाले रास्ते पर मल-मूत्र का त्याग करना समन्तानुपातन क्रिया है। ५. अनाभोग क्रिया-अशुद्ध यानी जिस जगह का अवलोकन और प्रमार्जन नहीं किया हो, उस स्थान पर बैठना या शरीर रखना अनाभोग क्रिया है। १. स्वहस्त क्रिया- दूसरे के करने की क्रिया को स्वयं करके दूसरे को कष्ट पहुँचाना स्वहस्त क्रिया है। २. निसर्ग क्रिया–दूसरे को पापकारी वृत्ति के लिए अनुमति देना निसर्ग क्रिया है। ३. विदार क्रिया–दूसरे के किये गये पाप कार्यों को प्रकट करना विदार क्रिया है। ४. आज्ञाव्यापादिकी क्रिया– सामर्थ्यता के अभाव में शास्त्रोक्त आज्ञा के विपरीत प्ररूपणा करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है। ५. अनवकांक्ष क्रिया–धूर्तता एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आलस्य से शास्त्रोक्त विधि का अनादर करना अनवकांक्ष क्रिया है। १. आरम्भ क्रिया– काटने-पीटने और घात करने में स्वयं रत रहना और अन्य लोगों में वैसी प्रवृत्ति देखकर प्रसन्न होना आरम्भ क्रिया है। २. पारिग्रहिकी क्रिया–परिग्रह का नाश न होने के लिए की जानेवाली क्रिया पारिग्रहिकी क्रिया है। ३. माया क्रिया– ज्ञान, दर्शन आदि विषय में दूसरों को ठगना माया क्रिया है। ४. मिथ्यादर्शन क्रिया– मिथ्यादृष्टि के अनुकूल प्रवृत्ति करने-कराने में प्रशंसा द्वारा मिथ्यात्व को दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया है। ५. अप्रत्याख्यान क्रिया–संयम घातिकर्म के प्रभाव के कारण पापव्यापार से निवृत्त न होना अप्रत्याख्यान क्रिया है[२७]।

इस प्रकार साम्परायिक आस्रव की उपर्युक्त क्रियाएं कषाय प्रेरित होने से बन्धन की कारण हैं। यद्यपि देखा जाय तो उक्त सभी क्रियाओं की बन्धता योग और कषाय पर अवलम्बित है। योग और कषाय ही हैं जो दूसरे के ज्ञान में बाधा पहुँचाना, दूसरे को कष्ट पहुँचाना, दूसरे की निन्दा करना आदि, जिस-जिस प्रकार के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय आदि क्रियाओं में संलग्न होती हैं, उस-उस प्रकार से उन-उन कर्मों का आस्रव और बन्ध कराती हैं। इसमें जो क्रिया प्रधान होती है उससे उस कर्म का बन्ध विशेष रूप से होता है, शेष कर्मों के साथ नहीं।

आठ कर्म और बन्धन

जैन दर्शन में आठ प्रकार के कर्म स्वीकार किये गये हैं, जो कर्म–परमाणु के रूप में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। ये कर्म–परमाणु ही आत्मा के विभिन्न गुणों का घात करते हैं। *उत्तराध्ययन*[२८] के अनुसार कर्म के आठ प्रकार-

(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्य, (६) नाम, (७) गोत्र तथा (८) अन्तराय।

इनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाती प्रकृतियाँ हैं, क्योंकि ये आत्मा के चार मूल गुणों (ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्य) का घात करती हैं। शेष चार अघाती प्रकृतियाँ हैं जो आत्मा के किसी भी गुण का घात नहीं करतीं। कर्म आत्मा को ऐसा रूप प्रदान करता है जो आत्मा का निजी नहीं बल्कि पौद्गलिक (भौतिक) होता है।

ज्ञानावरण कर्म

मोह के उदय से जो व्यक्ति क्रिया करता है, वह सकर्मात्मा कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकर्मात्मा अशुभ कर्म का बन्धन करता है जिससे ज्ञान आवरित होता है। ज्ञान को आवृत करके उसके प्रकाश को घटा देनेवाली प्रकृति ज्ञानावरणीय कर्म कहलाती है।[२९] दूसरी भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं कि जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को ढ़क देता है, उसी प्रकार जो कर्म-वर्गणाएँ आत्मा की ज्ञान शक्ति को ढँक देती हैं और सहज ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनती हैं, वे ज्ञानावरण कर्म कहलाती हैं। ज्ञानावरणीय कर्म का बन्धन क्यों होता है? इसके निम्नलिखित कारण[३०] बताये गये हैं-

१. तत्प्रदोष—तत्त्वज्ञान के निरूपण के समय मन में तत्त्वज्ञान के प्रति, उसके वक्ता के प्रति अथवा उसके साधनों के प्रति द्वेष रखना तत्प्रदोष है।

२. ज्ञान निह्नव—विषय की जानकारी होते हुए भी किसी के पूछे जाने पर यह कहना कि मैं नहीं जानता अथवा मेरे पास वह वस्तु है ही नहीं, ज्ञान निह्नव है।

३. ज्ञान मत्सर्य—ज्ञान के अधिकारी ग्राहक के मिलने पर भी अभ्यस्त ज्ञान को न देने की कलुषित भावना ज्ञान मत्सर्य है।

४. ज्ञानान्तराय- ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनना या कलुषित भावना से ज्ञान प्राप्ति में किसी को बाधा पहुँचाना ज्ञानान्तराय है।

५. ज्ञानासादन-ज्ञानी पुरुष ज्ञान दे रहा हो तब वाणी अथवा शरीर से उसका विरोध करना ज्ञानासादन है।

६. उपघात—किसी के कहे हुए सत्य वचन को विपरीत मति के द्वारा असत्य कहकर दोष निकालना उपघात है।

ज्ञानावरणीय कर्म द्वारा आत्मा की आवरित ज्ञान शक्तियाँ[३१]

१. मतिज्ञानावरण- इसमें ऐन्द्रिक एवं मानसिक ज्ञान क्षमता का अभाव होता है।

२. श्रुतज्ञानावरण - इसके कारण बौद्धिक एवं आगम ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो पाती है।

३. अवधिज्ञानावरण— इस आवरण के कारण अतीन्द्रियज्ञान-क्षमता का अभाव रहता है।

४. मनः पर्यायज्ञानावरण — इसमें दूसरे की मानसिक अवस्थाओं को प्राप्त करने की शक्ति का अभाव होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. **केवल ज्ञानावरण** – इसके रहने पर पूर्ण ज्ञान प्राप्ति की शक्ति का अभाव रहता है।

दर्शनावरण कर्म

जिसके द्वारा दर्शन अर्थात् सामान्य बोध का आवरण हो उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं। ज्ञान से पहले होनेवाला वस्तु तत्त्व का निर्विशेष बोध, जिसमें सत्ता के अतिरिक्त किसी विशेष गुण धर्म की प्राप्ति नहीं होती, दर्शन कहलाता है। दर्शनावरण में आत्मा के इन्हीं गुणों का आवरण होता है। जिस प्रकार द्वार पर किसी द्वारपाल का होना राजा के दर्शन में बाधक होता है, ठीक उसी प्रकार जो कर्म–वर्गणाएँ आत्मा की दर्शन-शक्ति में बाधक हैं वे दर्शनावरणीय कहलाती हैं। दर्शनावरणीय कर्म-बन्धन के कारण निम्नलिखित हैं-

(क) सम्यक्-दृष्टि की निन्दा करना, (ख) असत् मान्यताओं का प्रतिपादन करना, (ग) शुद्ध दृष्टिकोण की उपलब्धि में बाधक बनना, (घ) सम्यक्-दृष्टि पर द्वेष करना, (ङ) सम्यक्-दृष्टि का समुचित विनय एवं सम्मान नहीं करना, (च) सम्यक्–दृष्टि के साथ मिथ्याग्रह सहित विवाद करना आदि।[३२] ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म-बन्ध के कारण परस्पर एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। दर्शनावरण कर्म द्वारा आत्मा के नौ दर्शन गुण आवरित होते हैं- चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला एवं स्त्यानगृद्धि।

दर्शनावरणकर्म द्वारा आत्मा के नौ दर्शन गुणों का आवरित होना[३३]

१. **चक्षु दर्शनावरण** - इस आवरण द्वारा नेत्र शक्ति का आवरण होता है।

२. **अचक्षु दर्शनावरण** - इसमें नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों की अनुभव शक्ति का आवरण होता है।

३. **अवधि दर्शनावरण**- सीमित अतीन्द्रिय दर्शन की उपलब्धि का आवरण होता है।

४. **केवल दर्शनावरण**- पूर्ण दर्शन की उपलब्धि पर आवरण पड़ता है।

५. **निद्रा**- सामान्य निद्रा का होना।

६. **निद्रानिद्रा**- इसमें गहरी निद्रा पर आवरण पड़ता है।

७. **प्रचला**- बैठे-बैठे आनेवाली निद्रा प्रचला निद्रा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. **प्रचला-प्रचला-** चलते-फिरते आनेवाली निद्रा ।

९. **स्त्यानगृद्धि-** जिस निद्रा में प्राणी बड़े–बड़े बल साध्य कार्य कर डालता है।

वेदनीय कर्म

जिससे सुख एवं दुःख का अनुभव हो वह वेदनीय कर्म है। इसके दो प्रकार हैं– असातावेदनीय और सातावेदनीय। दुःखरूप अनुभव का कारण असातावेदनीय कर्म है तथा सुखरूप अनुभव का कारण सातावेदनीय कर्म है।

असातावेदनीय कर्मबन्ध के कारण[३४]

दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिवेदन आदि असातावेदनीय कर्मबन्ध के कारण हैं।

नवपदार्थ ज्ञानसार के अनुसार असातावेदनीय कर्म के बारह कारण हैं (१) किसी भी प्राणी को दुःख देना, (२) चिन्तित बनाना (३) शोकाकुल बनाना, (४) रुलाना, (५) मारना और (६) प्रताड़ित करना आदि। इन छः क्रियाओं की मंदता और तीव्रता के आधार पर इनके बारह प्रकार हो जाते हैं।[३५]

सातावेदनीय कर्मबन्ध के कारण[३६]

असातावेदनीय की भाँति इसके भी छः कारण बताये गये हैं- अनुकम्पा, व्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयमादियोग, क्षान्ति और शौच।

नवपदार्थ ज्ञानसार[३७] में सातावेदनीय कर्मबन्ध के उपर्युक्त कारणों से कुछ अलग हटकर कारण बताये गये है।

(१) पृथ्वी, जल आदि के जीवों पर अनुकम्पा करना। (२) वनस्पति, वृक्ष, लतादि पर अनुकम्पा करना। (३) द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों पर दया करना। (४) पञ्चेन्द्रिय पशुओं एवं मनुष्यों पर अनुकम्पा करना, (५) किसी को भी किसी प्रकार का दुःख न देना। (६) किसी भी प्राणी को चिन्ता एवं भय उत्पन्न हो ऐसा कार्य न करना। (७) किसी भी प्राणी को शोकाकुल नहीं बनाना। (८) किसी भी प्राणी को नहीं रुलाना। (९) किसी भी प्राणी को नहीं मारना। (१०) किसी भी प्राणी को प्रताड़ित नहीं करना।

सातावेदनीय कर्म में शुभाचरण के कारण निम्न सुखद संवेद की प्राप्ति होती है- (१) कर्णप्रिय, सुखद स्वर सुनने को मिलते हैं। (२) मन के अनुरूप सुन्दर रूप देखने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को मिलते हैं। (३) सुगन्ध की संवेदना होती है। (४) सुस्वादु भोजनादि की उपलब्धि होती है। (५) मन के अनुरूप कोमल स्पर्श व आसन शयनादि की उपलब्धि होती है। (६) वांछित सुखों की प्राप्ति होती है। (७) शुभवचन, प्रशंसादि सुनने का अवसर प्राप्त होता है। (८) शारीरिक सुख मिलता है।[३८]

मोहनीय कर्म

चेतना को विकृत या मूर्च्छित करनेवाला कर्मपुद्गल मोहनीय कर्म है। साधारण भाषा में इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि जिससे आत्मा मोह को प्राप्त करती है वह मोहनीय कर्म है। इसके भी दो भेद हैं- दर्शनमोह और चारित्रमोह। जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही समझने या जानने का नाम दर्शन है। दर्शन तत्त्वार्थश्रद्धानरूप आत्मगुण है। इसी प्रकार जिसके द्वारा आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करता है उसे चारित्र कहते हैं, अत: चारित्र को घात करनेवाला कर्म चारित्रमोहनीय कहलाता है। इस कर्म के उदय होने से व्यक्ति हित को अहित समझता है और अहित को हित। विपरीत बुद्धि के कारण उसे तत्त्व का यथार्थ बोध नहीं हो पाता।[३९]

मोहनीय कर्मबन्ध के कारण

नवपदार्थ ज्ञानसार में मोहनीयकर्म-बन्धन के छ: कारण बताये गये हैं - (१) क्रोध, (२) अहंकार, (३) कपट,(४) लोभ,(५) अशुभाचरण और (६) विवेकाभाव।[४०] लेकिन *तत्त्वार्थसूत्र* में[४१] दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के बन्धन के अलग-अलग कारण बताये गये हैं। जो निम्न हैं-

(१) दर्शनमोहनीय– केवली का अवर्णवाद (निन्दा), श्रुत का अवर्णवाद, संघ का अवर्णवाद, धर्म का अवर्णवाद और देवों का अवर्णवाद आदि।

(२) चारित्रमोहनीय– (१) स्वयं कषाय करना तथा दूसरों में कषाय जगाना कषाय मोहनीय कर्म का कारण है। (२) सत्य धर्म का उपहास करना हास्य मोहनीय कर्म-बन्ध का कारण है। (३) विविध क्रीड़ाओं में रत रहना रति मोहनीय कर्मबन्ध का कारण है। (४) दूसरों को व्याकुल करना, किसी भी शांति में विघ्न डालना आदि अरतिमोहनीय कर्मबन्ध का कारण है। (५) स्वयं शोकातुर रहना तथा दूसरों को भी शोकातुर करना शोक मोहनीय कर्मबन्ध का कारण है। (६) स्वयं डरना और दूसरों का डराना भय मोहनीय कर्मबन्ध का कारण है। (७) हितकर क्रिया और हितकर आचरण से घृणा करना जुगुप्सा मोहनीय कर्मबन्ध का कारण है। (८-१०) स्त्रीजाति के योग्य, पुरुष जाति के योग्य तथा नपुंसक जाति के योग्य संस्कारों का अभ्यास करना क्रमश: स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद बन्ध के कारण हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समवायांग [४२] में तीव्रतम मोहनीयकर्म बन्ध के तीस कारण बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं-

(१) जो त्रस प्राणी को पानी में डूबाकर उसका प्राणघात करता है।

(२) जो त्रस प्राणी को उसके मस्तक में गीला चमड़ा बांध कर मारता है।

(३) जो त्रस प्राणी को उसका मुँह बांधकर मारता है।

(४) जो त्रस प्राणी को अग्नि के धुँए में घुट-घुटकर मारता है।

(५) जो किसी त्रस प्राणी को मस्तक का छेदन करके मारता है।

(६) जो किसी त्रस प्राणी को छल से मारकर हँसता है।

(७) जो असत्य बोलकर अपना अनाचार छिपाता है।

(८) जो अपने दुराचार को छिपाकर दूसरे पर कलंक लगाता है।

(९) जो कलह बढ़ाने के लिए सब कुछ जानता हुआ भी मिश्रित भाषा का प्रयोग करता है।

(१०) जो पति-पत्नी में कलह पैदा करता है तथा उन्हें मार्मिक वचनों से झेपा देता है।

(११) जो स्त्री में आसक्त व्यक्ति अपने-आप को कुँवारा कहता है।

(१२) जो व्यक्ति अत्यन्त कामुक होते हुए भी अपने को ब्रह्मचारी कहता है।

(१३) जो चापलूसी करके अपने मालिक को ठगता हो।

(१४) जो जिनकी कृपा से समृद्ध बना है, ईर्ष्यावश उनके ही कार्यों में विघ्न डालता है।

(१५) जो अपने उपकारी की हत्या करता है।

(१६) जो प्रसिद्ध पुरुष को असंयम के पथ पर अग्रसर करता है।

(१७) जो प्रमुख पुरुष का प्राणघात करता है।

(१८) जो संयमी पुरुष को असंयम के पथ पर अग्रसर करता है।

(१९) जो महान् पुरुषों की निन्दा करता है।

(२०) जो न्याय मार्ग की निन्दा करता है।

(२१) जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु की निन्दा करता है।

(२२) जो अबहुश्रुत होते हुए भी अपने-आप को बहुश्रुत कहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२३) जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु का अविनय करता है।

(२४) जो तपस्वी न होते हुए भी अपने-आप को तपस्वी कहता है।

(२५) जो अस्वस्थ आचार्य आदि की सेवा नही करता ।

(२६) जो आचार्य आदि कुशास्त्र का प्रयोजन करते हैं।

(२७) जो आचार्य आदि अपनी प्रशंसा के लिए मंत्रादि का प्रयोग करते हैं।

(२८) जो इहलोक और परलोक में भोगोपभोग पाने की अभिलाषा करते हैं।

(२९) जो देवताओं की निन्दा करते हैं या दूसरों से करवाते हैं।

(३०) जो असर्वज्ञ होते हुए भी अपने आपको सर्वज्ञ कहते हैं।

आयु कर्म

नारक, देव, मनुष्य और तिर्यञ्च आदि शरीरों में किसी निश्चित काल पर्यन्त तक जीव-द्रव्य को रोकनेवाला आयुकर्म है । अर्थात् जिससे भव का धारण हो उसे आयु कर्म कहते हैं। आयु कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीता है और क्षय से मरता है। आयु दो प्रकार की होती है- अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। बाह्य निमित्तों से जो आयु कम हो जाती है, अर्थात् नियत समय से पूर्व समाप्त हो जाती है उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं, इसे ही अकालमृत्यु कहा जाता है। जो आयु नियत समय पर समाप्त हो उसे अनपवर्तनीय आयु कहते हैं।[४३]

आयु कर्म के चार प्रकार हैं- (१) नरकायु, (२) तीर्यञ्चायु (३) मनुष्यायु और (४) देवायु । *तत्त्वार्थसूत्र* में इन चारों आयु कर्मबन्ध के कारण बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं-

नारकीय जीवन बन्ध के कारण[४४]- प्राणियों को दुःख पहुँचे ऐसी कषायपूर्वक प्रवृत्ति करना, यह वस्तु मेरी है और मैं इसका स्वामी हूँ– ऐसा संकल्प करना, हिंसादि क्रूर कार्यों में सतत् प्रवृत्ति का होना तथा भोगों में अत्यन्त आसक्त रहना आदि नरकायु बन्ध के कारण हैं।

तिर्यञ्चायु कर्मबन्ध के कारण[४५]–माया अर्थात् छल प्रपंच करना अथवा कुटिलभाव रखना। धर्मतत्त्व के उपदेश में धर्म के नाम से मिथ्या बातों को मिलाकर उनका स्वार्थ-बुद्धि से प्रचार करना तथा जीवन को शील से दूर रखना आदि सब माया है। यही माया तिर्यञ्च-आयु के बन्ध का कारण है। *कर्मग्रन्थ* में कपट करना, रहस्यपूर्ण कपट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना, असत्य भाषण करना, कम-ज्यादा तोल-माप करना आदि तिर्यञ्च-आयु बन्ध के कारण बताये गये हैं।[४६]

मनुष्यायु कर्मबन्ध के कारण[४७]—आरम्भवृत्ति और परिग्रहवृत्ति कम रखना तथा स्वभावत: अर्थात् बिना कुछ कहे-सुने मृदुता और सरलता का होना मनुष्य आयु के बन्धन के कारण हैं।

देवायु कर्मबन्ध के कारण[४८]– (१) सरागसंयम – हिंसा, असत्य, चोरी आदि महान दोषों से विरत होने के बाद भी कषायों के कुछ अंश का शेष रहना सरागसंयम है। (२) संयमासंयम–हिंसा विरति आदि व्रतों का अल्पांश में धारण करना संयमासंयम है। (३) अकाम निर्जरा–पराधीनता के कारण अहितकर प्रवृत्ति अथवा आहार आदि का त्याग अकाम निर्जरा है। (४) बाल तप–बालभाव से अर्थात् बिना विवेक के अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश, पर्वत-प्रपात, विष-भक्षण, अनशनादि देहदमन क्रियायें करना बालतप है।

नाम कर्म

जिससे विशिष्ट गति, जाति आदि की प्राप्ति हो वह नाम कर्म है। जिस प्रकार चित्रकार विभिन्न रंगों से अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म विभिन्न परमाणुओं से जगत के प्राणियों के शरीर की रचना करता है।[४९] नाम कर्म के दो प्रकार हैं- शुभ नाम कर्म और अशुभ नाम कर्म ।

शुभ नाम कर्म के बन्ध के कारण– (i) मन, वचन और काय की सरलता तथा (ii) सम्पादन यानी दो व्यक्तियों के भेद को मिटाकर एकता करा देना अथवा गलत रास्ते पर जानेवाले को सही रास्ते लगा देना शुभ नाम कर्मबन्ध का कारण है।[५०]

अशुभ नाम कर्म के बन्ध के कारण– (i) योगवक्रता यानी मन, वचन और काय की कुटिलता तथा (ii) विसंवादन अर्थात् अन्यथा प्रवृत्ति करना अथवा दो स्नेहियों के बीच भेद पैदा करना अशुभ नाम कर्मबन्ध का कारण है।[५१]

शुभनाम कर्म से प्राप्त फल– *नवपदार्थ ज्ञानसार* में शुभ नामकर्म से प्राप्त चौदह प्रकार के व्यक्तित्व-विपाक बताये गये हैं - (i) अधिकारपूर्ण प्रभावक वाणी ii) सुन्दर शरीर, (iii) शरीर से नि:सृत होनेवाले मलों में भी सुगंधि, (iv) जैवीय रसों की समुचितता (v) त्वचा का सुकोमल होना, (vi) अचपल योग्य गति, (vii) अंगों का समुचित स्थान पर होना, (viii) लावण्य, (ix) यश कीर्ति का प्रसाद, (x) योग्य शारीरिक शक्ति, (xi) लोगों को रुचिकर लगे ऐसा स्वर, (xii) कान्त स्वर, (xiii)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रिय स्वर और (xiv) मनोज्ञ स्वर।[५२]

इसी प्रकार अशुभ नामकर्म से प्राप्त व्यक्तित्व के बारे में भी वर्णन आया है जो ठीक उपर्युक्त व्यक्तित्व विपाक के विपरीत है।

अशुभ नाम कर्म से प्राप्त फल – (i) अप्रभावक वाणी, (ii) असुन्दर शरीर (iii) शारीरिक मलों का दुर्गन्ध युक्त होना (iv) जैवीय रसों की असमुचितता, (v) अप्रिय स्पर्श, (vi) अनिष्ट गति (vii) अंगों का समुचित स्थान पर न होना (viii) सौन्दर्य का अभाव, (ix) अपयश, (x) पुरुषार्थ करने की शक्ति का अभाव, (xi) हीन स्वर, (xii) दीन स्वर, (xiii) अप्रिय स्वर और (xiv) अकान्त स्वर।[५३]

गोत्र कर्म

जीव का अच्छी दृष्टि से देखा जाना या तुच्छ दृष्टि से देखा जाना, उच्च कुल में होना या नीच कुल में होना या दीन-हीन होना ये सब गोत्र कर्म पर निर्भर करता है। इसके भी दो प्रकार हैं- उच्च गोत्र कर्म और नीच गोत्र कर्म।

उच्च गोत्र कर्मबन्ध के कारण[५४]– (i) आत्मनिन्दा, (ii) पर-प्रशंसा, (iii) आच्छादन, (iv) अनुत्सेक अर्थात् ज्ञान सम्पत्ति आदि में दूसरे से अधिकता होने पर भी उसके कारण गर्व न करना।

नीच गोत्र कर्मबन्ध के कारण[५५] – (i) पर-निन्दा (ii) आत्मप्रशंसा (iii) आच्छादन (iv) उद्भावन अर्थात् अपने में गुण न होने पर भी उनका प्रदर्शन करना।

गोत्र कर्म से प्राप्त फल[५६]– उच्च गोत्र का पालन करने से निम्नलिखित फलों की प्राप्ति होती है- (i) निष्कलंक भ्रातृ-पक्ष, (ii) प्रतिष्ठित पितृ-पक्ष, (iii) सबल शरीर (iv) सौन्दर्य युक्त शरीर (v) उच्च साधना एवं तप (vi) तीव्र बुद्धि (vii) लाभ एवं विधि उपलब्धियाँ और (viii) अधिकार स्वामित्व। ठीक इसके विपरीत नीच गोत्र कर्म का पालन करनेवाले अहंकारी व्यक्तित्व के व्यक्ति को उपर्युक्त फलों से वंचित रहना पड़ता है।

अन्तराय कर्म

जिससे दान देने-लेने या भोगादि में विघ्न पड़ता है, वह अन्तराय कर्म है।[५७] या यूँ कहा जा सकता है कि अभीप्सित वस्तु की प्राप्ति में बाधा पहुँचानेवाला कर्म अन्तराय-कर्म कहलाता है। अन्तराय का अर्थ ही होता है- 'विघ्न'। इसके पाँच प्रकार हैं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) दानान्तराय, (ii) लाभान्तराय (iii) भोगान्तराय (iv) उपभोगान्तराय और (v) वीर्यान्तराय[५८]।

जैसा कि हम लोगों ने पूर्व में देखा है कि उपर्युक्त आठों कर्म घाती और अघाती कर्म में विभक्त हैं। घाती कर्म जिसमें अविद्या रूपी मोहनीय कर्म ही आत्मा की आवरित करने की क्षमता, तीव्रता और स्थितिकाल की दृष्टि से प्रमुख है। सही अर्थों में मोहनीय कर्म के कारण ही कर्मबन्ध का सतत्-प्रवाह बना रहता है। मोहनीय कर्म ही संसार-चक्र का मूल कारण है, शेष घाती कर्म उसके सहयोगी मात्र है। जिस प्रकार बीज में अंकुरण शक्ति होती हैं, किन्तु उगने हेतु उसे हवा, पानी आदि के सहयोग की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मोह रूपी कर्मबीज व कर्म परम्परा को सतत् बनाये रखने के लिए ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय रूपी हवा, पानी आदि के सहयोग की आवश्यकता होती है। मोहकर्म के हटते ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि का पर्दा हट जाता है, सारी बाधायें हट जाती हैं और आत्मा जीवन्मुक्त हो जाती है। अघाती कर्म भूने हुए बीज की भाँति होता है जो समय की परिपक्वता के साथ ही अपना फल देकर सहज ही अलग हो जाता है।

मोक्ष का स्वरूप

जीव और पुद्गल (कर्म) के संयोग को बन्धन कहते हैं अर्थात् जीव और अजीव का संयोग बन्धन तथा दोनों का वियोग मोक्ष है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि जीव और पुद्गल का सम्बन्ध कर्म के कारण होता है और जीव का पुद्गल से वियोग भी कर्म के कारण ही होता है अर्थात् कर्मबन्धन से छूटना ही मोक्ष है। मोक्ष का निरूपण करते हुए *उमास्वाति* ने कहा है- बन्धन के हेतुओं का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा सभी कर्मों का नष्ट हो जाना ही मोक्ष है।[५९] इसी प्रकार आचार्य तुलसी ने कहा है- समस्त कर्मों का क्षय करके आत्मा का अपने स्वरूप में स्थिर हो जाना मोक्ष है।[६०] किन्तु यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि कर्मबन्धन की प्रक्रिया तो अनादि है फिर इस प्रकार उसका अन्त कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य *अकलंकदेव* ने कहा है -" जिस प्रकार बीज और अंकुर की परम्परा अनादि है, किन्तु यदि किसी बीज को अग्नि में जला दिया जाता है तो फिर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता और बीजांकुर की परम्परा का नाश हो जाता है, ठीक उसी प्रकार कर्मबन्ध के जो बीज मिथ्यादर्शन आदि हैं उनका नाश कर देने पर कर्मबन्ध नहीं होता है।"[६१]

जैनदर्शन के अनुसार सभी कर्मों का क्षय हो जाना ही मोक्ष है। निर्जरा की स्थिति में चार घातीय कर्मों का क्षय हो जाता है-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तराय। यह सदेहमुक्ति की स्थिति है। आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय आदि अघातीय कर्मों का क्षय नहीं होता। फलत: जीव के नाम, गोत्र, आदि बने रहते हैं और जब जीव शरीर का परित्याग कर देता है, तभी मोक्ष या विदेह-मुक्ति की प्राप्ति होती है। विदेह-मुक्ति ही मोक्ष है।

बन्धन और मोक्ष की प्रक्रिया को समझाते हुए डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा ने लिखा है-"कर्म-सम्पर्क और कर्म-विच्छेद की प्रक्रिया में चार स्थल आते हैं - (i) आस्रव, (ii) बन्ध (iii) संवर और (iv) निर्जरा। इनमें से प्रथम दो बंधन से और शेष दो मोक्ष से सम्बन्धित हैं। कर्मों का जीव के निकट आना आस्रव, कर्मों के द्वारा जीव का प्रभावित हो जाना बन्धन, आते हुए कर्मों को जीव के द्वारा रोकना संवर तथा आए हुए कर्मों को भोगना अथवा फलाभाव करना निर्जरा है। इन्हें हम एक उदाहरण के द्वारा स्पष्टत: समझ सकते हैं। किसी व्यक्ति के घर के निकट एक गड्ढ़ा है, जिसमें पानी एकत्रित होता रहता है और पानी के सड़ जाने से दुर्गन्ध फैलती है। वह व्यक्ति दुर्गन्ध से मुक्त होना चाहता है। इसके लिए उसे क्या करना चाहिए? (i) गड्ढ़े में पानी आ रहा है। (ii) गडढ़े में एकत्रित होकर तथा सड़कर पानी दुर्गन्ध फैला रहा है। (iii) आते हुए पानी को रोक दिया जाए ताकि गड्ढ़े में पानी एकत्रित न हो और उससे दुर्गन्ध पैदा न हो । (iv) जितना पानी आ चुका है उसे बाहर फेंक दिया जाए अथवा धूप में सूख जाने के लिए छोड़ दिया जाए। यही चार स्थितियाँ आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा की है। गड्ढे में पानी का आना मानों कर्मों का जीव के पास आना (आस्रव), पानी का एकत्रित होना तथा सड़कर दुर्गन्ध फैलाना मानों जीव पर कर्मों के द्वारा अपना प्रभाव फैलाना (बन्ध) है, गड्ढ़े में आते हुए पानी को रोक देना ताकि पानी एकत्रित होकर दुर्गन्ध न फैला सके मानों जीव के द्वारा अपने सम्पर्क में आते हुए कर्मों को रोकना है ताकि कर्मों का प्रभाव बढ़े नहीं (संवर) और गड्ढ़े में एकत्रित पानी को बाहर फेंक देना मानों जीव के पास आए हुए कर्मों को समाप्त करना (निर्जरा) है।"[६२] निर्जरा की स्थिति में साधक कैवल्य प्राप्त करके सर्वज्ञ हो जाता है। यही जीवन्मुक्त या सदेहमुक्त की स्थिति होती है। परन्तु जब सम्पूर्ण कर्म अर्थात् घातीय और अघातीय दोनों कर्म समाप्त हो जाते हैं तब जाकर जीव को विदेहमुक्ति की प्राप्ति होती है। विदेह मुक्ति ही पूर्ण मोक्ष की स्थिति है।

मोक्ष के उपाय (मार्ग)

तत्त्वार्थसूत्र में *उमास्वाति* ने मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग बतलाये हैं- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र।[६३] इन तीनों के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सहजत: होती है। जैन दर्शन में इन्हें 'त्रिरत्न' के नाम से जाना जाता है।ये मानो मानव जीवन के अलंकरण हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ठीक इसके विपरीत 'मिथ्यादर्शन', मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार के मार्ग कहे गये हैं।[६४] जब सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र तीनों साधन परिपूर्ण रूप से प्राप्त होते हैं, तभी सम्पूर्ण मोक्ष सम्भव होता है। इन तीनों में से किसी एक के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। भगवान् *महावीर* ने कहा है - जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-आचरण सम्पन्न होते हैं, वे मुक्त होते हैं।[६५]

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और सम्यक् –तप का विस्तृत वर्णन पूर्व में द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है, जिसका पुन: विवेचन करना उचित नहीं जान पड़ता। लेकिन इनके अतिरिक्त भी मोक्षमार्ग के तत्त्व बताये गये हैं, जो निम्नलिखित हैं-

दश धर्म

जैन परम्परा में दश प्रकार के धर्मों का वर्णन किया गया है जो गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए समान रूप से आचरणीय है। *आचारांग* में आठ सामान्य धर्मों का उल्लेख मिलता है। कहा गया है कि जो धर्म में उत्थित अर्थात् तत्पर हैं उनको और जो धर्म में उत्थित नहीं हैं उनको भी निम्नलिखित बातों का उपदेश देना चाहिए- शांति, निरति, उपशम, निवृत्ति, शौच, आर्जव, मार्दव और लाघव।[६६] *स्थानांग*[६७] और *समवायांग*[६८] में भी इन्हीं धर्मों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि *स्थानांग* एवं *समवायांग* की सूची *आचारांग* से थोड़ी भिन्न है। *तत्त्वार्थसूत्र* के अनुसार दस धर्म[६९] निम्नलिखित हैं-

क्षमा–क्षमा का अर्थ होता है- अनुचित व्यवहार के बाद भी किसी व्यक्ति के प्रति मन में आये क्रोध को विवेक तथा नम्रता से निष्फल कर डालना।[७०] *दशवैकालिक* में कहा गया है- क्रोध प्रीति का विनाशक है।[७१] क्रोध कषाय के उपशमन के लिए क्षमा धर्म का विधान है। क्षमा के द्वारा ही क्रोध पर विजय प्राप्त किया जा सकता है।[७२] क्षमा-साधना के पाँच उपाय हैं[७३]-

(१) अपने में क्रोध के निमित्त के होने या न होने का चिन्तन करना।

(२) क्रोधवृत्ति के दोषों का विचार करना।

(३) बाल स्वभाव का विचार करना।

(४) अपने किये हुए कर्म के परिणाम का विचार करना।

(५) क्षमा के गुणों का चिन्तन करना।

जैन साधक का प्रतिदिन का यह उद्घोष होता है कि मैं सभी प्राणियों को क्षमा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता हूँ और सभी प्राणी मेरे अपराधों के लिए मुझे क्षमा करें। सभी प्राणियों से मेरी मित्रता है, किसी से मेरा वैर नहीं है।[७४]

मार्दव–ऐसा आचरण जिससे व्यक्ति अपने को दूसरों से बड़ा न समझें, या जिससे अपनी प्रशंसा और सम्मान की चाह न हो, वह मार्दवधर्म का द्योतक है। *तत्त्वार्थसूत्र* में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है- चित्त में मृदुता और व्यवहार में नम्रवृत्ति का होना मार्दव गुण है। इसकी सिद्धि के लिए जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, विज्ञान (बुद्धि), श्रुत (शास्त्र लाभ), वीर्य (शक्ति) के विषय में गर्वित न होना और इन वस्तुओं की विनश्वरता का विचार करके अभिमान के काँटें को निकाल फेंकना मार्दव धर्म है।[७५]

आर्जव–भाव की विशुद्धि अर्थात् विचार, भाषण और व्यवहार की एकता आर्जव गुण है[७६] या दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है— आचरण में मन,वचन और कर्म में एकरूपता होना आर्जव धर्म का द्योतक है। परन्तु इसकी प्राप्ति के लिए मन में भावों की निर्मलता और अभिप्राय का शुभ होना आवश्यक है।

शौच–साधारणतया शौच का अर्थ शुद्धता या सफाई से ग्रहण किया जाता है, लेकिन यहाँ मात्र बाहरी या शारीरिक शुद्धता से नहीं बल्कि शौच का अर्थ आत्मिक शुद्धि से है। इतना ही नहीं धर्म के साधनों तथा शरीर तक में भी आसक्ति न रखना शौच है।[७७]

सत्य–सत्पुरुषों के लिए हितकारी व यथार्थ वचन बोलना ही सत्य वचन है।[७८] दूसरी भाषा में जो वास्तविक रूप में है उसे वैसा ही जानना, वैसा ही मानना, वैसा ही कहना और उसको वैसे ही आचरण में लाना सत्य धर्म है।

संयम– मन, वचन और काय का नियमन करना अर्थात् विचार, वाणी और गति, स्थिति आदि में सावधानी से अभ्यास करना संयम है।[७९] संयम के सतरह प्रकार बताये गये हैं- पांच इन्द्रियों का निग्रह, पांच अव्रतों का त्याग, चार कषायों की जय तथा मन, वचन और काय की विरति-ये सतरह प्रकार के संयम हैं।

तप– तप जैन साधना का प्राण है। तप को परिभाषित करते हुए पं० सुखलाल संघवी ने कहा है- मलिन वृत्तियों को निर्मूल करने के लिए, अपेक्षित शक्ति की साधना के लिए किया जानेवाला आत्मदमन तप है।[८०] दूसरी भाषा में कहा जा सकता है कि वासनाओं को क्षीण करने तथा समुचित आध्यात्मिक शक्ति की साधना के लिए शरीर, इन्द्रिय और मन को जिन-जिन उपायों से तपाया जाता है, वे सभी तप कहे जाते हैं। आगम के प्रसिद्ध चूर्णिकार *जिनदासगणी महत्तर* ने तप की व्युत्पत्तिजन्य परिभाषा करते हुए कहा है- *तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपो*[८१] अर्थात् जिस साधना से, उपासना से पापकर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप्त हो जाते हैं उसे तप कहते हैं। तप का विस्तृत वर्णन द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है, अत: वहाँ देखें।

त्याग—सामान्य रूप से त्याग का अर्थ होता है— छोड़ना । अप्राप्तभोगों की इच्छा नहीं करना और प्राप्त भोगों से विमुख होना ही त्याग है। नैतिक जीवन में त्याग आवश्यक माना गया है। बिना त्याग के नैतिक रहना संभव नहीं है। साधु जीवन और गृहस्थ जीवन दोनों के लिए त्याग धर्म आवश्यक बताया गया है। साधु जीवन में जो कुछ भी उपलब्ध है या नियमानुसार ग्राह्य है, उनमें से कुछ को नित्य छोड़ते रहना या त्याग करते रहना जरूरी है। इसी प्रकार गृहस्थ को न केवल अपनी वासनाओं और भोगों की इच्छा का त्याग करना होता है, वरन् अपनी सम्पत्ति का दान एवं परिग्रह के रूप में त्याग करते रंहना आवश्यक बताया गया है।[८२]

आकिञ्चन्य–किसी भी वस्तु में ममत्वबुद्धि न रखना आकिञ्चन्य है।[८३] जगत में जितने भी अनाचार, दुराचार, हिंसा, झूठ, चोरी आदि प्रवृत्तियाँ होती हैं उनमें से अधिकतर का मूलकारण संग्रहप्रवृत्ति होती है और इसी संग्रहप्रवृत्ति से बचना आकिञ्चन्यता का मुख्य उद्देश्य है।

ब्रह्मचर्य—विद्वानों ने निज आत्मा में लीनता को ब्रह्मचर्य कहा है। परन्तु लौकिक जीवन में ब्रह्मचर्य से तात्पर्य कामभोग के त्याग से लिया जाता है। पं० सुखलाल संघवी के अनुसार त्रुटियों से दूर रहने के लिए ज्ञानादि सद्गुणों का अभ्यास करना एवं गुरु की अधीनता के सेवन के लिए ब्रह्म (गुरुकुल) में चर्य (बसना) ब्रह्मचर्य है।[८४] यहाँ पंडितजी ने ब्रह्म का अर्थ गुरुकुल ग्रहण किया है। गृहस्थ और उपासक दोनों के लिए ब्रह्मचर्य धर्म आवश्यक बताया गया है। दोनों को अपनी-अपनी मर्यादा के अनुकूल और निष्ठा से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

चार भावनाएँ

मैत्री, प्रमोद आदि चार भावनाएँ पंचव्रतों की प्राप्ति में उपकारक का कार्य करती हैं। भगवान् *महावीर* ने कहा है कि व्यक्ति को प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीवृत्ति, गुणीजनों के प्रति प्रमोदवृत्ति रखनी चाहिए।[८५]

मैत्री—मैत्री का विषय प्राणीमात्र है। मैत्री का अर्थ होता है— दूसरे में अपनेपन की बुद्धि । इसीलिए अपने समान ही दूसरे को दु:खी न करने की वृत्ति अथवा भावना रखना मैत्रीवृत्ति है।[८६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणीजनों के प्रति प्रमोदवृत्ति– प्रमोद अर्थात् अपने से अधिक गुणवान के प्रति आदर रखना तथा उसके उत्कर्ष को देखकर प्रसन्न होना। इस भावना का विषय अधिक गुणवान ही है, क्योंकि उसके प्रति ही ईर्ष्या या असूया आदि दुर्वृत्तियाँ सम्भव हैं। जब तक इस वृत्ति का नाश नहीं हो जाता तब तक अहिंसा, सत्य आदि व्रत नहीं टिकते हैं।[८७]

करुणावृत्ति–प्राणीमात्र के प्रति करुणा की भावना रखनी चाहिए। इस भावना का विषय केवल क्लेश से दुःखी प्राणी है, क्योंकि दुःखी, दीन व अनाथ को ही अनुग्रह या मदद की अपेक्षा रहती है। यदि किसी पीड़ित को देखकर भी अनुकम्पा, अनुग्रह का भाव पैदा नहीं होता है तो अहिंसा का पालन असंभव है। इसलिए जैनधर्म में करुणा की भावना आवश्यक मानी गयी है।

माध्यस्थ्यवृत्ति–माध्यस्थ्य भावना का विषय अविनयी या अयोग्य पात्र है। माध्यस्थ्य का अर्थ होता है- उपेक्षा या तटस्थता। जब नितान्त संस्कारहीन अथवा किसी भी तरह की सद्वस्तु ग्रहण करने के अयोग्य पात्र मिल जाय अथवा यदि उसे सुधारने के सभी प्रयत्नों का परिणाम अन्ततः शून्य ही दिखाई दे, तो ऐसे व्यक्ति के प्रति तटस्थ भाव रखना ही उचित है।[८८]

बौद्ध परम्परा में बन्धन-मोक्ष

जैन परम्परा में हमने देखा कि आस्रव ही बन्धन का मूल कारण है। अतः जैन परम्परा की ही भाँति बौद्ध परम्परा में भी आस्रव को ही बन्धन का कारण माना गया है। बौद्ध परम्परा के अनुसार आस्रव के तीन प्रकार हैं- (१) काम, (२) भव और (३) अविद्या।[८९] जिनमें अविद्या को प्रमुख माना गया है। लेकिन अविद्या या मिथ्यात्व अकारण नहीं वरन् आस्रव-प्रसूत है। भगवान् बुद्ध ने जहाँ अविद्या को आस्रव का कारण माना है वहीं उन्होंने यह भी बताया है कि आस्रवों के समुदय से अविद्या का समुदय होता है।[९०] इस प्रकार आस्रव को अविद्या का मूल कारण माना गया है। लेकिन आस्रव से अविद्या और अविद्या से आस्रव की यह परम्परा चलती रहती है। अविद्या के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध ने कहा है - "भिक्षुओं अविद्या के आरम्भ का पता नहीं चलता जिससे ये कहा जा सके कि इसके पहले अविद्या न थी और इसके बाद वह उत्पन्न हुई।[९१] ऐसे ही यह संसार -चक्र अनादि है इसके आरम्भ का पता नहीं चलता, इसकी पूर्व कोटि जानी नहीं जाती।[९२] यह सत्य भी है अविद्या और तृष्णा से संचालित भटकते फिरते मनुष्यों की पूर्वकोटि का पता नहीं चलता। जब तक मनुष्य यह नहीं जानना चाहेगा कि दुःख का स्वरूप क्या है? उसके समुदय, निरोध और निरोध मार्ग क्या हैं? तो फिर यह निश्चित ही है कि वह नाना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योनियों में भटकते हुए जन्ममरण की परम्परा में संलग्न रहेगा। बुद्ध ने जन्म-मरण की इस परम्परा को बारह कड़ियों में सूत्रबद्ध किया है, जो इस प्रकार है-

(१) अविद्या—अज्ञान को अविद्या कहते हैं। यही चैतसिक मोह है। बौद्ध-परम्परा में दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध और दुःख निरोध–मार्ग रूपी चार आर्य सत्य सम्बन्धी अज्ञान ही अविद्या है। अविद्या ही संसार में आवागमन का मूलाधार है। अविद्या दो प्रकार की होती है- (i) घनीभूत अविद्या तथा, (ii) तनुभूत अविद्या। कुशल, अकुशल कर्मों और उनके इष्टानिष्ट फल को न जानना घनीभूत अविद्या है और कुशल को कुशल समझकर उसका समाधान करना तथा अकुशल को अकुशल समझकर उनसे विरत होना तनुभूत अविद्या है। ऐसी बात नहीं है तनुभूतावस्था में अविद्या नहीं रहती, बल्कि उसमें भी अविद्या होती है, क्योंकि अविद्या का सर्वथा प्रहाण अर्हतावस्था में ही होता है, फिर भी इस बीच की अविद्या तनुभूत अविद्या कहलाती है।

अविद्या एक प्रत्यय है जो हमारे वर्तमान बाह्य एवं आन्तरिक जीवन संस्कारों के लिए उत्तरदायी है, क्योंकि अविद्या से ही संस्कारों की उत्पत्ति होती है।

(२) संस्कार—कुशल-अकुशल, कायिक, वाचिक और मानसिक चेतनाएँ जो जन्म-मरण परम्परा का कारण बनती हैं, संस्कार कहलाती हैं।[९३] इन्हें मानसिक वासना भी कहा जाता है। इनके तीन प्रकार हैं- (i) पुण्याभिसंस्कार (ii) अपुण्याभिसंस्कार तथा (iii) अन्योन्याभिसंस्कार। इनमें कामवचन आदि आठ कुशल चित्तो में सम्प्रयुक्त आठ चेतनाएँ तथा रूपावचर आदि पाँच कुशल चित्तों में सम्प्रयुक्त पाँच चेतनाएँ, कुल तेरह चेतनाएँ पुण्याभिसंस्कार कहलाती हैं। ठीक इसके विपरीत बारह अकुशल चित्तो में सम्प्रयुक्त बारह चेतनाएँ अपुण्याभिसंस्कार तथा अरूपावचर आदि चार कुशल चित्तों में सम्प्रयुक्त चार चेतनाएँ अन्योन्याभिसंस्कार हैं। संस्कारों से विज्ञान की उत्पत्ति होती है।

(३) विज्ञान—विज्ञान संस्कारजन्य होता है। विज्ञान चेतना को कहते हैं। दूसरी भाषा में यह कहा जा सकता है कि विज्ञान का तात्पर्य उन चित्तधाराओं से है जो पूर्वजन्म में किए हुए कुशल या अकुशल कर्मों के विपाकस्वरूप प्रकट होते हैं और जिनके कारण व्यक्ति को अपने विषय में आँख, कान, नाक, जिह्वा, शरीर आदि विषयक अनुभूति होती है अर्थात् विज्ञान इन्द्रियों की ज्ञान सम्बन्धी चेतना/क्षमता का आधार एवं निर्धारक है।[९४] *निदानसुत्त* में कहा गया है कि यदि अविद्या और तृष्णा के अशेष निरोध से कुशल, अकुशल अथवा अव्याकृत संस्कार उत्पन्न न हो तो फिर माता के गर्भ में पुनः विज्ञान का बीज पड़ता ही नहीं, अर्थात् पुनर्जन्म ही नहीं होता।[९५] तात्पर्य है कि संस्कार से पुनर्जन्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपी बीज का वपन होता है।

(४) नामरूप—विज्ञान के प्रत्यय से नाम और रूप की निष्पत्ति होती है। बौद्ध दर्शन में समस्त जगत व्यापार (बाह्य और आध्यात्मिक) को पाँच स्कन्धों में विभक्त किया गया है- रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। जिनमें प्रथम स्कन्ध रूप है और बाद के चार स्कन्ध नाम के अन्तर्गत आते हैं।[९६] जगत की जितनी भी स्थूल चीजें हैं सभी रूप हैं और जितने भी सूक्ष्म मानसिक धर्म हैं वे नाम हैं। *दीघनिकाय* के *महासतिपट्ठानसुत्त* में कहा गया है कि जगत में जितने भी रूप हैं, चाहे वे भूतकाल के हों चाहें वर्तमानकाल के हों या चाहे भविष्य काल के हों, अपने अंदर के हों या बाहर के, स्थूल हों या सूक्ष्म, बुरे हों या भले, दूर हों या समीप; वे सब रूप उपादान के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार वेदना-उपादान-स्कन्ध, संज्ञा-उपादान-स्कन्ध, संस्कार-उपादान-स्कन्ध और विज्ञान-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत जो कुछ भी आते हैं वे सब नाम से अभिधेय हैं।[९७] रूप भौतिक है और नाम चेतन विज्ञान सहित। नामरूप से ही जन्म लेना, बूढ़ा होना, मरनाच्युत होना आदि होता है।

(५) षडायतन—नामरूप के प्रत्यय से षडायतन उत्पन्न होते हैं। षडायतन से तात्पर्य है- पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन। गर्भस्थ शरीर और मन यदि न हो तो षडायतन नहीं होगा। गर्भावस्था, जो शरीर का रूप होता है, वह और मन न हो जिसे नामरूप कहते हैं तो षडायतन नहीं हो सकता। तात्पर्य है कि वेदना, संज्ञा, संस्कार (नाम) आदि नहीं होते, यदि चार महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) और इनसे निर्मित विकार (रूप) नहीं होते तो इन्द्रियों की अनुभूतियाँ भी कहाँ से आतीं।

(६) स्पर्श—षडायतन से स्पर्श की उत्पत्ति होती है। इन्द्रिय और विषय का संयोग ही स्पर्श है। चक्षु संस्पर्श, श्रोत्र संस्पर्श, घ्राण संस्पर्श, जिह्वा संस्पर्श, काय संस्पर्श एवं मन संस्पर्श— ये छः स्पर्श हैं। ये सभी कुशल या अकुशल कर्म के विपाक होते हैं।

(७) वेदना—स्पर्श वेदना का कारण है। इन्द्रियों के होने पर उनका अपने-अपने विषयों से सम्पर्क होता है और वह सम्पर्क हमारे मन पर प्रभाव डालता है। इन्द्रिय और विषय के संयोग से उत्पन्न मन पर पड़नेवाला प्रथम प्रभाव वेदना कहलाता है। नाक और उसके विषय के स्पर्श से तदनुकूल वेदना, कान और उसके विषय के स्पर्श से तद्नुकूल वेदना, ऐसे ही आँख, जिह्वा, त्वचा और मन से उत्पन्न विभिन्न वेदनाएँ हैं। वेदना चार प्रकार की मानी गयी हैं- सुखरूप वेदना, दुःखरूप वेदना, सुख-दुःखरूप वेदना तथा असुख-अदुःख रूप वेदना। चेतना से प्रत्येक प्रकार की वेदना अनिवार्य रूप से सम्बद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहती है। यदि इन्द्रियों से स्पर्श हुआ है तो वेदना रोकी नहीं जा सकती, चाहे वह दु:ख रूप हो या सुख रूप, सुख-दु:ख रूप हो या असुख-अदु:ख रूप ही क्यों न हों ?

(८) तृष्णा—वेदना से तृष्णा की उत्पत्ति होती है। इन्द्रिय एवं मन के विषयों के सम्पर्क की अभिलाषा तृष्णा कहलाती है। विषय छ: प्रकार के होते हैं और उन विषयों के प्रति छ: प्रकार की तृष्णाएं होती हैं। मुख्य रूप से तृष्णा के तीन ही प्रकार हैं– कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द और मन के विषयों के प्रति भोग की कामना को लेकर जो तृष्णा उदित होती है, वह काम-तृष्णा कहलाती है। विषय और विषयी (भोक्ता) का संयोग सदैव बना रहे, उनका उच्छेदन न हो, यह लालसा भव-तृष्णा कहलाती है। दु:ख संवेदन रूप विषयों के सम्पर्क को लेकर जो विनाश-सम्बन्धी इच्छा उदित होती है, वह विभव-तृष्णा के नाम से जानी जाती है। यह त्रिविध तृष्णा ही समस्त दु:खों की जननी है। जो साधक इस त्रिविध तृष्णा को दबाकर रखता है उससे दु:ख उसी प्रकार गिर जाता है जिस प्रकार कमल के पत्ते से जल।

(९) उपादान– तृष्णा से उपादान की उत्पत्ति होती है। उपादान अर्थात् सांसारिक विषयों में लिप्त रहने की अभिलाषा। इसके तीन प्रकार हैं- कामोपादान अर्थात् स्त्री में आसक्ति रखना, शीलोपादान- अर्थात् व्रतों में आसक्ति रखना, आत्मोपादान अर्थात् आत्मा को नित्य समझने में आसक्ति रखना।

(१०) भव– उपादान से भव की निष्पत्ति होती है। भव अर्थात् पुनर्जन्म करानेवाला कर्म। इसके दो प्रकार होते हैं- कर्मभव और उत्पत्तिभव। वे सभी कर्म जो पुनर्जन्म देनेवाले हैं, कर्मभव हैं। अत: कर्मभव पुनर्जन्मकारी चेतना की ही संग्रहात्मक संज्ञा का नाम है। इसी प्रकार जिस-जिस उपादान को लेकर व्यक्ति जिस-जिस लोक में जन्म पाता है, वह उसका उत्पत्ति भव होता है।

(११) जाति—भव जाति का कारण होता है। भव से ही जाति की उत्पत्ति होती है। इसे दूसरी भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि बच्चे का मां की कोख में आने पर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूप पंचस्कन्ध का प्रस्फुरण जाति है। जन्म धारण भव के कारण ही होता है। यदि शरीर न हो तो कोई कष्ट भी नहीं होगा। अत: शरीर धारण करना या जन्म लेना ही जरामरण का कारण है जिसे बौद्ध दर्शन की भाषा में जाति कहते हैं।

(१२) जरामरण—जाति से जन्म-मरण की उत्पत्ति होती है। जन्म धारण कर वृद्धावस्था और मृत्यु को प्राप्त होना ही जरा-मरण है। *दीघनिकाय* में भगवान् *बुद्ध* ने कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है- "हे *आनन्द!* जन्म न होता तो सर्वथा किसी की भी जाति नहीं होती, जैसे देवों का देवत्व, गन्धर्वों का गन्धर्वत्व, यक्षों का यक्षत्व, भूतों का भूतत्व, मनुष्यों का मनुष्यत्व, चतुष्पदों का चतुष्पदत्व, पक्षियों का पक्षित्व, सरीसृपों को सरीसृपत्व आदि। यदि जन्म नहीं होता, सर्वथा जन्म का अभाव होता, जन्म का निरोध होता तो क्या *आनन्द* जरा-मरण दिखलाई पड़ता ? *आनन्द* ने कहा- नहीं भन्ते ! इसलिए *आनन्द* जरा-मरण का यही हेतु निदान समुदय प्रत्यय है जो कि यह जन्म ।[९८]

इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने दु:ख (बन्धन) के कारणों की एक लम्बी शृंखला प्रस्तुत की है, जिसके अन्तर्गत उन्होंने बारह कारण बतलाये हैं। दु:खों के (बन्धन के) कारणों को बतलाते हुए उन्होंने अविद्या को ही बन्धन का मूल कारण माना है। इस प्रकार भव को नष्ट करने के लिए उपादान का निरोध, उपादान के निरोध के लिए तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध के लिए वेदना का निरोध, वेदना के निरोध के लिए स्पर्श का निरोध, स्पर्श के निरोध के लिए षडायतन का निरोध, षडायतन के निरोध के लिए नामरूप का निरोध, नामरूप के निरोध के लिए विज्ञान का निरोध, विज्ञान के निरोध के लिए संस्कार का निरोध, संस्कार के निरोध के लिए अविद्या का निरोध आवश्यक है। लेकिन अविद्या का निरोध तभी सम्भव है जब चार आर्य सत्यों का सम्यग्ज्ञान हो।

बन्धन की उपर्युक्त बारह कड़ियों को प्रतीत्यसमुत्पाद नाम से अभिहित किया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद की इन बारह कड़ियों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है।- भूतकाल, वर्तमान काल और भविष्यतकाल। इन तीनों विभाजन को हम तीन जन्मों से जान सकते हैं या फिर एक ही जन्म या क्षण की तीन क्रमिक अवस्थाओं से भी जाना जा सकता है, क्योंकि बौद्ध दर्शन के अनुसार चित्त की सतत् प्रवाहशील धारा जो प्रतिक्षण नष्ट एवं उत्पन्न हो रही है उसमें भी भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों क्षण विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक क्षण में हमारा जन्म एवं मरण होता रहता है। जहाँ तक हमारे भूत, वर्तमान और भविष्य के जन्मों की बात है तो उसके लिए हमें प्रतीत्यसमुत्पाद के सम्बन्धों को पहले समझ लेना चाहिए। प्रतीत्यसमुत्पाद की बारह कड़ियों में से अविद्या और संस्कार दोनों हमारे पूर्वजन्म की वे रचनात्मक कर्मशक्तियाँ हैं जो संकलित होकर हमारे वर्तमान जन्म को निश्चित करती हैं। हमारे वर्तमान जीवन के विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना सब उसी के विपाकस्वरूप होते हैं। तत्पश्चात् हमारे वर्तमान जीवन की कड़ियाँ जो तृष्णा, भव और उपादान के रूप में उत्पन्न होती हैं, स्वयं कर्मभव बन जाती हैं, जिनका विपाक भविष्य के पुनर्जन्म रूप में होता है और फिर जरा-मरण और दु:ख की सन्तति प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, जो वर्तमान जीवन के कर्मविपाक के समान होती है। इस प्रकार यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवचक्र चलता रहता है। द्वादश कड़ियों को डॉ० राधाकृष्णन ने तालिका के रूप में निम्न प्रकारेण प्रस्तुत किया है[९९] -

	अतीत	वर्तमान	भविष्यत्
कर्मभव	१. अविद्या	८. तृष्णा	
	२. संस्कार	९. उपादान	
		१०. भव	
उत्पत्तिभव		३. विज्ञान	११. जन्म (जाति)
		४. नामरूप	१२. जरामरण
		५. षडायतन	
		६. स्पर्श	
		७. वेदना	

इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद हमें यह बतलाता है कि किस प्रकार प्राणी अविद्या के कारण नाना अनुभवों और चेतना की अवस्थाओं में भ्रमण करता है। संस्कार, विज्ञान, नामरूप आदि क्रमशः अन्त में जन्म, जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुःख और दौर्मनस्य आदि ऐसी अवस्था में आ जाते हैं जहाँ दुःख इतना स्थूल और शक्तिशाली हो जाता है कि व्यक्ति को उसके समुदय के बारे में सोचना पड़ता है। वह दुःख निरोध के उपायों को ढूढ़ता है। दुःख के स्वभाव पर विचार करना ही दुःख निरोध की पहली सीढ़ी है और यही पहली सीढ़ी अष्टांगिक मार्ग की सम्यक्-दृष्टि है जो व्यक्ति को दुःख के स्वभाव, उसके कारण और दुःख निरोध तथा निरोधगामिनी प्रतिपद् को समझानेवाली दृष्टि है।

अब प्रश्न होता है कि यदि दुःख है और उसका कारण भी ज्ञात है तो उसका नाश भी संभव है। दुःखनाश की यह स्थिति ही दुःख निरोध कहलाती है और यही निर्वाण है। जरा-मरण का निदान ही निर्वाण है। निर्वाण निर्वेद की अवस्था है। शरीर धारण करने से दुःख का अनुभव होता है और निर्वाण द्वारा शरीर धारण की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है, अर्थात् शरीर और संसारजन्य क्लेशों का क्षय हो जाता है। इस प्रकार समस्त क्लेशों का क्षय हो जाना ही निर्वाण है। निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् जन्म ग्रहण की क्रिया समाप्त हो जाती है और मनुष्य अमृततत्त्व को प्राप्त करता है। जैसा कि भगवान् बुद्ध ने कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है– "भिक्षुओं ! ध्यान दो, मैंने अमृत पाया है। मैं उसका उपदेश तुम्हें करता हूँ। मैं अब अमृत की दुंदुभि बजाऊँगा। अब अमृत के द्वार खुल गये हैं।[१००]"

निर्वाण

निर्वाण शब्द का अर्थ होता है "बुझा हुआ," अतः दुःखों का बुझ जाना ही निर्वाण है। जन्म का कारण तृष्णा है। तृष्णा के कारण ही मनुष्य में राग, द्वेष और मोह उत्पन्न होता है। वह राग-द्वेष से युक्त होकर कर्म करता जाता है और जन्म लेता जाता है। राग-द्वेष के निरोध से जन्ममरण का स्रोत बन्द हो जाता है। राग-द्वेष का रुक जाना यानी भव का निरोध हो जाना। भव का निरोध ही निर्वाण कहलाता है।[१०१] भगवान् *बुद्ध* ने कहा है– तीन ही अकुशल मूल हैं। इनके संयोग से मनुष्य का चित्त कभी सुख और शान्ति नहीं पाता। अतः राग, द्वेष और मोह से वियोग या विमुक्ति ही निर्वाण है।[१०२] निर्वाण की उपमा बुझे हुए दीपक से दी गयी है। अभिप्राय यह है कि दीपक के बुझ जाने के समान ही वेदनाओं का सदा के लिए समाप्त हो जाना निर्वाण है। भगवान् *बुद्ध* ने कहा है- भिक्षुओं! जिस प्रकार तेल और बत्ती के रहने पर दीपक जलता है तथा तेल और बत्ती के समाप्त हो जाने से दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार तृष्णा के क्षय से जीवन-मरण की क्रिया भी समाप्त हो जाती है, वेदनायें शान्त हो जाती हैं।[१०३] निर्वाण प्राप्त कर मनुष्य सदा के लिए शान्त हो जाता है, उसका पुराना कर्म नष्ट हो जाता है, नवीन कर्म की उत्पत्ति नहीं होती, पुनर्जन्म के बीज नष्ट हो जाते हैं, कोई इच्छा नहीं रहती। पुनर्जन्म की प्रक्रिया के नष्ट होने के बाद व्यक्ति को पता नहीं चलता कि वह किस दिशा में विलीन हो जाता है। इसको स्पष्ट करते हुए भगवान् *बुद्ध* ने कहा है - जिस प्रकार लोहे के घन की चोट पड़ने से जो चिनगारियाँ उठती हैं, वे शीघ्र ही बुझ जाती हैं, पता नहीं चलता कि वे कहाँ और किस दिशा में गयीं, ठीक उसी प्रकार तृष्णा से मुक्त या निर्वाण प्राप्त व्यक्ति की गति का कोई पता नहीं चलता।[१०४] जैसा कि आचार्य *अश्वघोष* ने कहा है- बुझा हुआ दीपक न तो पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में न किसी विदिशा में, प्रत्युत् स्नेह (तेल) के क्षय होने से वह केवल शान्ति को प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष न तो कहीं जाता है, न पृथ्वी पर, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, न विदिशा में। केवल क्लेश के क्षय हो जाने पर शान्ति प्राप्त कर लेता है।[१०५]

निर्वाण धर्मों की धर्मता है, निर्वाण सब धर्मों में व्याप्त है और सब धर्मों से परे है, वह निरपेक्ष परमतत्त्व है। भगवान् *बुद्ध* ने निर्वाण को अजात, अमृत, अकुतोभय, परमसुख आदि विशेषणों से विभूषित किया है।[१०६] उन्होंने कहा है- "भिक्षुओं ! यह अजात, अमृत, अकृत, असंस्कृत तत्त्व है, इसीलिए यह जात, नश्वर, कृत और संस्कृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मों का आधार है।[१०७] यह क्षेम, नेष्ठिक अच्युत पद[१०८] एवं शान्त और शिव[१०९] तथा दुर्लभ, शान्त, अजर, अमृत और परमपद[११०] है। *मिलिन्दपञ्ह* में राजा *मिलिन्द* और *नागसेन* के बीच हुई वार्ता में *नागसेन* ने निर्वाण को कुछ इस रूप में प्रस्तुत किया है— "महाराज ! निर्वाण आत्यन्तिक सुख है वह दु:ख से सर्वथा अमिश्रित है। यद्यपि स्वरूपत: निर्वाण का वर्णन नहीं हो सकता, क्योंकि वह अनिर्वचनीय है तथापि गुणत: उसका किञ्चित वर्णन किया जा सकता है। महाराज जिस प्रकार महासमुद्र में बड़े-बड़े जीव रहते हैं फिर भी समुद्र उन जीवों से अलिप्त रहता है, वैसे ही निर्वाण समस्त क्लेशों से अलिप्त है। यह निर्वाण न उत्पन्न है, न अनुत्पन्न है और न उत्पादनीय है। यह निर्वाण धातु परमशान्ति है, परमानन्द है, अत्युत्तम है, अद्वितीय है।[१११]

नागार्जुन ने निर्वाण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि निर्वाण को भावरूप माना जाता है तो वह भी अन्य भावों के समान जन्म मरणशील तथा संस्कृत धर्म बन जायेगा। यदि उसे अभावरूप माना जाता है तो उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं रहेगी, साथ ही अभाव भाव सापेक्ष होता है। इसलिए यदि निर्वाण को अभाव माना जाता है तो वह भाव-सापेक्ष धर्म हो जायेगा। इसी प्रकार निर्वाण को भावाभाव भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रकाश और अंधकार के समान भाव और अभाव की सत्ता एक साथ नहीं हो सकती और यदि हम निर्वाण को भावाभाव भिन्न स्वीकार करते हैं, तो फिर उसका ज्ञान होना असंभव है।[११२] अत: निर्वाण प्रपंचोपशम और शिव, स्वानुभूतिगम्य है। निर्वाण ही प्रतीति और उपादान की दृष्टि से आवागमन रूपी संसार है और वही अप्रतीत्य और अनुपादान की दृष्टि से निर्वाण है। संसार और निर्वाण में रंचमात्र भी अन्तर नहीं है।[११३] निर्वाण निरपेक्ष और अनिर्वचनीय तत्त्व है।

सम्प्रति, प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि निर्वाण का निर्वचन नहीं हो सकता है तो फिर उसका उपदेश कैसे दिया जा सकता है? इसका उत्तर देते हुए *नागार्जुन* ने कहा है कि "वैसे तो परमार्थ तक बुद्धि और वाणी की गति नहीं है, अनिर्वचनीय का निर्वचन और अनक्षर का अक्षरोपदेश पूर्णतया सम्भव नहीं है, तथापि परमार्थ-प्राप्ति के लिए सम्यक्-सम्बुद्ध-व्यवहारदशा में उपदेश देते हैं, क्योंकि व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता और बिना परमार्थ को जाने निर्वाण प्राप्ति असंभव है।[११४] उपचार से व्यवहार में तत्त्व का उपदेश और श्रवण-मनन होता है।[११५] *नागार्जुन* ने निर्वाण के लिए 'तत्त्व' शब्द का प्रयोग किया है तथा उसका लक्षण बताते हुए कहा है कि जिसका अपरोक्षानुभूति द्वारा ही साक्षात किया जा सकता है, जहाँ बुद्धि की सारी कोटियाँ, कल्पनाएं, धारणाएं सन्तुष्ट होकर शान्त हो जाती हैं, जो सम्पूर्ण प्रपंच से शून्य है, जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतीन्द्रिय और बुद्धिविकल्पातीत है, जहाँ द्वैत और बहुत्व विलीन हो जाते हैं। वह अद्वैतानुभव ही तत्त्व है।[११६]

निर्वाण निष्क्रियता नहीं

निर्वाण प्राप्त व्यक्ति के लिए कुछ करणीय शेष नहीं रह जाता। प्राप्तव्य को वह पा चुकता है। यही कारण है कि निर्वाण के सम्बन्ध में ऐसी धारणा बन जाती है कि यह क्रियाशीलता से विहीन होने की स्थिति है, क्योंकि इसमें कोई क्रिया नहीं होती, मुक्त पुरुष अकर्मण्य हो जाता है। लेकिन यह मानना/कहना उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि साधक अपनी साधना के समय अपने को सांसारिक कार्य-व्यापारों से उदासीन रखता है। यदि वह ऐसा न करे तो यथार्थता की ओर उसका ध्यान ही केन्द्रित नहीं होगा और न ही उसे ज्ञान की प्राप्ति ही होगी। लेकिन साधक का सांसारिक कार्य-व्यापारों से उदासीन रहना तभी तक होता है, जब तक वह साधनारत होता है। साध्य या लक्ष्य की उपलब्धि के बाद वह पुन:समाज में ही रहता है, समाज की सेवा करता है, लोगों को धर्म-मार्ग दिखाता है। अत: निर्वाण को निष्क्रियता कहना उचित नहीं है।

निर्वाण तो निष्काम है

राग-द्वेष से मुक्त होकर काम करना निष्काम कहलाता है। निर्वाण निष्क्रियता अथवा अकर्मण्यता की स्थिति नहीं है बल्कि निष्काम की स्थिति है। भगवान् *बुद्ध* ने भी श्री *कृष्ण* की भाँति निष्काम की शिक्षा दी है। *अंगुत्तरनिकाय* में कहा गया है कि राग के नाश हो जाने पर राग-द्वेष रहित कार्य से कोई कष्ट या बन्धन नहीं होता है।[११७]

निर्वाण से लाभ

निर्वाण से दो प्रकार के लाभ होते हैं- १. वर्तमान जीवन में परम शान्ति की प्राप्ति, तथा २. पुनर्जन्म की प्रक्रिया की समाप्ति । वर्तमान जीवन में शान्ति राग-द्वेष से मुक्त हुआ व्यक्ति ही प्राप्त करता है, क्योंकि राग-द्वेष से ही शान्ति में खलल आती है। इसी प्रकार निर्वाण प्राप्त करने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता और जब जन्म ही नहीं होता तो किसी प्रकार के कष्ट का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान् *बुद्ध* ने स्पष्ट शब्दों में कहा है- "वह मृषा है जो नाशवान है, जो नाशवान नहीं है वह निर्वाण है।[११८] निर्वाण अमृतपद है, योगक्षेम है, अच्युतपद है, शान्त है, शिव है, ध्रुव है, त्राण है, द्वीप है, सत्य है, अत्यन्त सुख है, परम अतीत है, निष्पंच है, अस्ति धर्म है, सत् है। जिस प्रकार ऋणी व्यक्ति को ऋण चुकाने के बाद प्रसन्नता होती है, बीमार व्यक्ति को स्वास्थ्य लाभ से जो सुख मिलता है, दासता से मुक्त होने पर दास को जो आनन्द मिलता है, बड़े

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रेगिस्तान को पार कर पथिक को जो हर्ष मिलता है, वही सुख और आनन्द जन्म-मरण के भवसागर को पार करने अर्थात् निर्वाण प्राप्त करनेवाले को होता है। यही परमसुख है। परम सुख का वर्णन शब्दों से परे है वह मधु से भी मीठा, पर्वत से भी ऊँचा और समुद्र से भी गहरा है। निर्वाण के विषय में कहा गया है कि यह तो महासमुद्र की भाँति अनन्त है। कमल के समान क्लेशों से अलिप्त है। जल के समान सभी क्लेशों की गर्मी शान्त कर देता है।[११९]

इस प्रकार निर्वाण केवल पुनर्जन्म का निरोध ही नहीं वरन् परमशान्ति की प्राप्ति है। अमृतलाभ से बढ़कर और कोई लाभ नहीं, इसलिए इसे "परम लाभ" और "परम शान्त" पद कहा गया है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति विमुक्ति रस का आस्वाद लेता है। विमुक्त व्यक्ति का कर्तव्य-कर्म पूरा हो जाता है, प्राप्तव्य प्राप्त हो जाता है, कुछ करने को शेष नहीं रह जाता, वह अत्यन्त शान्तपद को प्राप्त करता है।

निर्वाण प्राप्ति के मार्ग

जिन कारणों से दुःख उत्पन्न होता है उन कारणों के नाश का उपाय ही निर्वाण मार्ग है। बौद्धमतानुसार दुःख से मुक्त होने के लिए व्यक्ति को दो छोरों का त्याग करना चाहिए- १. आत्मा को नित्य समझकर नाना प्रकार के सुखों की कामना करना तथा २. शरीर की अवहेलना करके अर्थात् तप की प्रक्रिया में शरीर को क्षीण करके निर्वाण प्राप्त करने का प्रयास। ये दो अन्त जिन्हें त्यागकर बीच के मार्ग को अपनाना ही बुद्ध का उपदेश था, जिसे उन्होंने अष्टांगिक मार्ग के नाम से विभूषित किया, वे अष्टांगिक मार्ग निम्न हैं-

१. सम्यक्-दृष्टि, २. सम्यक्-संकल्प, ३. सम्यक्-वाक् ४. सम्यक्-कर्मान्त,५. सम्यक्-आजीव, ६. सम्यक्-व्यायाम, ७. सम्यक्-स्मृति, ८. सम्यक्-समाधि ।

अष्टांगिक मार्ग का विवेचन पूर्व में द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है। अतः यहाँ पुनः निरूपित करना उचित नहीं जान पड़ता।

मोक्ष (निर्वाण) और योग

सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में (चार्वाक को छोड़कर) जन्म-मरण को ही सभी दुःखों का कारण माना जाता है। यह आत्मा अनन्तकाल से बन्धन में चली आ रही है, क्योंकि आत्मा राग-द्वेष अथवा मोह से अभिभूत हुई नये कर्मों का संयम करती रहती है, फलतः जन्म-मरण की परम्परा सतत चलती रहती है। व्यक्ति में इतनी शक्ति नहीं कि वह कर्म के विपाक की अनुभूति से इंकार कर दे। लेकिन ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन बन्धनों को पुरुषार्थहीन बनकर चुपचाप सहती आयी है, बल्कि उन्हें तोड़ने का प्रयत्न सदा-सर्वदा करती रही है। यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्मबन्धन और उसके विपाक से मुक्ति कैसे हो ? प्रति उत्तरस्वरूप यही कहा जा सकता है कि बन्धन के इस चक्र से व्यक्ति को मोक्ष के द्वारा ही मुक्ति मिल सकती है। मोक्ष रूपी अन्तिम साध्य की प्राप्ति को जैनधर्म में सर्वोत्तम माना गया है।

मानव के मन, विचार एवं जीवन में एकाग्रता, स्थिरता एवं तन्मयता नहीं होने के कारण ही मानव को अपने आप पर, अपनी शक्तियों पर पूरा भरोसा नहीं होता। वह निश्चित विश्वास एवं निष्ठा के साथ अपने लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ पाता। फलत: उसकी शक्तियों का प्रकाश भी धूमिल पड़ने लगता है। अत: शक्तियों को अनावृत करने, आत्मज्योति को प्रकाशित करने तथा अपने साध्य तक पहुँचने के लिए मन, वचन और कर्म में एकरूपता एवं स्थिरता लाने का नाम ही योग है।

आत्मविकास के लिए योग एक प्रमुख साधन है और योग का लक्ष्य है — आत्मविकास अर्थात् मोक्ष। योग के दो रूप होते हैं- बाह्य और आभ्यंतर । एकाग्रता योग का बाह्य रूप है और अहंभाव आदि मनोविकार उसका आभ्यंतर रूप है। अहंभाव आदि मनोविकारों का परित्याग किए बिना मन, वचन एवं काय योग में स्थिरता नहीं आ सकती और न ही मन, वचन और कर्म में एकरूपता या समता आ सकती है। जब तक तीनों में एकरूपता नहीं होगी तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्ष की प्राप्ति तभी संभव है जब व्यक्ति अहंत्व-ममत्वभाव से रहित समत्व भाव की साधना यानी योग रूपी सर्वोत्तम साधना को अंगीकार करेगा। इस प्रकार योग और मोक्ष में साधन-साध्य सम्बन्ध देखा जाता है।

तुलना

१. जैन एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराएं निवृत्तिप्रधान हैं।

२. बन्धन के कारण के रूप में जैन परम्परा मुख्य रूप से जहाँ राग, द्वेष और मोह को स्वीकार करती है, वहीं बौद्ध परम्परा अविद्या और तृष्णा को बन्धन का मूल कारण मानते हुए अविद्या, संस्कार, तृष्णा, उपादान, भव आदि द्वादश शृंखलाओं को प्रस्तुत करती है।

३. जैन परम्परा में कर्म के आठ प्रकार माने गये हैं जो आत्मा के स्वभाव के आवरण की दृष्टि से दो भागों में विभक्त है- घाती कर्म और अघाती कर्म। बौद्ध दर्शन में आत्मा के स्वभाव को आवरित करनेवाले घाती और अघाती कर्मों के सम्बन्ध में कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार उपलब्ध नहीं होता है। लेकिन भविष्य जन्म की दृष्टि से देखा जाए तो कर्मभव और उत्पत्तिभव बौद्ध परम्परा में देखने को मिलते हैं। इसी प्रकार जैन परम्परा नवीन बन्ध या पुनर्जन्म की दृष्टि से एकमात्र मोह को ही स्वीकार करती है। बौद्ध परम्परा के अनुसार अविद्या, संस्कार, तृष्णा, उपादान और भव आदि पांच कर्मभव के कारण जन्म-मरण की प्रक्रिया चलती है तथा शेष विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति और जरा-मरण, जो उत्पत्तिभव के नाम से जाने जाते हैं, किसी भी नवीन कर्म का बन्ध नहीं करते। लेकिन भूतकालीन जीवन के अर्जित कर्म संस्कार के रूप में अविद्या और संस्कार वर्तमान जीवन की उत्पत्ति भव का निश्चय करते हैं तथा वर्तमान जीवन के तृष्णा, उपादान और भव भावी जीवन के रूप में जाति और जरा-मरण का निश्चय करते हैं। इस प्रकार बौद्ध परम्परा का कर्मभव जैन दर्शन के मोहकर्म तथा उत्पत्तिभव जैन परम्परा के शेष कर्म अवस्थाओं के समान है।

४. जैन परम्परा के दर्शनमोह का नाम ही बौद्ध परम्परा में अविद्या है। दोनों ही इस बात को स्वीकार करते हैं कि अविद्या या दर्शनमोह ही समस्त दु:खों एवं बन्धनों का कारण है।

५. जैन एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में मोक्ष या निर्वाण के दो रूप माने गये हैं। जैन परम्परा के अनुसार भावमोक्ष या द्रव्यमोक्ष मोक्ष के दो रूप हैं तथा बौद्ध मान्यता में सोपादिशेष निर्वाण धातु तथा अनुपादिशेष निर्वाण धातु, निर्वाण के दो रूप हैं।

६. दोनों ही परम्पराएं मोक्ष या निर्वाण को अनिर्वचनीय स्वीकार करती हैं, उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। *आचारांग* में कहा गया है- वाणी उसका कथन करने में समर्थ नहीं है, वहाँ वाणी मूक हो जाती है, तर्क की वहाँ तक पहुँच नहीं है, बुद्धि (मति) उसे ग्रहण करने में असमर्थ है अर्थात् वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। किसी उपमा के द्वारा भी उसे नहीं समझाया जा सकता है। वह अनुपम है, अरूपी है, सत्तावान है। उस अपद का कोई पद नहीं है। ऐसा कोई भी शब्द नहीं जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके। इसी प्रकार *उदान* में भगवान् बुद्ध ने कहा है- मैं उसे अगति और गति कहता हूँ, न स्थिति और च्युति कहता हूँ, उसे उत्पत्ति भी नहीं कहता हूँ। वह न तो कहीं ठहरता है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है, यही दु:खों का अन्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भ :

१. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्तेस बन्धः । तत्त्वार्थसूत्र, ८/२-३
२. कर्मग्रन्थ, कर्मप्रकृति बन्ध प्रकरण – १
३. Studies in Jain Philosophy-P. 232
४. प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः। तत्त्वार्थसूत्र ८/४
५. जैन दर्शन में बन्धन-मोक्ष, श्रमण, अप्रैल १९८६, पृ०–१३
६. तत्त्वार्थसूत्र, ८/४
७. आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायः, वही, ८/५
८. वही, ७/२५
९. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा। बन्धहेतवः, वही, ८/१
१०. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ०–३६०
११. तत्त्वार्थसूत्र (पं०सुखलाल संघवी), पृ०–१९३
१२. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-१, पृ०–३६१
१३. तत्त्वार्थसूत्र (पं. सूखलाल संघवी), पृ०–१९४
१५. कायवाङमनःकर्म योगः। वही, ६/१
१६. शुभपुण्यस्य । अशुभपापस्य। वही, ६/३-४
१७. जैन दर्शन, महेन्द्र कुमार, पृ०–२३०
१८. तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलाल संघवी), पृ०–१९२
१९. उत्तराध्ययन, ३२/७ २०. समयसार, १५७
२१. तत्त्वार्थसूत्र, ६/१-२ २२. वही, ६/३-४
२३. सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः । वही, ६/५
२४. वही, पृ०–१५०
२५. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-१, पृ०-३५६
२६. अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः पंचचतुः पंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः। तत्त्वार्थसूत्र, ६/६
२७. वही, पृ०-१५१-५२
२८. उत्तराध्ययन, ३३/२३
२९. कर्मबंधन - मुक्ति एवं प्रक्रिया, चन्दनराज मेहता, पृ०-१२५
३०. तत्प्रदोषनिह्नमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः। तत्त्वार्थसूत्र, ६/११
३१. वही, ८/१
३२. वही,६/११ (उद्धृत- जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययन, पृ०-६४.)

३३. चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च। वही, ८/८

३४. दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य। वही, ६/१२

३५. नवपदार्थ ज्ञानसार- पृ०- २३७ तथा त० सू०, ६/१२ ।

३६. तत्त्वार्थसूत्र,६/१३ ।

३७. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ०-२३७ ।

३८. वही, पृ०- २३७ (उद्धृत-जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ०-३६९).

३९. जैन धर्म-दर्शन, पृ०-४६४-६५.

४०. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ०-२३७

४१. केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य । तत्त्वार्थसूत्र, ६/१४
कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य। वही, ६/१५

४२. समवायांग, ३०/१ ४३. जैन धर्म-दर्शन, पृ०-४६६

४४. बह्वारम्भपरिग्रहत्व च नारकस्यायुषः। तत्त्वार्थसूत्र, ६/१६

४५. माया तैर्यगयोनस्य । वही, ८/१७

४६. कर्मग्रन्थ, १/५८ ४७. तत्त्वार्थसूत्र, ६/१८

४८. वही, ६/२०

४९. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-१, पृ० ३७३- ३७४.

५०. तत्त्वार्थसूत्र, पृ०-१६२ । ५१. वही, पृ०-१६२।

५२. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ०-२३९

५३. वही ५४. त० सू०, ६/२५

५५. वही, ६/२४ ५६. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ०-२४०.

५७. विघ्नकरणमन्तरायस्य । तत्त्वार्थसूत्र, ६/२६

५८. वही, ८/१४

५९. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः । तत्त्वार्थसूत्र, १०/२-३.

६०. कृत्स्नकर्मक्षयादात्मनः स्वरूपावस्थानं मोक्षः। जैन सिद्धान्त दीपिका,१५/३९।

६१. यथा बीजाङ्कुरसंतानेऽनादौ प्रवर्तमाने अन्त्यबीजमग्निनोपहताङ्कुरशक्तिकमित्यंतोऽस्य दृष्टस्तथा मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययसाम्परायिकसन्ततावनादो ध्यानानलनिर्दग्धे कर्मबीजे भवाङ्कुरोत्पादाभावान्मोक्ष इति दृष्टमिदमपह्नोतुमशक्यम् । उक्तं च -दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रातुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थवार्तिक-१०/२

६२. भारतीय दर्शन की समस्याएं, डॉ० बी० एन० सिन्हा, पृ०- ९३-९४

६३. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः, तत्त्वार्थसूत्र, १०/१

६४. सद्दृष्टिज्ञानवृतानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ।। रत्नकरण्डश्रावकारचार, १/३

६५. कर्मबन्धन और मुक्तिप्रक्रिया, पृ०-२०५

६६. आचारांग, १/६/५ ६७. स्थानांग, १०/१६

६८. समवायांग, १०/६१

६९. उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।
तत्त्वार्थसूत्र, ९/६

७०. वही (पं० सुखलाल संघवी), पृ०-२०८

७१. दशवैकालिक, ८/३८ ७२. वही, ८/३९

७३. तत्त्वार्थसूत्र, पृ०-२०८ ७४. आवश्यकसूत्र, क्षमापणा पाठ

७५. तत्त्वार्थसूत्र, पृ०-२०९ ७६. वही, पृ०-२१०,

७७. वही, पृ०-२१० ७८. वही

७९. वही ८०. वही

८१. निशीथचूर्णि, ४६

८२. दश लक्षण धर्म के, श्रमण, सितम्बर, १९८३.

८३. तत्त्वार्थसूत्र, पृ०-२१० ८४. वही

८५. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानिसत्वगुणाद्यिकक्लिश्यमानाविनेयेषु । वही, ४/६

८६. वही, पं. सुखलाल संघवी, पृ०- १७१

८७. वही, पृ०- १७१. ८८. वही, पृ०-१७२.

८९. संयुक्तनिकाय- ३६/८, ४३/७/३, ४३/७/३, ४५/७/५, ४५/५१०, तथा बौद्ध धर्म-दर्शन (आचार्य नरेन्द्रदेव), पृ०- २४५

९०. सम्मादिट्ठिसूत्र (मज्झिमनिकाय),१/१/९.

९१. पुरिमा भिक्खवे कोटि न पंज्ञायति अविज्जाय, इतो पुब्बे अविज्जा नाहोसि, अथ पच्छा समभवीतिता अंगुत्तरनिकाय, भाग५, पृ०-११३.

९२. अनमततगोयं भिक्खवे संसारो पुब्बकोटि न पंज्ञायति। संयुक्तनिकाय, भाग-२, पृ०- १७८.

९३. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ०-३७९.

९४. वही

९५. निदान सुत्त, ५१ ९६. सम्मदिट्ठि सुत्त (म० नि०),१/१/९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९७. महासतिपट्ठानसुत्त (दीघनिकाय),२/९
९८. महानिदान सुत्त (दीघनिकाय) , २/२
९९. Indian Philosophy Vol-3. p- 411.
१००. मज्झिमनिकाय, १/३/६ १०१. संयुक्तनिकाय, पृ०-११७.
१०२. यो खो आतुसो दोसक्खयो मोहक्खोग इति इद्रं पुचाति निब्बानं सुत्तनिपात ५/११
१०३. मज्झिमनिकाय, १/३/७ १०४. उदान, ८/१०
१०५. दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कश्चितद् विदिशं न काश्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।।
कृत्ती निर्वृतिमभ्युपेतौ नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कश्चिद् विदिशं न कश्चित् क्लेशक्षयात् केवलमंतिशान्तिम् ।।
सौन्दरनन्द, १६/२८,२९
१०६. निब्बानं अकृतोभयम् । इतिवुत्तक, ११२। निब्बानं परमसुखम। धम्मपद २०३।
१०७. यस्मा च खो भिक्खवे, अत्थि अजातं अमतं अकतं तस्मा जातस्स मतस्स कतस्स संखतस्स निस्सरणं पंजाय। उदानसुत्त, ७३
१०८. क्षेम पदं नैष्ठिकमच्युतं तत् । सौन्दरनन्द, १६/२८
१०९. शान्तंशिवं साक्षिकुरूष्व धर्मम् । वही, १६/२६
११०. दुर्लभं शान्तमजरं परं तदमृतं पदम। बुद्धचरित, १२/१०६
१११. मिलिन्दपञ्हो, ४/६७-८३ ११२. माध्यमिककारिका, २५/५-१६
११३. निर्वाणस्य च या कोटि: कोटि: संसरणस्य च।
न तयोरन्तरंकिंचित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते । वही, २५/२०
११४. व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते। वही, २४/१०
११५. अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुति: का देशना च का? श्रूयते देश्यते चांपि
समारोपादनक्षर: । माध्यमिकारिकावृत्ति, पृ०-२६४
११६. अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपंचैरप्रपंचितम् ।
निर्विकल्पमनार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम् ।। माध्यमिककारिका, १८/९
११७. भारतीय दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त, डॉ० बी० एन० सिन्हा, पृ०-१२२
११८. धातु विभंग सुत्त (म० नि०), ३/४/१०
११९. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भरत सिंह उपाध्याय, भाग-१, अध्याय-१० पर आधारित ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहार

योग-साधना की धारा हमारी भारतीय संस्कृति में अति प्राचीन काल से प्रवाहित होती आ रही है। सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति तीन प्रमुख धाराओं में प्रवहमान है— वैदिक विचारधारा, जैन विचारधारा और बौद्ध विचारधारा। इन विचारधाराओं की अपेक्षा से योग-साधना या योग-साहित्य की भी तीन परम्पराएं देखने को मिलती हैं। वैदिक विचारधारा, जिसमें "योग" का क्रमबद्ध विवेचन योग दर्शन में देखने को मिलता है, के अनुसार चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। जैन परम्परा में मन, वाणी और शरीर की गतिशीलता को योग नाम से विभूषित किया गया है। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा में योग के स्थान पर ध्यान और समाधि शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। जहाँ तक योग के शाब्दिक अर्थ की बात है, तो कुछ विचारकों ने योग शब्द का प्रयोग जोड़ने के अर्थ में किया है, तो कुछ विचारकों ने ध्यान, संयोग, चित्तवृत्ति निरोध, निर्वाण आदि के रूप में । योग शब्द की उत्पत्ति "*युज*" धातु से मानी जाती है, जिसके दो अर्थ होते हैं- १. जोड़ना या संयोजित करना, तथा २. समाधि, मनः स्थिरता आदि । लेकिन जैन एवं बौद्ध साहित्य में "योग" शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में हुआ है। प्राकृत में "जोग" शब्द आया है जिसका सामान्य अर्थ होता है- क्रिया, जो प्रशस्त या अप्रशस्त अथवा शुभ या अशुभ दोनों प्रकार की हो सकती है। इसी प्रकार बौद्ध साहित्य में "योग" शब्द का प्रयोग बन्धन या संयोजन के अर्थ में हुआ है, जो मुख्य रूप से चार प्रकार की हैं- कामयोग, भवयोग, दृष्टियोग और अविद्यायोग।

वस्तुतः सही माने में देखा जाए तो योग, ध्यान और समाधि तीनों एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। योग, जिसे जैन परम्परा में मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं के रूप में अभिव्यक्त किया गया है, में मन की प्रधानता है, क्योंकि कोई भी योग, चाहे वह कायिक हो या वाचिक योग, मन पर ही आधारित होता है। मन जिसे चित्त भी कहा जाता है, की चंचलता को समाप्त करना ही योग-साधना का परम लक्ष्य है। जैन एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में चित्त या मन की चार-चार अवस्थाएं मानी गयी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। जैन परम्परा में विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन मन तथा बौद्ध परम्परा में कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर चित्त का उल्लेख है। यद्यपि दोनों परम्पराओं में मन या चित्त की अवस्थाओं को देखने से उनमें भिन्नताएं दृष्टिगोचर होती हैं, लेकिन उनके मूलभूत दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं है। इन चित्तवृत्तियों या वासनाओं का विलयन ही योग परम्परा का मुख्य उद्देश्य रहा है और जहाँ चित्तवृत्तियों का विलयन हो जाता है, वहीं साधना अपनी पूर्णता को प्राप्त करती है और साधना की यही पूर्णता ध्यान कहलाती है। चेतना का किसी एक विषय या बिन्दु पर केन्द्रित होना ही ध्यान है। इस प्रकार ध्यान और योग दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची बन जाते हैं। इसी प्रकार ध्यान और समाधि भी समानार्थक ही हैं। चित्त की वृत्तियों का उद्वेलित होना असमाधि है तथा उनकी इस उद्विग्नता का समाप्त हो जाना समाधि है। ध्यान चित्त की वह निष्प्रकम्प अवस्था है जिसमें आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करती है। ध्यान चित्त की समत्वपूर्ण स्थिति है, लेकिन ऐसा नहीं है कि समाधि में चित्त की समत्वपूर्ण स्थिति नहीं होती बल्कि ध्यान और समाधि दोनों में ही समत्वपूर्ण स्थिति आवश्यक है। इस प्रकार ध्यान और समाधि समानार्थक प्रतीत होते हैं। यदि दोनों में अन्तर है तो कार्य-कारण भाव या साध्य-साधना की दृष्टि से। ध्यान समाधि का साधन है तो समाधि साध्य। ध्यान जब सिद्ध होता है तब वह समाधि का रूप ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार साधन से साध्य की उपलब्धि होती है और यही उपलब्धि योग के नाम से जानी जाती है। यदि इसे हम दूसरी भाषा में कहना चाहें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि जब चित्तवृत्तियों की चंचलता समाप्त हो जाती है, चित्त शान्त और निष्प्रकम्प हो जाता है तो वह ध्यान कहलाता है, वही समाधि के नाम से जाना जाता है और उसे ही योग कहते हैं ।

योग-साधना एक प्रक्रिया है। अतः इस साधना में प्रवृत्त होने से पूर्व साधक को आत्मा, योग, साधना आदि का आध्यात्मिक एवं तात्त्विक ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि किसी भी क्रिया को करने के लिए सबसे पहले उसके सम्बन्ध में ज्ञान का होना आवश्यक है। ज्ञान के अभाव में कोई भी क्रिया या कोई भी साधना, भले ही वह कितनी ही उत्कृष्ट क्यों न हो लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक नहीं हो सकती। इसलिए साधना प्रारम्भ करने के पूर्व ज्ञान का होना आवश्यक है और ज्ञान के अनुरूप आचरण ही योग कहलाता है। इसी प्रकार जिसमें योग या एकाग्रता का अभाव है वह ज्ञानी नहीं । अतः साधना के लिए ज्ञान आवश्यक है तथा ज्ञान के विकास के लिए साधना। ज्ञान और योग की संयुक्त साधना से ही साध्य की सिद्धि होती है। लेकिन जहाँ तक साध्य की सिद्धि की बात है तो सर्वप्रथम साधक को यह जानना आवश्यक है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा क्या है? आत्मा का स्वरूप क्या है? आत्मा के बन्धन के कारण क्या है? तथा बन्ध को रोकने और आबद्ध कर्मों को तोड़ने के साधनों का सम्यक्-बोध कैसे प्राप्त किया जा सकता है? आदि तथ्यों को जानने के पश्चात् तद्नुसार आचरण किया जाये तब जाकर साध्य की सिद्धि हो सकती है।

साधना की सिद्धि में ध्यान को साधन स्वीकार किया गया है। लेकिन सवाल उठ खड़ा होता है कि क्या किसी भी वस्तु या विषय को ध्यान का केन्द्र (आलम्बन) बनाया जा सकता है ? क्योंकि बिना आलम्बन के चित्त की वृत्तियों को केन्द्रित करना सम्भव नहीं हो सकता है। जगत की सभी वस्तुएँ ध्यान के आलम्बन होने की क्षमता रखती हैं। लेकिन उन सभी को ध्यान का आलम्बन नहीं बनाया जा सकता है। एक सुन्दर स्त्री भी ध्यानाकर्षण की क्षमता रखती है, परन्तु साधक यदि स्त्री के सुन्दर शरीर को अपने ध्यान का विषय बनाता है तो वह साध्य की प्राप्ति से पूर्व ही साधना-मार्ग से च्युत हो सकता है, क्योंकि स्त्री को ध्यान का विषय बनाने से साधक के मन में उसके प्रति रागात्मकता पैदा होगी, वासना जगेगी और उसे पाने की आकांक्षा चित्त में विक्षोभ पैदा करेगी। अत: किसी भी वस्तु को ध्यान का आलम्बन बनाने से पूर्व साधक को यह विचार कर लेना चाहिए कि हमारे ध्यान का उद्देश्य क्या है? क्योंकि ध्यान के प्रयोजन के आधार पर ही ध्येय का निर्धारण होता है। अत: ध्यान के आलम्बन का निर्धारण करते समय साधक को विचार कर लेना चाहिए कि हम जो आलम्बन बना रहे हैं वह हमें राग की ओर ले जाएगा या विराग की ओर। तात्पर्य यह है कि यदि व्यक्ति किसी स्त्री के सौन्दर्य को अपने ध्यान का आलम्बन बनाता है तो वह रागात्मकता अर्थात् वासनाओं के पोषण को अपना उद्देश्य बनाता है और यदि व्यक्ति स्त्री सौन्दर्य की वीभत्सता और विद्रूपता को ध्यान का आलम्बन बनाता है तो अपने ध्यान-सिद्धि का मार्ग प्रशस्त करता है। अत: ध्यान में सर्वप्रथम ध्यान के आलम्बन का निर्धारण आवश्यक है। लेकिन मन में एक प्रश्न सहज उठ खड़ा होता है कि क्या ध्यान में ध्येय के रूप में किसी वस्तु को ग्रहण किया जाता है या नहीं । प्रति उत्तरस्वरूप यही कहा जा सकता है कि ध्यान में ध्येय के रूप में कोई वस्तु नहीं होती बल्कि हमारी चित्त की वृत्ति होती है, क्योंकि ध्यान में आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करती है। अत: ध्यान की प्रक्रिया में ध्याता भी चित्त होता है और ध्येय भी चित्त होता है। वस्तुत: जिसे हम ध्येय समझते हैं वह हमारा चित्त ही होता है जो ध्येय का आकार ग्रहण करके हमारे सामने होता है।

जहाँ तक ध्यान के प्रकारों की बात है तो जैन परम्परा में ध्यान के चार प्रकार हैं- आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल । जिनमें से आर्त और रौद्रध्यान व्यक्ति के स्वभाव में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। इसके लिए व्यक्ति को किसी प्रकार के विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं होती है। धर्मध्यान के लिए व्यक्ति में सर्वप्रथम ज्ञान आवश्यक है, साथ ही वीतरागता भी होनी चाहिए। इसी प्रकार शुक्लध्यान, जिसमें साधक मन को शान्त एवं निष्प्रकम्प करता है, जैसे-जैसे साधक धर्म और शुक्लरूपी प्रशस्त ध्यान की ओर अग्रसर होता है उसका आध्यात्मिक विकास होता जाता है और जैसे-जैसे उसका आध्यात्मिक विकास होता है वैसे-वैसे वह प्रशस्त ध्यानों की ओर अग्रसर होता जाता है। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी रूपावचर तथा अरूपावचर दो प्रकार के ध्यान माने गये हैं। पुनः उन्हें चार-चार भागों में विभक्त किया गया है जिसका वर्णन पूर्व के अध्याय में किया गया है।

आत्मविकास की क्रमिक अवस्था में अज्ञान अथवा मिथ्यात्व ही बाधक तत्त्व है और इसी के कारण आत्मा कर्मों में जकड़ी रहती है। ज्यों-ज्यों कर्मों का व्युच्छेद होता है त्यों-त्यों आत्मा अपने गुणों से अवगत होती जाती है और उसे सत्य एवं असत्य वस्तु की पहचान होती जाती है। फलतः जीव चार घातिया कर्मों को नष्ट कर सर्वज्ञता को प्राप्त करता है और सर्वज्ञ अथवा अरिहंत अवस्था के बाद आत्मा सिद्धावस्था को प्राप्त होती है। जब जीव के शेष चार अघातिया कर्मों का भी नाश हो जाता है और जीव या आत्मा लोक के अग्रभाग में पहुँच जाती है जहाँ उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है। जैन परम्परा के अनुसार यही मोक्ष है। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी तृष्णा के क्षय से जन्म-मरण की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है, वेदनायें शान्त हो जाती हैं। मनुष्य सदा के लिए शान्त हो जाता है।

वर्तमान जीवन में भी योग और ध्यान की प्रासंगिकता उतनी ही है जितनी प्राचीनकाल में थी। बल्कि यह कहा जाए कि वर्तमान में प्राचीन काल से कहीं अधिक है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। आज के व्यस्त जीवन में मन विचारों, कल्पनाओं, स्मृतियों, वृत्तियों, कामनाओं और विकार-वासनाओं आदि में सक्रिय रूप से संश्लिष्ट रहता है। जिनकी निवृत्ति के लिए मन का निरोध आवश्यक प्रतीत होता है। आज भौतिक सुखों से उत्पन्न मानसिक अशान्ति के निराकरण के लिए भारतीय तो क्या पाश्चात्य जैसे विकसित कहे जानेवाले देश भी भारतीय संतों एवं महात्माओं की योग एवं ध्यान की शिक्षा के लिए लालायित हैं। ऐसे में मन का विरोध करना उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि विरोध करने से मन कुंठित होकर नाना प्रकार की आधि-व्याधियों को जन्म देता है, जिससे एक नई समस्या उत्पन्न होती है। अतः योग से मन का निरोध करना चाहिए। योग से चित्त एकाग्र होता है। चित्त की एकाग्रता का प्रबलतम एवं सर्वोत्तम साधन है- ध्यान। ध्यान के माध्यम से मन की चंचलता, अस्थिरता, अशान्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा व्यग्रता का नाश होता है और आनन्द सुख के स्रोत जो अन्तर्मन में बन्द रहते हैं, खुल जाते हैं। यदि यह कहा जाए कि भटकते हुए मानव को यदि कोई त्राण दे सकता है तो वह है सद्ध्यान, तो कोई अनुचित नहीं होगा। आज भारतीय योग और ध्यान की साधना-पद्धतियों को विद्वत्जन अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत कर रहे हैं। साथ ही पश्चिम के लोगों का ध्यान के प्रति बढ़ते आकर्षण को देखते हुए ध्यान को पश्चिमी लोगों की रुचि के अनुकूल बनाकर विदेशों में स्थानान्तरित कर रहें हैं। योग और ध्यान की साधना में शारीरिक विकृतियों और मानसिक तनावों से संत्रस्त पश्चिमी देशों के लोग चैतसिक शान्ति का अनुभव कर रहे हैं और यही कारण है कि उनका योग और ध्यान के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या जैन एवं बौद्ध योग साधना-पद्धति आज के युग में पीड़ित मानव जाति को उससे त्राण दिलाने में सक्षम है? प्रति उत्तरस्वरूप यही कहा जा सकता है कि जैन एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में जो परम्परागत योग-साधना या ध्यान पद्धतियाँ चली आ रही थीं उनमें आधुनिक युग में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। तात्पर्य यह है कि प्राचीन साधना-पद्धति जो मात्र साधकों तक ही सीमित थी उसे आज आम जनता के समक्ष सरलतम रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। भगवान् बुद्ध की ध्यान-साधना की विपश्यना पद्धति जो प्रायः भारत से लुप्त सी हो गयी थी, को श्री सत्यनारायण जी गोयनका ने बर्मा से लाकर पुनर्जीवित करने का प्रयास किया । जिससे आज भी भारत में विपश्यना ध्यान-पद्धति जनमानस तक पहुँच पा रही है। इसी आधार पर जैन ध्यान-साधना की पद्धति क्या रही होगी, इसको जानने का प्रयास किया गया । सम्पूर्ण जैन समाज ही नहीं बल्कि पूरे विश्व का यह सद्भाग्य है कि जैन तेरापंथ आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जैसे प्राज्ञ साधक विपश्यना ध्यान से जुड़े और उसे आधुनिक मनोविज्ञान तथा शरीर-विज्ञान के आधार पर परखा। उन्हें जैन साधना-पद्धति से आपूरित करते हुए प्रेक्षाध्यान की जैन परम्परा को पुनर्जीवित किया। आज प्रेक्षाध्यान की वैज्ञानिकता और उपयोगिता पर कोई भी प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता है। विपश्यना ध्यान-पद्धति, प्राचीन हठयोग की षटचक्र भेदन आदि की अवधारणा, आधुनिक मनोविज्ञान तथा शरीर-विज्ञान को समन्वित करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ जी ने जो प्रेक्षाध्यान की वैज्ञानिक पद्धति दी है उनकी प्रतिभा एवं विद्वता का द्योतक है। आज के इस भौतिकवादी युग में "प्रेक्षाध्यान" तथा "विपश्यना" सम्यक् जीवन यापन के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। इसके लिए समस्त मानव जाति आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी तथा श्री सत्यनारायण जी गोयनका की ऋणी रहेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अंगुत्तरनिकाय	भदन्त आनन्द कौसल्यायन, महाबोधिसभा, सारनाथ, वाराणसी।
अंगुत्तरनिकाय-खण्ड ४	(अनु०) भदन्त आनन्द कौसल्यायन, महाबोधि सभा, कलकत्ता
अध्यात्मतत्त्वालोक	न्यायविजय, हेमचन्द्राचार्य जैन सभा, पाटन, १९४३
अभिधम्मत्थसंगहो-भाग१, २	आचार्य अनिरूद्ध, (अनु०) भदन्त आनन्द कौशल्यायन, बुद्ध विहार, लखनऊ, १९६०.
अभिधम्मत्थसंगहो	अनिरूद्धाचार्य (अनु०) भदन्त खेतधम्म, सम्पा० रामशंकर त्रिपाठी, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
अभिधर्मकोशभाष्य	आचार्य वसुबन्धु (टीका) पं० राहुल सांकृत्यायन, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, १९८८
अभिधानराजेन्द्र कोश,भाग-६	श्री विजयराजेन्द्रसूरि, रतलाम
अमूर्त चिन्तन	युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, १९८८
आचारांगनिर्युक्ति	भद्रबाहु, रतलाम, सं० १९४१
आचारांगसूत्र	आगमोदय समिति, सूरत,
आचारांगसूत्र	आचार्य आत्मराम जी, जैन आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९६३
आचारांगसूत्र	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०
आत्मसिद्धिशास्त्र	श्रीमद् राजचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस से मुद्रित, १९६४
आत्मानुशासन	गुणभद्र, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, वि. सं. १९८६
आदिपुराण (महापुराण) भाग १ व २	जिनसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५१.
आनापानसती	मुनि दुलहराज, आदर्श साहित्य संघ, चूरू, १९८३
आवश्यकनिर्युक्ति	आचार्य हरिभद्र, आगमोदय समिति, बम्बई, १९१६
आवश्यकसूत्र (टीका मलयगिरि) खण्ड-२	आगमोदय समिति, वीर निर्वाण सं०-२४५४
उत्तराध्ययन	सम्पा० आचार्य तुलसी, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज०)
उत्तराध्ययन	सम्पा० साध्वी चन्दना, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

औपपातिकसूत्र (टीका)	घासीलाल जी, अखिल भारतीय श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, अहमदाबाद, १९५९
कर्मग्रन्थ भाग १-५,	देवेन्द्रसूरि, आत्मानंद जैन मण्डल, आगरा, १९२२
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामी कार्तिकेय, टीका शुभचन्द्र, सम्पा० ए. एन. उपाध्ये,रायचन्द्र जैन, शास्त्रमाला, बरेली।
खुद्दकनिकाय	भिक्षु जगदीश काश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार गवर्नमेंट, १९५९.
गोम्मटसार (जीवकाण्ड)	श्रीमद् नेमिचंद्र, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४
चारित्रसार	चामुण्डराय विरचित, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० - २४४३
चित्त और मन	युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, १९९०
चीनी बौद्ध धर्म का इतिहास	डॉ० चाउ सिआंग कुआंग, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद
जैन धर्म के प्राण	पं० सुखलाल संघवी, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, १९६५
जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग	डॉ० सागरमल जैन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, १९८२
जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन,भाग१,२	डॉ० सागरमल जैन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, १९८२
जैन योग	युवाचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ, चूरू, १९८८
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-४	डॉ० मोहनलाल मेहता एवं ही० ला० कपाड़िया, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६८
जैन सिद्धान्त दीपिका	आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान) प्रथम संस्करण
तत्त्वार्थराजवार्तिक	अकलंकदेव, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, १९४४
तत्त्वार्थसार	वीर राघवाचार्य, १९७७
तत्त्वार्थसूत्र	उमास्वाति, विवे०पं० सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्रम् हरिभद्र, श्रेष्ठी ऋषभदेव जी, केसरीमल जी, जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९३६
तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, भाग-२ सिद्धसेन गणि, जीवनचंद साकरचंद झवेरी, सूरत, १९३०
तत्त्वानुशासन श्री रामसेनाचार्य, संपा० जुगलकिशोर मुख्तार, प्रका० वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, २१, दरियागंज, दिल्ली, १९६३
द्रव्यसंग्रह नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, देहली, १९५६
दशभूमिकसूत्रम् सम्पा०–डॉ० पी० एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६७
दशवैकालिक श्री शयंभवसूरि, अगरचंद भैरोदान सेठिया, जैन संस्था, बीकानेर, वी०नि०सं० २४७२
दशवैकालिक (हि०अनु०) स्था० जैन कान्फ्रेंस, बम्बई ।
दीघनिकाय पं० राहुल सांकृत्यायन, भिक्षु जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी
दीघनिकाय (अनु०) पं० राहुल सांकृत्यायन, भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद, बुद्ध विहार, लखनऊ, १९७१
दीघनिकाय नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, १९५८
धम्मपद (अनु०) पं० राहुल सांकृत्यायन, बुद्ध बिहार, लखनऊ
धम्मपद धर्मरक्षित, मास्टर खेलाड़ी लाल एण्ड सन्स, बनारस, १९५३,
धम्मसंगणि (पालि) नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, १९६०
धर्मामृत (अनगार एवं सागार) पं० आशाधर, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१७
ध्यान विचार सम्पादक-पं०गिरीश कुमार परमानन्द साह, हिन्दी अनु० श्री जिनश्री जी म० सा०, प्रकाशक-जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई, संस्करण-प्रथम मई, १९८६
ध्यानशतक जिनभद्र क्षमाश्रमण विरचित, (अनु०) मुनि दुलहराज, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चूरू (राज), १९७२
ध्यान-सम्प्रदाय डा० भरत सिंह उपाध्याय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	दिल्ली
नमस्कार स्वाध्याय (संस्कृत)	जैन साहित्य विकास मंडल, बम्बई, १९६२
नियमसार	कुन्दकुन्दाचार्य, सेन्ट्रल जैन पब्लिकेशन हाउस, लखनऊ १९३१
निशीथचूर्णि	जिनदासगणि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
निशीथभाष्य	आचार्य जिनदासमहत्तर, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
पटिसम्मिदामग्ग (पालि)	नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, १९६०
पुग्गलपन्नति पालि	पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार गवर्नमेंट, १९६०
पुरुषार्थसिद्धियुपाय	अमृतचंद्र, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, वि० सं०-२४३१
परमात्मप्रकाश	योगीन्दु देव, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९२७
प्रवचनसार	कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, १९३५
प्रज्ञा के प्रकाश में सम्यक् दृष्टि	विज्ञान भिक्षु, विपश्यना ध्यान केन्द्र, मलदहिया, वाराणसी, १९८७
पातन्जल योगदर्शनम्	श्री हरिकृष्ण दास गोयन्दका, गीता प्रेस, गोरखपुर
पालि साहित्य का इतिहास	डॉ० भरत सिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
पाश्चात्य दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त	डॉ० विजय कुमार, रामकृष्ण पुस्तकालय, विवेकानन्द रोड, वाराणसी , १९९३
प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा	आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य संघ, चूरू, १९८८
प्रेक्षाध्यान: आधार और स्वरूप	युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, १९८८
बुद्धचर्या	पं० राहुल सांकृत्यायन, शिवप्रसाद गुप्त, सेवा उपवन, काशी, १९८८
बोधिचर्यावतार	शान्तिदेव, बुद्ध विहार, लखनऊ, १९५५
बोधिचर्यावतार	(अनु०) प्रो० रामशंकर त्रिपाठी, केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान, लेह, लद्दाख, १९८१
बोधिचर्यावतार	सम्पा०-डॉ० परमानन्द सिंह, बौद्ध आकर ग्रंथमाला म०गा० काशी विद्यापीठ, वाराणसी, १९९३
बौद्धचर्या पद्धति	महन्त बोधानन्द महास्थविर, बुद्धविहार, लखनऊ
बौद्ध-दर्शन तथा अन्य	भरत सिंह उपाध्याय, प्रका०-बंगाल हिन्दी मण्डल,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दर्शन-१, २	कलकत्ता
बौद्ध-दर्शन-मीमांसा	आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-१९८७
बौद्धधर्म-दर्शन	आचार्य नरेन्द्रदेव, मोतीलाल बनारसी दास, बंगला रोड, दिल्ली, १९९४
बौद्ध संस्कृति का इतिहास	डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर, आलोक प्रकाशन, गांधी चौक, सदर, नागपुर, १९७२
बौद्ध साधना का विकास	वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७१
बौद्ध साधना-विधि	धर्माचार्य भदन्त रेवतधर्म, प्रकाशक मंत्री, बौद्ध स्वाध्याय सत्र, मलदहिया, वाराणसी, १९६५
भगवद्गीता	सुरेश चन्द्र मुखोपाध्याय, कन्ट्रोलर ऑफ चेरिटी, आवागढ़, १९२३
भगवद्गीता	राधाकृष्णन, अनु० विराज, एम. ए. राजपाल एण्ड सन्स, देहली, १९६३
भगवती आराधना	सेठ लालचन्द्र हीराचन्द्र, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, महाराष्ट्र
भगवती आराधना	विजयोदया टीका, सनखाराम नेमिचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९३५
भगवतीसूत्र	घासीलाल जी महाराज, अ० भा० श्वे० संस्थान जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६१
भेद मे छिपा अभेद	युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, १९९१
भारतीय दर्शन की समस्याएं	डॉ० बी०एन० सिन्हा, रामकृष्ण पुस्तकालय, विवेकानन्द रोड, कमच्छा, वाराणसी, १९९४
मज्झिमनिकाय(सम्मदिट्ठिसुत्त) खण्ड १-३	नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला, नालन्दा, बिहार, १९५८
मज्झिमनिकाय	(अनु०) पं० राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९३३
मनोनुशासनम्	आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य संघ, चूरु (राज०)
महापुराण, भाग १-२	महाकवि पुष्पदन्त, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९७९
महावंश	भदन्त आनन्द कौशल्यायन हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावग्गो	नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रंथमाला, नालन्दा, बिहार, १९५६
मूलाचार	वट्टकेर , माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई, वी०नि०सं० २४४१
मूलाराधना	शिवाचार्य, जैन पब्लिकेशन, करंजा, १९३५
मिलिन्दपञ्ह	बौद्ध भारती, वाराणसी, १९७१
मिलिन्दपञ्ह	आर. डी. वेडेकर, यूनिवर्सिटी ऑफ बाम्बे, बम्बई, १९४०
योगदर्शन (व्यासभाष्य)	ब्रह्मलीन मुनि, सूरत, १९५८
योगदृष्टिसमुच्चय	हरिभद्र, विजय कमल केशर ग्रन्थमाला, खम्भात, वि. सं०- १९९२
योग प्रदीप	अज्ञात, जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई, १९६०
योग प्रदीप	मंगल विजय, हेमचन्द सावचन्द शाह, कलकत्ता, वी० नि० सं०२४६६
योगबिन्दु	हरिभद्र, जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर, १९११
योगबिन्दु	हरिभद्र, जैनधर्म प्रचारक सभा, अहमदाबाद, १९३०
योगबिन्दु के परिप्रेक्ष्य में योग साधना का समीक्षात्मक अध्ययन	जैन डॉ. सुव्रत मुनि शास्त्री, श्री आत्मज्ञानपीठ, मानसा मण्डी, भटिण्डा (पंजाब), १९९१
योगशास्त्र-एक परिशीलन	उपा० अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६३
योगशास्त्र	(हेमचन्द्र) ऋषभचन्द जौहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली, १९६३
योगशास्त्र	(हेमचन्द्र) अनु०-केशरविजय जी, विजय केशर ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० - २४५०
योगसार	योगीन्दुदेव, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९३७
रत्नकरण्डकश्रावकाचार	समन्तभद्र, माणिकचन्द दि०जैन ग्रंथमाला, बम्बई, वि० सं० - १९२६
ललितविस्तर	डॉ० पी०एल०वैद्य, मिथिला विद्यापीठ दरभंगा, १९५८
ललितविस्तर	शान्तिभिक्षु शास्त्री, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ
विनयपिटक	अनु० पं० राहुल सांकृत्यायन, महाबोधिसभा, सारनाथ, १९३५
विभंगपालि	भिक्षु जगदीश काश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	गवर्नमेंट, १९६०
विशेषावश्यकभाष्य	जिनभद्र, यशोविजय जैन ग्रंथमाला, वी०नि०सं०-२४३९
विशेषावश्यकभाष्य	जिनभद्र (टीका हेमचन्द्र), हर्षचन्द्र, भूराभाई, बनारस, १९५६
विशेषावश्यकभाष्य (प्रथम)	डॉ. नथमल टाटिया, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली (बिहार), १९७२
विशुद्धिमार्ग (भाग १-२)	अनु० धर्मरक्षित, महाबोधिसभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५६, १९५७
विसुद्धिमग्गो- खण्ड-१,३	वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६९, १९७२
विसुद्धिमग्ग (परम) खण्ड १,२,३	आचार्य बुद्धघोष, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९७७
समन्तपासादिकानाम, भाग १,२,३	नवनालन्दा-महाविहार-ग्रंथमाला, नालन्दा, बिहार, १९६५
समयसार	कुन्दकुन्दाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५०
समयसार (टीका)	अमृतचन्द्र, अहिंसा प्रकाशन मन्दिर, दरियागंज, देहली, १९५९
समवायांग	सम्पा० मुनि कन्हैयालाल, आगम अनुयोग प्रकाशन दिल्ली, १९६६
संयुक्तनिकाय	जगदीश काश्यप, महाबोधिसभा, सारनाथ, १९५४
सर्वार्थसिद्धि	सम्पा० पं० फूलचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५५
संस्कृति के दो प्रवाह	युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, संस्करण, १९९१
समाधितंत्र	पूज्यपाद,सम्पा०-जुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवा मंदिर ट्रस्ट, सरसावा, १९३९
समाधिराजसूत्रम्	वैद्योपाह, श्री परशुराम शर्मा, मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन, २०१७
सुत्तनिपात	अनु० भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५१
सुमंगलविलासिनी, खण्ड१-३	नवनालन्दा-महाविहार-ग्रंथमाला, नालन्दा, बिहार, १९७४, १९७५, १९७६,
सुमंगलविलासिनी	सम्पा० महेश तिवारी, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा
हरिभद्रसूरि ग्रन्थ संग्रह	श्री राजनगर (अहमदाबाद), १९३९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिवंशपुराण	जिनसेनाचार्य, सम्पा०-पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२
हेमचन्द्र धातुमाला	गुणविजय, जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, द्वितीयावृत्ति, अहमदाबाद, १९३०
हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी	एस. एन. दास गुप्त, कैम्ब्रीज एट द यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६९
हिन्दी विश्वकोश भाग-९	नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, १९६७
ज्ञानसार	पद्मसिंह, टीका- त्रिलोकचन्द, मू. कि. कापड़िया, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, वि० सं० २४७०
ज्ञानार्णव	शुभचन्द्र विरचित, अनु०-पं० बालचन्द्रजी शास्त्री, प्रका० जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, संस्करण प्रथम, १९७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेखिका परिचय

डॉ० सुधा जैन

जन्म : ०५.०८.१९६९, दूसरी पट्टी, आचार्य तुलसी जन्म स्थान, लाडनूं, (राजस्थान)

शिक्षा : एम०एस-सी० (जीवन विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान)
पी-एच०डी०, (जीवन विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान)
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं, (राजस्थान)

पद : प्रवक्ता
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

लेखन/सम्पादन :
जैन विद्या के विविध आयाम, भाग-६
जैन विद्या के विविध आयाम, भाग-७

प्रकाशित शोध निबन्ध : २५

सेमिनार/संगोष्ठी : ८ पत्र प्रस्तुत

सम्प्रति प्रो० सागरमल जैन के सान्निध्य में '२०वीं शताब्दी का हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास' विषय पर लेखन कार्य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Our Important Publications

1.	Studies in Jaina Philosophy	Dr. Nathamal Tatia	100.00
2.	Jaina Temples of Western India	Dr. Harihar Singh	200.00
3.	Jaina Epistemology	Dr. I.C. Shastri	150.00
4.	Concept of Pañcaśīla in Indian Thought	Dr. Kamla Jain	50.00
5.	Concept of Matter in Jaina Philosophy	Dr. J.C. Sikdar	150.00
6.	Jaina Theory of Reality	Dr. J.C. Sikdar	150.00
7.	Jaina Perspective in Philosophy & Religion	Dr. Ramji Singh	100.00
8.	Aspects of Jainology (Complete Set : Vols. 1 to 7)		2200.00
9.	An Introduction to Jaina Sādhanā	Prof. Sagarmal Jain	40.00
10.	Pearls of Jiana Wisdom	Dulichand Jain	120.00
11.	Scientific Contents in Prakrit Canons	Dr. N.L. Jain	300.00
12.	The Heritage of the Last Arhat : Mahāvīra	Dr. C. Krause	20.00
13.	The Path of Arhat	T.U. Mehta	100.00
14.	Multi-Dimensional Application of Anekāntavāda	Ed. Prof. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey	500.00
15.	The World of Non-living	Dr. N.L. Jain	400.00
16.	अष्टकप्रकरण	अनु.–डॉ.अशोक कुमार सिंह	200.00
17.	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सम्पूर्ण सेट सात खण्ड)		630.00
18.	हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (सम्पूर्ण सेट चार खण्ड)		760.00
19.	जैन प्रतिमा विज्ञान	डॉ. मारुतिनन्दन तिवारी	150.00
20.	महावीर और उनके दशधर्म	प्रो. भागचन्द्र जैन	80.00
21.	वज्जालग्ग (हिन्दी अनुवाद सहित)	पं. विश्वनाथ पाठक	80.00
22.	प्राकृत हिन्दी कोश	सम्पा.–डॉ. के.आर. चन्द्र	400.00
23.	जैन धर्म और तान्त्रिक साधना	प्रो. सागरमल जैन	350.00
24.	गाथा सप्तशती (हिन्दी अनुवाद सहित)	पं. विश्वनाथ पाठक	60.00
25.	सागर जैन-विद्या भारती (तीन खण्ड)	प्रो. सागरमल जैन	300.00
26.	गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण	प्रो. सागरमल जैन	60.00
27.	भारतीय जीवन मूल्य	प्रो. सुरेन्द्र वर्मा	75.00
28.	नलविलासनाटकम्	सम्पा.– डॉ. सुरेशचन्द्र पाण्डे	60.00
29.	अनेकान्तवाद और पाश्चात्य व्यावहारिकतावाद	डॉ. राजेन्द्र कुमार सिंह	150.00
30.	दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन	डॉ. अशोक कुमार सिंह	125.00
31.	पञ्चाशक-प्रकरणम् (हिन्दी अनुवाद सहित)	अनु.– डॉ. दीनानाथ शर्मा	250.00
32.	सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय	100.00
33.	जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ	हीराबाई बोरदिया	50.00
34.	मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म	डॉ. (श्रीमती) राजेश जैन	160.00
35.	भारत की जैन गुफाएँ	डॉ. हरिहर सिंह	150.00
36.	महावीर की निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श	भगवतीप्रसाद खेतान	65.00
37.	मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन	डॉ. फूलचन्द जैन	80.00
38.	जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन	डॉ. शिवप्रसाद	100.00
39.	बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा	डॉ. धर्मचन्द्र जैन	200.00
40.	अचलगच्छ का इतिहास	डॉ. शिवप्रसाद	300.00

Pārśwanātha Vidyāpiṭha, Varanasi-221005 INDIA

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org